॥ ॐ ॥

श्रीसमन्तभद्राचार्यविरचित—

बृहत् स्वयंभूस्तोत्रटीका

(अन्वयार्थ, भावार्थ व भाषाछंद सहित)

टीकाकार-

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी,

[समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, समयसार कलश, पंचास्तिकाय, समाधिशतक, तत्त्वभावना आदिके टीकाकार व प्रतिष्ठासारसंग्रह, गृहस्थ धर्म, आत्मधर्म, जैनधर्मप्रकाश, सुलोचना चरित्र, प्राचीन जैनस्मारक, निश्चयधर्मका मनन, अनुभवानन्द, आध्यात्मिक सोपान आदि २ के सम्पादक]

प्रकाशक-

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगम्बरजैनपुस्तकालय, कापड़ियाभवन-सूरत।

"जैनमित्र" के ३२ वें वर्षके ग्राहकोंको-

मेरठनिवासी-

स्वर्गीय बा० ऋषभदासजी जैन वकीलके

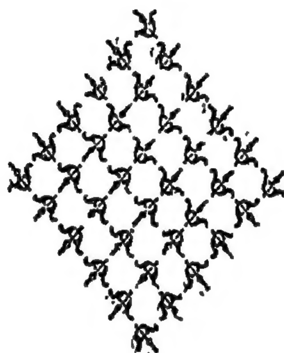
स्मरणार्थ भेंट।

प्रथमावृत्ति] कार्तिक, वीर सं० २४५८ [११००+२००

मूल्य-रु० १-१२-०.

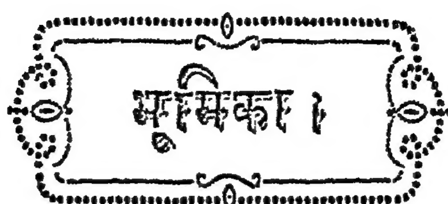


मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रेस, खपाटिया चकला,
तासवालाकी पोल-सूरत।



प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
ऑ. संपादक जैनमित्र व मालिक दि० जैन
पुस्तकालय, कापड़ियाभवन-सूरत।





भूमिका।

श्री समन्तभद्र आचार्य दूसरी शताब्दीके बड़े दिग्गज नैयायिक व जैन सिद्धांतके मर्मी होगए हैं। उन्होंने बहुतसे ग्रन्थ रचे हैं, परन्तु वर्तमानमें उनके रचित यह स्वयंभु स्तोत्र, देवागम स्तोत्र या आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिनशतक, रत्नकरण्डश्रावकाचार, ग्रन्थ ही मिलते हैं। 13

यह मुनि कांची निवासी थे, भस्म व्याधि रोग होनेसे चारित्रभ्रष्ट होकर अन्य देशमें भ्रमण करते२ काशी आए। वहां महादेवके राजमंदिरमें भोग बहुत चढ़ता था—युक्तिबलसे महादेवजीको खिला देंगे, यह समझाकर स्वामी समंतभद्र स्वयं कपाटके भीतर बंद होकर नैवेद्य खाजाते थे। जब रोग शांत हुआ तब नैवेद्य बचने लगा जिससे ब्राह्मणोंको शंका हुई तब राजाने कहा कि आपको महादेवजीको नमस्कार करना पड़ेगा। तब स्वामीने कुछ दिनका समय मांग लिया। इसी मध्यमें स्वयंभूस्तोत्र रचा, जिसमें बड़ी भक्तिसे २४ तीर्थंकरकी स्तुति की तब एक यक्षिणी सामने आई। उसने कहा कि जब आप नमस्कार करेंगे तब श्री चन्द्रप्रभु तीर्थंकरकी प्रतिमा प्रगट होजायगी। नियत समयपर जब सब राजा आदि जमा थे, तब स्वामीने यही स्तोत्र पढ़ा। चंद्रप्रभुकी स्तुतिमें पहला श्लोक पढ़नेके साथ ही जब 'वन्देऽभिवंद्यं' कहा तब ही महादेवकी पिंडीके स्थानमें चंद्रप्रभुकी प्रतिमा प्रगट होगई। स्वामीने नमस्कार

किया तब सबको मालूम हुआ कि यह जैन साधु हैं। फिर काशीके विद्वानोंसे वाद हुआ। उसमें स्वामीने विजय पाई। तब राजा शिवकोटि व अन्य अनेक जैनी हुए। शिवकोटि तो मुनि होगए जिन्होंने भगवती आराधना ग्रन्थ रचा है। स्वामीने फिर मुनिका चारित्र धारकर जैनधर्मकी बहुत प्रभावना की।

यह स्वयंभूस्तोत्र ज्ञानका भण्डार है, ऐसा जानकर इसकी अन्वय सहित हिन्दी वचनिका स्वतंत्रतासे संस्कृत श्लोकोंको मनन करके की है। श्री प्रभाचंद्र कृत संस्कृत टीका व पं० जिनदास पार्श्वनाथ शोलापुर कृत मराठी टीकाकी भी यत्रतत्र सहायता ली है। इस ग्रन्थमें न्याय शास्त्रके प्रकरण बहुत हैं, न्याय शास्त्रका विशेष ज्ञान न होनेसे उनका स्पष्टीकरण अपनी समझके अनुसार किया है, परन्तु संभव है कहीं त्रुटि होगई हो तो विद्वानजन मूल श्लोकको विचार लें व मुझे क्षमा करें। मैंने परिणामोंकी निर्मलताके लिये व इस हेतु कि हिन्दी ज्ञाता पाठकोंको इस अनुपम स्तोत्रका कुछ आनन्द आजावे यह प्रयास किया है। इसमें मात्र जिनधर्मकी भक्ति ही प्रेरक हुई है।

इस ग्रन्थमें हरएक तीर्थंकरकी स्तुतिमें भिन्न२ छंदोंमें भाषा छन्द भी मैंने रच दिये हैं जिनको यदि कण्ठ करके भावावाले स्तुति पढ़ेंगे तो उनको महान् आनन्द आयगा। और जहां कहीं त्रुटि हो विद्वज्जन कृपाकरके सूचित करेंगे तो दूसरी आवृत्तिमें सुधार होजायगा।

अमरोहा
वीर सं० २४५६
आश्विन वदी ११

विद्वानोंका दास—
ब्र० सीतल।



स्वर्गीय बाबू ऋषभदासजी जैन बी० ए०, वकील-मेरठ।

जन्म-
ई० सन् १८७०.



स्वर्गवास-
ता० २४ मई १९१०

Vijaya P. Surat.

जीवनचरित्र—

स्व० बाबू रिषभदास बी० ए०; वकील-मेरठ।

स्व० श्रीमान् बाबू ऋषभदासजी जैन बी० ए०, वकील मेरठ, जैन समाजके एक चुने हुये नर-रत्न थे। आप अग्रवाल जातिके भूषण थे। आपका जन्म सन् १८७० में हुआ था। आपके पूज्य पिताजीका नाम श्रीमान् ला० सूरजमलजी था, जो कि बड़े ही सम्पत्तिशाली और भागी पुरुष थे। बाबू ऋषभदास-जीने सन् १८९६ में B. A. और सन् १८९९ में वकालातकी परीक्षायें पास कीं। आपको जैन शास्त्रोंकी स्वाध्यायसे अधिक प्रेम था, जिससे आपका सैद्धांतिक ज्ञान बहुत कुछ बढ़ गया था।

आपने विद्यार्थी जीवन (सन् १८९७)में इंग्लिश भाषाके प्रसिद्ध पत्र "एशियाटिक रिव्यू" में जैनधर्म सम्बंधी ऐसे प्रभावशाली लेख प्रकाशित कराये कि जिनको पढ़कर कितने ही अमेरिकन विद्वानोंको जैनधर्मके जाननेकी प्रबल उत्कंठा होगई और उन्होंने आपसे पत्रव्यवहार करके बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया।

आपने कितनी ही धार्मिक और सामाजिक पुस्तकें हिंदी, उर्दू और अंग्रेजीमें लिखी हैं और कुछ जैन शास्त्रोंका अंग्रेजीमें अनुवाद भी किया है जिनमें "परमात्मा प्रकाश" और "श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" प्रसिद्ध हैं। आपने जैन दर्शनको विदेशीय विद्वानोंतक पहुंचाने और उनके दिलोंमें जैनधर्मका प्रेम पैदा करनेके लिये बहुत कुछ उद्योग किया है। आपकी लिखी हुई "जैनधर्म परमात्मा", अहिंसा, "जैनधर्मका महत्व", "जैन कर्मफिलासफी,

वर्णव्यवस्था", "Insight into Jainism" आदि पुस्तकें प्रकाशित होचुकी हैं। आपके लिखे हुये धार्मिक और सामाजिक लेख जैन-प्रदीप, जैनमित्र, जैनजगत, वीर आदि जैन समाचारपत्रोंमें सदैव छपते रहते थे, जिनसे जैन समाजको अच्छा लाभ पहुंचा है।

आपकी लेखनी निर्भीकता और स्वतंत्रताके साथ चलती थी। आप जो कुछ लिखते थे वे आपके हार्दिक उद्गार होते थे। जैन प्रदीपमें जो "मोक्षमार्ग प्रकाश" का उर्दू अनुवाद छपता रहा है वह आपका ही किया हुआ था। आपका भ्रातृ प्रेम, और जातिसेवायें हमारे शिक्षित नवयुवकोंके लिये आदर्शरूप है। आप मेरठ बोर्डिंग हाऊसके संस्थापकों और सहायकोंमेंसे एक थे—इसकी तन मन धनसे सेवा करते थे, इसकी प्रबन्धकारिणी समितीके मंत्री जीवन पर्यंत रहे व आप ही छात्रोंको धार्मिक शिक्षा देते थे और आपकी दी हुई शिक्षासे छात्रगण यथार्थ लाभ उठाते थे क्योंकि आप उनको प्रत्येक भाषामें भले प्रकार समझा देते थे। "श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम"के आप सहमंत्री थे और जबतक आश्रम "हस्तनापुर" रहा, तबतक आप हार्दिक प्रेमसे इसका कार्य करते रहे थे।

आप गरीब विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति और असहाय बहनोंको मासिक चन्दा देकर उनकी सहायता करते थे। जैन संस्थाओंको उदारता पूर्वक दान देते थे और कितनी ही संस्थाओंके आप सदस्य भी थे। आपकी धर्ममें अगाढ़ श्रद्धा और भक्ति थी। देवदर्शन, सामायिक, स्वाध्याय सदैव करते थे। आप शांत परिणामी, सरलस्वभावी, सदाचारी, विनयी, विचारशील और वात्सल्यांगके धारी थे। आप गुणग्राही भी थे। विद्वानों, गुणवानों,

धर्मभक्तों और समाजसेवकोंका हृदयसे सम्मान करते थे। आपका पब्लिक और प्राइवेट जीवन बिल्कुल एक बराबर था अर्थात् आप जैसे बाहर थे वैसे ही अंदर।

जिस समय आपकी आयु लगभग ४० वर्षकी थी तब आपकी 'धर्मपत्नीजी' का देवलोक होगया, और उन्होंने कोई भी संतान नहीं छोड़ी, तब यदि आप चाहते तो अपना दूसरा विवाह करा लेते, जब कि ६० वर्षके वृद्ध भी अपनी विषयवासनाओंके वश होकर अबोध बालिकाओंको विवाह संस्कारके नामपर वैधव्यकी यज्ञवेदीपर बलिदान करते देखे जा रहे हैं तब आपके विवाहमें भला रुकावट ही क्या थी। परन्तु आपने योग्यता होते हुए भी दूसरा विवाह नहीं कराया, और अपना जीवन शीलव्रत पालते हुए पवित्रताके साथ व्यतीत किया। आप जैसे नररत्न-का ता० २४ मई सन् १९३० को केवल ५९ वर्षकी आयुमें स्वर्गवास होगया।

आपके वियोगसे एक धर्मात्मा, धर्मज्ञाता, इंग्लिशसे विज्ञ विद्वानकी क्षति इस जैन समाजसे हो गई। आप इतने शांत परिणामी व विचारशील थे कि जो आपसे किसी विषयमें विरोध रूप सम्मति रखते थे उनको बड़े ही सरल शब्दोंमें विना कोई क्रोध भाव लाए हुए उत्तर देते थे। अध्यात्म प्रेम आपका अपूर्व था। आत्मा संबंधी विवेचन करनेमें आपको बड़ी रुचि थी। आपका भाषण भी तात्विक व थोड़े शब्दोंमें अधिक भावको बताने-वाला होता था। यद्यपि आप एक वकील थे तथापि आपका खान-पान व पहिनाव सादा व शुद्ध होता था।

आप बड़े मिलनसार व विनयवान थे, गुणवानोंकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। आपका दान बहुधा गुप्त होता था। हरएक जैन संस्था व धार्मिक कार्यमें आप मदद पहुंचाते रहते थे। दि० जैनसमाज मेरठके आप मुख्य सभासद थे। आपका जीवन नियमित था-समयकी कदर करते हुए आप अपना समय जैनग्रंथों व समाचार-पत्रोंके अवलोकनमें बिताते थे। आप समाजसुधारके भी बड़े प्रेमी थे व सत्यके अनुयायी थे। जैनगजटमें जो कभी बालविवाह उत्तेजक व अनैक्यवर्द्धक व व्यर्थव्यय पोषक व स्त्री हक दपनीय व उप-जाति विवाह निषेधक आदि लेख निकलते थे उनका आप बड़ी दृढ़ युक्तियोंसे पूर्ण उत्तर देते थे। जातियां अचल हैं इसके खंडनमें आपका लेख बहुत बढ़िया प्रगट हुआ है। आप जो कुछ लिखते थे वह दि० जैन शास्त्राधारसे लिखते थे। आपके एक छोटे भाई लाला मन्नूलालजी हैं उनकी संतानें विद्याभ्यास कराही हैं। लाला मन्नूलालजी भी बड़े धर्मात्मा और सरल स्वभावी व विद्यादान तथा शास्त्रदान प्रेमी हैं। आपने ही बड़े भ्राताकी स्मृतिमें बड़ी सहायता देकर यह स्वयंभूस्तोत्र ग्रन्थ "जैनमित्र"के ३२वें वर्षके ग्राहकोंको भेंट देनेकी योजना करदी है। हम आपको इस शास्त्रदानके लिये अतिशय धन्यवाद देते हैं। जैनधर्मप्रेमी—

ब्र० सीतलप्रसाद।



☞ कृपाकर कष्ट उठाकर अशुद्धि ठीक करके पढ़ें।

शुद्धयशुद्धिपत्र।

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
१	२०	पियासु	पिपासु
२२	४	हन्ती	हन्ति
"	२२	कारजका भी	कारज कामी
२६	१४	प्रगट नहीं	प्रगट
३२	५	कारण ही	कारण हो
"	१५	संभवका अर्थ	शंभवका अर्थ
३३	२१	कर्मोके नाश	कर्मोको नाश
३६	२१	इसके	इसलिये
४२	१३	खविजली सम	ख विजली सम
"	१६	हम वतावे	हम वतावे
४४	७	उसका अनित्यपना	उसका नित्यपना
४५	१२	वंधमें	वंधसे
४६	१	चर्या	चर्चा
४८	९	असर्थ	असमर्थ
५७	९	गुरु	कुरु
५९	१८	जिनपतियद	जिनपतिपद
६०	६	दोड़ना	दोड ना
६१	१२	विविकी	विवेकी
६४	२	सुख भोगनेवाला	सुख माननेवाला
"	१८	उसे स्वाधीन	जो स्वाधीन
६५	१४	तापकार	तापकर
७२	८	पुण्यं	

७३	१४	वस्तु स्वात्वरूपादि...	वस्तु स्वस्वरूपादिकी दृष्टिसे अस्तिरूप है वही पर स्वरूपादिकी दृष्टिसे नास्तिरूप है
७७	३	कल्प	फलय
८२	२१	उपसर्ग	अपेक्षासे
८७	२१	शरीर रहित	शरीर सहित
९३	९	अतिभक्तः	अति भक्तिः
१००	३	जोभुव	जोगुर
१०२	१६	दृष्टि सामग्री	इष्ट सामग्री
१०४	१८	प्रतिकूल होगी	प्रतिकूल होगा
१०९	१८	शक्नोवि...	शक्नोति यो निंषेद्धुं भानोर्दिव कर्मणामुदयः
११०	११	प्रदेशमें	उपदेशमें
११२	१०	टालता हूं	चलता हूं
१२१	१६	दयेतात्मकम्	दपेतात्मकम्
१२६	१९	वस्तुको	वस्तु तो
१२८	२१	द्रेयादि	द्रव्यादि
१३१	१७	रखते हैं	रहते हैं
१३५	१५	विनाशभाव	विनयभाव
”	२३	वह तो	वह न तो
१४५	१२	किना	कीना
१४७	४	शांतिनाथ	शीतलनाथ
१४९	८	संतोषमय	संतापमय
१५०	२३	सर्वदा	सर्वज्ञ
१५२	११	दुःखोंसे सहित	दुःखोंसे रहित

१५८	७	विधिमेव	विधिमय
१६६	१५	यिर्वाण	निर्वाण
१७५	१२	झुकाया	झुकाव
१७६	१३	परिणामनेव	परिणाममेव
१८०	१६	गुणी	हो गुणी
१८२	२१	हित तो	ही तत्त्व
१८४	१७	धर्मतया	धर्म तया
१८८	२१	नयाः	नयाः
१९०	१५	सर्व	सर्व
१९६	१४	चला जाया	चला आया
१९९	१०	संतोपित	संतापित
२०१	१५	यत्र	यत्त–
२०५	४	अमंग	असंग
२१२	५	आत्मस्वरूप	आत्मस्वरूप
२१९	२१	तीर्थंका	तीर्थङ्कर
२२४	१३	अनेक मागों	अनेक भोगों
२२६	६	चरमांगात्य	चरमांगाय
२२८	१६	मोग या	भोग पा
२३४	२२	कल्पायः	कलापः
२३५	१६	दृ	दृष्टे
२३७	११	हम लख	इम लख
२४५	७	वीतराग	वीतराग भाव
२५६	२	मोक्षकी	मोक्षकी
२६०	२०	अचार्थ्य	अचांचत्य
२६९	२२	पर्याय	पदार्थ
,,	२३	भिन्न	भिन्न
२७६	५	भर्वजिन	तव जिन
२९०	११	अपने	आपने

२९०	१३	हृदय धारीके	हृदय धारी
२९५	२१	समा गए	समा गए
२९७	१७	भविघाति	भविघाति
३०१	१७	समान	समय
३०३	७	अर्हंत	अर्हंत
३०३	२१	साधुको	साधु हो
३०८	२३	रुचिरं	रुचिरं
३११	९	अपने अनेकांत	आपने अनेकान्त मतसे एकांत
३११	१२	हे प्रभु	हे प्रभु
३११	१३	जिन	जिम
३११	१३	स्तवन	स्तवन

विषय-सूची



श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यविरचित-

स्वयंभू स्तोत्र टीका।

मंगलाचरण।

दोहा—

वंदहु श्री जिन आदिको, अंत नाम महावीर।
परमातम सर्वज्ञ प्रभु, परम शांत गंभीर ॥ १ ॥
गुरु गौतमको सुमरिके, कुंद कुंद गुरु ध्याय।
जिनवाणी वन्दन करूं, भवदधि पार कराय ॥ २ ॥
वर्तमान चौवीस जिन, सम्बन्धी थुति सार।
न्याय विराग सु आतमको, प्रगटावन दुखहार ॥ ३ ॥
समन्तभद्र आचार्यने, रची सुमंगलदाय।
प्रभाचन्द्र टीका करी, संस्कृतमें रुचि लाय ॥ ४ ॥
बालबोध भाषा करूं, स्वपर हेतु सुखकार।
तत्त्व सत्य दिपजाय ज्यों, मिथ्यापथ निरवार ॥ ५ ॥

---

(१) श्री आदिनाथ स्तुति।

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

हिन्दी टीका–अन्वयार्थ सहित–(स्वयंभुवा) जो अपने आप दूसरोंके उपदेश विना ही मोक्षके मार्गको समझकर और उसको पालन कर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य इन चार अपूर्व गुणोंके धारी परमात्मा होगए हैं (भूतहितेन) जिन्होंने सर्व प्राणियोंको हितकारी ऐसे मुक्तिके आनंदकी प्राप्तिका उपाय दिखलाया है तथा प्राप्त कराया है अर्थात् जो परम दयावान हैं (समंजसज्ञानविभूतिचक्षुषा) जिनके सर्व पदार्थोंके तत्वको यथार्थ जाननेवाली परम अतिशय रूप केवलज्ञानमई दृष्टि प्रकाशमान है। (येन) जिसने (क्षपाकरेण इव) चंद्रमाकी तरह (गुणोत्करैः करैः) स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्तिके कारणरूप गुणोंके समूहसे भरपूर सम्यग्दर्शज्ञान चारित्रमई किरणोंसे (तमः विधुन्वता) ज्ञानावरण आदि कर्मरूप अंधकारको दूर कर दिया है अथवा जिन्होंने निराबाध व यथार्थ अर्थको प्रकाश करनेवाले दूसरोंके समझमें आने योग्य वचनरूपी किरणोंसे चंद्रमाके समान दूसरे प्राणियोंके अज्ञान रूपी अंधेरेको नाश कर दिया है, ऐसे श्री ऋषभदेव भगवान प्रथम तीर्थंकर (भूतले) इस पृथ्वीमें (विराजितं) शोभायमान हैं।

भावार्थ–जैन सिद्धांतमें गुणोंकी ही पूजा है। यहांपर इस वर्तमान अवसर्पिणीकालमें प्रसिद्ध चौवीस तीर्थंकरोंमें आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेवका स्तवन किया गया है। ऋषभदेव इक्ष्वाकु वंशके शिरोमणि श्री नाभिराजा और मरुदेवी माताके पुत्र थे। जन्मसे ही मति श्रुत अवधि इन तीन सम्यग्ज्ञानके धारी थे। जिनको आत्मज्ञान स्वयं ही झलक रहा था। उनको किसीसे उपदेश सुननेकी जरूरत नहीं थी। उनके गुरु वे आप ही थे। ऐसे परम

ज्ञानी महात्मा ऋषभदेवने स्वयं ही आत्मध्यानके बलसे अरहंत पद प्राप्त किया। वे जीवन्मुक्त परमात्मा हुए। उनको केवलज्ञान प्रगट होगया, जिससे सर्व अज्ञान मिट गया। सर्व पदार्थ एक साथ अपने अनंत गुण व पर्याय सहित झलक गए। तब वे इन्द्र द्वारा रचित समवशरणमें परम शोभाको प्रदर्शित करते हुए अर्थात् अपने ध्यान-मई परम वीतराग शरीरकी योगमुद्रासे वीतराग रससे पूर्ण आत्मा-नन्दके भोगकी छटाको दिखलाते हुए तिष्टे। तब स्वयं मोहके नाश होनेसे परोपकारकी इच्छा न रखते हुए भी भव्य जीवोंके पुण्यके उदयसे भगवानकी दिव्यवाणी रूपी किरणें प्रगट हुईं। जिन्होंने उसी तरह सुननेवालोंके संशय, अज्ञान व आलस्य भावको मेट दिया, जिस तरह चंद्रमा रात्रिके अंधेरेको अपनी किरणोंसे दूर कर देता है। क्योंकि भगवान आदिनाथने स्वयं धर्मपुरुषार्थका साधन कर मोक्ष पुरुषार्थ सिद्ध किया व अपने उपदेशसे सच्चा मोक्षमार्ग बताकर अनेक जीवोंका कल्याण किया। ऐसे स्वपर हितकारी परमात्माका स्मरण हम इसीलिये करते हैं कि हमारे भीतर भी ऐसा ही पुरुषार्थ प्रगट हो, जो हम परमात्म पदको पावें व हमारे द्वारा जगतके प्राणी भी लाभ उठा सकें। ऐसी स्तुति अपने आपको परम पदके लाभके लिये उत्सुक बनानेवाली है।

गीता छन्द।

जो हुए हैं अरहंत आदी, स्वयं बोध सम्हारके।
परम निर्मल ज्ञान चक्षु, प्रकाश भवतम हारके॥
निज पूर्ण गुणमय वचन करसे, जग अज्ञान मिटा दिया।
सो चंद्र सम भवि जीव हितकर, जगतमाहिं प्रकाशिया॥ १॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भगवान गृहस्थ अवस्थामें रहे फिर उनको संसारसे वैराग्य हुआ—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(यः) जो (प्रथमं) इस अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें होनेवाले सर्व राजाओंमें प्रथम (प्रजापतिः) प्रजाके स्वामी थे। जिन्होंने (जिजीविषूः प्रजा) जीनेकी इच्छा रखनेवाली प्रजाको (कृष्यादिषु कर्मसु) खेती सेवा आदि आजीविकाके उपायोंके करनेकी (शशास) शिक्षा दी अर्थात् प्रजाको कृषि आदि षट्कर्मोंमें जोड़ दिया। (पुनः) फिर (प्रबुद्धतत्त्वः) तत्त्वज्ञानी अर्थात् त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वको जाननेवाले व (अद्भुतोदयः) आश्चर्यकारी पुण्यको रखनेवाले जिनके गर्भ जन्मादि कल्याणक इन्द्रादिक देवोंने बड़ी भक्तिसे किये ऐसे (विदांवरः) तत्वज्ञानियोंमें या आत्मज्ञानियोंमें प्रधान श्री ऋषभदेव भगवान (ममत्वतः) संसारके मोहसे व परिग्रहके ममत्वसे (निर्विविदे) विरक्त होगए।

नोट—संस्कृत टीकाकारने यहां प्रबुद्धतत्वके दो अर्थ किये हैं एक तो यह कि वे ऋषभदेव भगवान मति श्रुत अवधि तीन ज्ञानके धारी थे व प्रजाके हित अहितको—उनके भाग्यको व उनके कर्तव्यको व किसे क्या करना चाहिये व कौन किसके योग्य है इस बातको जानते थे। दूसरा अर्थ यह किया है कि त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वके स्वरूपको जानते थे।

भावार्थ—सनातन जैन सिद्धांतके अनुसार भरतक्षेत्रके हरएक

अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालमें चौवीस तीर्थंकर महापुण्याधिकारी हुआ करते हैं। इस वर्तमान अवसर्पिणी कालके तीसरे कालके अन्तमें अर्थात् जब उसमें ८४ लाख पूर्व और तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष थे तब श्री ऋषभदेव भगवान यहां गर्भमें आए। उस समय इन्द्रादि देवोंने बड़ी भक्तिसे गर्भका उत्सव किया। फिर जन्म लेनेपर बड़े समारोहसे प्रभुको लेजाकर सुमेरु पर्वतपर क्षीर सागरके जलसे अभिषेक किया। ऐसे भगवान पूर्वजन्मके संस्कारसे जन्मसे ही महात्मा थे, आत्मज्ञानी थे व मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञानके अधिकारी थे—उनको विद्या पढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी। वे अपने व दूसरोंके अगले पिछले जन्मोंके चारित्रको भी अवधिज्ञानसे जान सक्ते थे। ऋषभदेव भगवानके समयमें वे कल्पवृक्ष जिनसे प्रजा इच्छित भोजनादि सामग्री प्राप्त कर लेती थी बिलकुल न रहे तब प्रजा किंकर्तव्य मूढ़ होगई। उस समय किस तरह पेट पालना इस चिंतासे व्यथित हो प्रजा श्री ऋषभदेवकी सेवामें आकर विनती करने लगी कि हमारी रक्षाका उपाय बतावें। तब गृहस्थ अवस्था हीमें प्रभुने अपने दिव्यज्ञानसे विचार कर आजीविका साधनके छः कर्म बताए। असि कर्म, मसि कर्म, कृषि कर्म, वाणिज्य कर्म, शिल्प कर्म, विद्या या सेवा कर्म। और उस समयकी प्रजाका निरीक्षण कर जो जिस कर्मके योग्य था उसको वह कर्म सौंप दिया और इस विचारसे कि वह कर्म उसका खानदानी पेशा होजावे जिसमें उसकी संतान शुरूसे ही प्रवीण हो निकले यह व्यवस्था की कि तीन वर्ण स्थापित कर दिये। जो असि कर्म या रक्षा कर्मके योग्य वीर थे उनको क्षत्रिय वर्णमें, जो

लिखनेके कर्म मसि, खेती व व्यापार योग्य कुछ शांत प्रकृतिके व चतुर थे उनको वैश्य वर्णमें। इनके सिवाय जो मंद बुद्धि थे उनको शिल्प व विद्या या सेवाकर्म सौंपा गया और उनको शूद्र वर्णमें रक्खा। उस समय यह नियम कर दिया कि हर कोई अपनी२ नियत आजीविका करे व जो इस नियमको उल्लंघन करेगा वह दंडका पात्र होगा। इस प्रकार प्रजाको संतोषपूर्वक व आकुलता रहित जीवन वितानेका सब मार्ग प्रभुने गृहस्थावस्थामें बताया और उसीका प्रचार किया। जबतक ८३ लाख पूर्व वर्ष नहीं हुए तब तक वे गृहस्थ ही में रहे। यद्यपि वे जन्मसे सम्यग्दृष्टी थे, अत्मज्ञानी थे, वैरागी थे, संसार शरीर भोगोंसे उदास थे, आत्मानन्दको ही सच्चा सुख समझते थे, विषय सुखको विषवत् जानते थे तथापि कषायके उदयको इतना नहीं जीत सके थे जो एकदमसे वैरागी होजावें व त्यागी होजावें। देशविरत गुणस्थानके योग्य कषाय मौजूद थी इसीसे वे विवाह करके रहे। भरत बाहु-बलि आदि पुत्रोंको व ब्राह्मी सुन्दरी पुत्रियोंको जन्म दिया। उन सबको विद्या पढ़ाई व योग्य बनाया। मुनिव्रत धारण योग्य भावको रोकनेवाले प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे वे गृहमें जलमें कम-लवत् रहे परन्तु त्याग न कर सके। स्वात्मानुभवके प्रतापसे व आत्माकी उत्कृष्ट भावनाके बलसे प्रभुको जब वैराग्य होगया तब वे गृहसे व राज्यपाट आदिसे वैराग्यवान होकर त्यागनेका भाव करते हुए। इस श्लोकमें इतना विवेचन इसीलिये स्वामी समंत-भद्रने किया है कि जबतक बाहरी व्रत नियम प्रतिज्ञा धारणके योग्य भीतरसे कषाय न घटे—इच्छा न टले वहांतक बाहरी नियमें

प्रतिज्ञा या त्याग करना उचित नहीं है। कहा है-"ज्यों ज्यों तन घटे कषाया, त्यों त्यों जिन त्याग बताया।" धर्मका पालन गृहस्थमें रहते हुए भी हो सक्ता है। यह बात श्री ऋषभदेवके जीवनचरित्रसे झलकती है। परन्तु पूर्ण मोक्षमार्ग साधु पदमें ही सध सक्ता है इसलिये उनको साधु पद भी धारना पड़ा था व तपस्या भी करनी पड़ी थी। गृहस्थमें रहकर एक क्षत्री किस प्रकार नीतिसे राज्य करता है, प्रजाको संतोषित रखता है यह बात श्री ऋषभदेवके गृही जीवनसे शिक्षा रूप मिलती है। प्रभु इतने उदासीन थे व विचारशील थे कि उन्होंने जबतक केवलज्ञान प्राप्त किया तबतक न गृही अवस्थामें न त्याग अवस्थामें दूसरोंको धर्मका उपदेश किया न वे बाहरी धर्म क्रियाका साधन करते थे। मात्र अंतरंग आत्मानंदके विचारमें मगन रहते थे। सिद्ध स्वरूपका ही नित्य ध्यान किया करते थे। सिद्धके समान अपने आत्माको विचार करते रहते थे।

गीता छन्द

सो प्रजापति हो प्रथम जिसने, प्रजाको उपदेशिया।
असि कृषी आदी कर्मसे, जीवन उपाय बता दिया॥
फिर तत्वज्ञानी परम विद, अद्भुत उदय धर्तारने।
संसार भोग ममत्व टाला, साधु संयम धारने॥ २॥

उत्थानिका-भगवानको वैराग्य होनेके बाद उन्होंने क्या किया-

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः॥३॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यः) जो ऋषभदेव वैराग्यवान्

हुए थे ये (मुमुक्षुः) संसारसे पार होना चाहते थे, (इक्ष्वाकुकुलआदिः) इक्ष्वाकु वंशमें आदि राजा थे (आत्मवान्) अपने इंद्रियोंको वश करके आत्माके स्वरूपमें तिष्ठनेवाले थे, (प्रभुः) स्वतंत्र थे, (सहिष्णुः) परीषहोंको सहनेके लिये शक्तिमान थे, (अच्युतः) व दुःसह परीषहका क्लेश पड़नेपर भी अपनी प्रतिज्ञामें लिये हुए व्रतोंसे चिगनेवाले न थे—ऐसे महात्माने (सागरवारिवाससं) समुद्र पर्यंत वस्त्रवाली (सतीम्) अपने पास होनेवाली व दूसरेसे न भोगी हुई ऐसी (इमां वसुधावधूम्) इस पृथ्वी रूपी महिलाको (वधूम् इव) स्त्रीके समान (विहाय) त्याग करके (प्रवव्राज) मुनि दीक्षा धारण करली ।

भावार्थ—इस श्लोकमें यह बताया गया है कि जिस प्रभुने मुनि दीक्षा धारण की उसमें इतने गुण थे—एक तो उनके तीव्र उत्कण्ठा थी कि हम इस असार व पराधीन व कटुक संसारसे पार होकर स्वतंत्रता प्राप्त करें। दूसरे वे बड़े वीर थे, इक्ष्वाकु वंशके शिरोमणि क्षत्रिय शूर थे। तीसरे वे इन्द्रिय व मनको विजय करके आत्मामें आत्मस्थ होनेवाले थे, चौथे वे किसीके आधीन न थे, पूर्ण स्वतंत्र थे, पांचवें वे २२ परीषहोंको सहनेके लिये पूर्ण समर्थ थे, छठे वे घोर उपसर्ग आनेपर भी अपने व्रत व तपमें व ध्यानमें निश्चल रहनेवाले थे। ऐसे राजपुत्रने उस पृथ्वीको छोड़ा जो समुद्र पर्यंत फैली हुई थी व जो उनके पास थी ही तथा जो दूसरेसे भोगी नहीं गई थी—उसको भी उसी तरह छोड़ा जिस तरह अपनी स्त्रियोंको त्यागा और साधुका चारित्र धार लिया। यहां पृथ्वीकी उपमा महिलासे दी है। पृथ्वीका वस्त्र समुद्रका पानी था। स्त्रीका आवरण

वस्त्र होता है। जैसे स्त्री सती व पतिव्रता होती है वैसे वह पृथ्वी दूसरेसे अभोक्ता व विद्यमान अपनी थी। न होतीको नहीं छोड़ा था, होतीको छोड़ा था। कुलटा–स्त्रीको छोड़ना सुगम है, परन्तु पतिव्रताको छोड़ना कठिन है। न होती हुई वस्तुको छोड़ना सुगम है, होती हुईको त्यागना कठिन है। प्रभुने बड़ा भारी साहस किया जो अपने पास होनेवाली निष्कंटक समुद्रपर्यन्त राज्य पृथ्वीको त्याग दिया। और आकुलता मिटाकर निराकुल हो आत्मध्यान करनेका पुरुषार्थ किया। इस श्लोकमें यह बात सूचित की है कि जो मुनिपद धारण करे उसमें ऊपर लिखित योग्यता होनी चाहिये। उसमें मुमुक्षुपना, जितेंद्रियपना, स्वाधीनपना, सहनशीलता व प्रतिज्ञाबद्धपना अवश्य होना उचित है। जो इतने गुणोंका धारी न होगा वह कदाचित् विषय वासनाके आधीन होजायगा, दुःखोंके पड़नेपर घबड़ा जायगा व संयमसे भ्रष्ट हो जायगा। जो ख्याति पूजा लाभादिके आधीन होकर साधु होगा वह कभी भी साधुका व्रत नहीं पाल सक्ता। उसकी वृत्तिमें स्वाधीनता हो। मात्र स्वहित विचार कर ही तपस्या करता हो। ऐसा ही मुनि मोक्ष-मार्गी है। जो अंतमुहूर्तसे अधिक प्रमादमें नहीं रह सक्ता है जिसके अंतमुहूर्त पीछे ध्यानावस्था सप्तम गुणस्थानके योग्य होती ही हो, जो सर्व रसोंका त्यागी होकर एक आत्म रसका पियासु हो वही जैनका साधु होने योग्य है। दिखलाया यह है कि प्रभुमें दीक्षा लेते वक्त मुनिके योग्य सर्व श्रेष्ठ गुण मौजूद थे।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें साधुके गुण कहते हैं—

यम नियम नितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा !
परिणमितसमाधिः सर्व सत्वानुकम्पी ॥
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं ।
दहति निहित निद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥ २३ ॥

भावार्थ–जो साधु यम नियममें तल्लीन है, जिसका अंतरंग वहिरंग सर्व शांत है, जो सामायिक भावमें रंग रहा है, जो सर्व प्राणियोंपर दयावान है, जो हितमित वचनोंको कहनेवाला है, जिसने निद्राको जीत लिया है व जिसके आध्यात्मीक तत्वका पूर्ण निश्चय है वही साधु सर्व क्लेशोंको जला डालता है।

गीता छन्द ।

इंद्रियजयी, इक्ष्वाकुवंशी मोक्षकी इच्छा करें ।
सो सहनशील सुगाढ़ व्रतमें साधु संयमको धरें ॥
निज भूमि महिला त्यागदी जो थी सती नारी समा ।
यह सिंधु जल है वस्त्र जिसका और छोड़ी सब रमा ॥ ३ ॥

उत्थानिका–भगवानने दीक्षा लेकर क्या किया–

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा वभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(यः) जिस आदिनाथ ऋषिने (स्वदोषमूलं) अपने आत्मासम्बन्धी अज्ञान और रागादि दोषोंके मूल कारण चार घातिया कर्मोंको (स्वसमाधितेजसा) अपनी आत्मसमाधिकी अग्निसे अर्थात् शुक्लध्यानके प्रभावसे (निर्दयभस्मसात्क्रियां निनाय) निर्दई होकर भस्मपनेको प्राप्त कर दिया व (अर्थिने जगते) तत्वज्ञानके अभिलाषी जगतके प्राणियोंके लिये (अंजसा) परमार्थरूपसे यथार्थ (तत्त्वं) जीवादिके

स्वरूपको (जगाद) वर्णन किया (च) फिर वे (ब्रह्मपदामृतेश्वरः बभूव) मोक्षपदके अनंत सुखके स्वामी होगए अर्थात् सिद्ध परमात्मा होगए।

भावार्थ-इस श्लोकमें आचार्यने तप, ज्ञान और निर्वाण तीनों अवस्थाको स्मरण कर लिया है। श्री रिषभदेवने साधु होकर दिनरात आत्मानुभव रूपी अग्नि जलानेका पुरुषार्थ किया। उसीके बलसे धर्मध्यानकी पूर्णता की, फिर शुक्लध्यानको प्रगटाया। इसी शुक्लध्यानके बलसे सबसे पहले सर्व कर्मोंके शिरोमणि मोहनीय कर्मका नाश किया, जिससे परम वीतराग भावको क्षायिक सम्यक्त सहित प्राप्त किया। फिर अन्तर्मुहूर्त ठहरकर बारहवें गुणस्थानमें शेष तीन घातिया कर्मोंका भी नाश किया। ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्मके नाशसे अज्ञानतम मिटा व केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया। अंतरायके नाशसे अनन्त बलको प्राप्त किया। आत्मामें अनादिकालसे रागद्वेष मोहका, अज्ञानका व निर्बलताका दोष था, सो सब जड मूलसे नष्ट होगया। अब प्रभु केवलज्ञानी अर्हत परमात्मा होगए। इस तीर्थङ्कर अवस्थामें स्वामी ऋषभदेव बहुत काल रहे। और यत्र तत्र विहार कर मोक्षतत्वके अभिलाषियोंको दिव्यध्वनि द्वारा परमार्थका उपदेश दिया। दीर्घकाल तक श्री ऋषभदेवका समवशरण विहार कर धर्मोपदेश सुनाता रहा जिससे अनेक जीवोंने धर्मका लाभ उठाया। आयुके अंतके निकट आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय इन चार अघातिया कर्मोंको नाशकर वे परम सिद्ध होगए। कैलाशपर्वतसे मोक्ष हुए उसीकी सीधपर जाकर तीन लोकके अग्रभागमें ठहर गए—अविनाशी आनन्दरूपी अमृतका निरन्तर

पान करनेवाले परमेश्वर होगए। यहां यह बताया है कि आत्माकी निर्विकल्प समाधि या स्वानुभवरूप साधनसे ही यह आत्मा निर्दोष पवित्र व वीतरागी होता है। परमात्मा होनेका निश्चल आत्मध्यान ही एक उपाय है—और कोई उपाय नहीं है न कभी था न होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपके ज्ञानमें थिरता पाना ही आत्मध्यान है। श्री समयसार कलशमें स्वामी अमृतचन्दजी कहते हैं—

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां।
भूमिश्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः॥
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः।
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति॥ २०॥ १०॥

भावार्थ—जो जिस तरह होसके मोह भावको हटाकर ज्ञान मात्र अपनी ही निश्चल आत्मभूमिका आश्रय लेते हैं अर्थात् अपने ही ज्ञानदर्शन स्वभावमें विश्रांति पाते हैं, वे ही मोक्षके साधनको पाकर सिद्ध होजाते हैं। जो मूढ़ अज्ञानी हैं वे इस भूमिको न पाकर भ्रमण किया करते हैं।

संस्कृत टीकाकारने कहा है कि सर्वज्ञ वीतरागका ही कथन सत्य होसक्ता है। तथा अरहंत अवस्थामें परमात्माको भूख प्यास आदिकी बिलकुल पीड़ा नहीं होती। जिसको ऐसी कोई पीड़ा हो वह कदाचित कुछका कुछ भी कह सके, सो अरहंत परमात्माके भूख प्यासकी बाधा बिलकुल संभव नहीं है न उनको किसी तरह ग्रास रूप भोजन करनेकी ही आवश्यक्ता है। वे निरंतर आत्मस्थ रहते हैं, अनंत वीर्यवान होते हुए कर्मकी निर्बलता नहीं मालूम करते हैं। अनंत सुखी होनेसे निरंतर आनंदका स्वाद लेते हैं

उनको न क्षुधादिका न उसके मेटनेका कोई कष्ट है न विकल्प है न प्रयत्न है। योग बलसे उनका शरीर स्वयं ग्रहण होनेवाली आहारक वर्गणाओंके द्वारा सदा पुष्ट रहता है। उनकी प्रवृत्ति साधारण साधुके समान नहीं होती है। वे एक अलौकिक महापुरुष होगए हैं।

गीता छंद।

निज ध्यान अग्नि प्रभावसे रागादि मूलक कर्मको।
करुणा विगर हैं भस्म कीने चार घाती कर्मको॥
अरहंत हो जग प्राणि हित सत् तत्त्वका वर्णन किया।
फिर सिद्ध हो निज ब्रह्मपद अमृतमई सुख नित पिया॥४॥

उत्थानिका—मीमांसक मतधारी कोई शिष्य शंका करता है कि भगवान ऋषभदेवको अतींद्रिय ज्ञान नहीं होसकता। जब वे सर्वज्ञ नहीं होसक्ते तब वे यथार्थ उपदेश कैसे कर सक्ते हैं? इस शंकाके समाधानमें आचार्य कहते हैं—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः॥५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सः) वह (नाभिनन्दनः) नाभिराजा चौदहवें कुलकरके पुत्र (वृषभः) धर्मसे शोभायमान ऐसे सार्थक नामधारी श्री वृषभदेव महाराज (विश्वचक्षुः) जो जगतके सर्व पदार्थोंको एक साथ देखनेवाले केवलज्ञान रूपी नेत्रके धारी हैं, (सतां अर्चितः) जो इन्द्र गणधरादि महान पुरुषोंके द्वारा पूजित हैं, (निरंजनः) जो ज्ञानावरणादि कर्मरूपी अंजनसे रहित पवित्र हैं, (समग्रविद्यात्मवपुः) जिनके आत्माका शरीर सर्व

जीवादि पदार्थोंको जाननेवाली विद्या रूप है। अर्थात् सर्व कर्मोंके नाश होनेसे जिनका शरीर जड़ मई नहीं है किन्तु ज्ञान रूप है, (जिनः) जो सर्व बाहरी व भीतरी आत्माके शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, (जितक्षुल्लकवादिशासनः) तथा जो अल्प ज्ञानियोंके कहे हुए मतोंको परास्त करनेवाले हैं सो भगवान (मम चेतः पुनातु) मेरी आत्माको पवित्र करो अर्थात् सर्व दोषोंसे शुद्ध करो।

भावार्थ–श्री समन्तभद्राचार्यने श्री ऋषभदेवकी स्तुति करते हुए यह कहा है कि वह प्रभु धर्मनय हैं, केवलज्ञानी हैं, सर्व जड़कर्मके सम्बन्ध रहित शुद्ध आत्मप्रदेशोंके धारी ज्ञान शरीरी हैं, रागादि दोषोंको जीतकर वीतरागी हैं व अयथार्थ मतोंको, जिनको तुच्छ ज्ञानियोंने अपनी कल्पनासे प्रगट किया है सार-रहित बतानेवाले हैं। और यह भावना भाई है कि उनके गुणोंके स्तवनसे मेरा आत्मा रागादि दोषोंसे रहित पवित्र होजावे। इस बातसे यह सूचित किया है कि ऐसा ही परमात्मा पूजने योग्य है जिसमें सर्वदा वीतराग व हितोपदेशीपनेके गुण हों। तथा पूज-कको कोई और बातकी चाह न रखनी चाहिये–मात्र यही इच्छा रखनी चाहिये कि मेरे आत्माके अज्ञान व रागादि दोष मिटें और वह पवित्र होजावे अर्थात् स्वयं परमात्मा होजावे। उच्च भावनाका ही उच्च फल होता है। क्षणभंगुर पदोंकी वा नाशवंत धन धान्यादिकी चाह करके वीतराग सर्वज्ञ देवकी भक्ति करना उल्टा कषायको पुष्ट करना है। जगतमें क्रोधादि कषाय ही आत्माके वैरी हैं, ये ही संसार बढ़ानेवाले हैं। इसलिये इनके नाशका ही पवित्र उद्देश्य रखना उचित है। तब यह जीव यहां भी आत्मिक

सुखशांति प्राप्त करसक्ता है व भविष्यमें भी अपना जीवन उच्च बना सक्ता है। श्री अमितिगति महाराज सुभाषित–रत्नसंदोहमें कहते हैं–

एको मे शाश्वतात्मा सुखमसुखभुजो ज्ञानदृष्टिस्वभावो।
नान्यत्किंचिन्निजं मे तनुधनकरणा भ्रातृभार्यासुखादि॥
कर्मोद्भूतं समस्तं चपलमसुखदं तत्र मोहो वृथा मे।
पर्यालोच्येति जीव स्वहितमवितथं मुक्तिमार्गं श्रयत्वम्॥

भावार्थ–ज्ञानीको उपदेश करते हैं कि ऐसा विचार कर कि मेरा आत्मा एक अकेला ही अविनाशी है, यही दुःख सुखको अकेला भोगनेवाला है। यह ज्ञानदर्शन स्वभावका धारी है। इस जगतमें और कोई भी नहीं है। यह शरीर, धन, इन्द्रिय, भाई, स्त्री व सांसारिक सुख आदि ये कोई भी मेरे नहीं होसक्ते हैं, यह सर्व कर्मोंके उदयसे हुए हैं, चंचल हैं, दुःखकारी हैं। इनमें मेरा मोह करना वृथा है। तथा हे जीव! तू अपने हितकारी सच्चे मोक्ष-मार्गको धारण कर, इसीसे ही तू सुखी होगा। यही भावना हरएक धर्मात्मा जीवको परमात्म भक्ति करते हुए भी रखनी चाहिये। तीर्थंकरोंकी स्तुति मात्र आत्म चिंतनमें प्रेरक है, इसीलिये जब निर्विकल्प समाधि या ध्यानमें मन न लगे तब ही करनी योग्य है।

संस्कृत टीकाकारने लिखा है कि नैयायिक ऐसी शंका करते हैं कि सर्व कर्मोंके नाश होनेके पूर्व जिनेश्वरको सर्वज्ञ कहते हो तो कहो परन्तु सर्व कर्म नाश होनेपर वह सर्वज्ञ नहीं रहता। उसके बुद्धि आदि सब विशेष गुणोंका अत्यन्त नाश होजाता है। यह कहना ठीक नहीं है। ज्ञान आत्माका गुण है, गुण गुणी कभी अलग नहीं होसक्ते हैं, कर्मोंके नाशसे ज्ञान पूर्ण प्रगट होजाता है। सांख्य

मतवाले भी मोक्षमें ज्ञानका अभाव मानते हैं। वे चैतन्य मात्र रह जाता है ऐसा तो मानते हैं तथापि कहते हैं कि ज्ञान प्रकृतिके-सम्बन्धसे रहता है। जब प्रकृति छूट गई तब ज्ञान भी नहीं रहा यह भी कहना ठीक नहीं है। चेतना गुण ज्ञानदर्शनमय है। इसलिये परमात्मा ज्ञाता दृष्टापनेसे कभी शून्य नहीं होसक्ता है। क्षुल्लक मतके विषयमें टीकाकारने उनको बतलाया है जिनके कर्ता सर्वज्ञ न थे व जिन्होंने एकान्त तत्त्वको बताया है। किन्हींने वस्तुको सर्वथा नित्य किन्हींने सर्वथा क्षणिक ही कही है। श्री जिनेन्द्र भगवानने पदार्थको नित्य व अनित्य दोनों रूप देखा व वैसा कहा। द्रव्य जब स्वभावकी थिरतासे नित्य है तब पदार्थके पलट-नेसे अनित्य है। यही बात प्रत्यक्ष प्रगट है तब इस सत्यको बतानेवाले श्री ऋषभदेव भगवानकी वार २ स्तुति करके अपने आपको कृतार्थ व पवित्र मान रहा हूं। ऐसी भावना श्री समन्त-भद्राचार्य कर रहे हैं।

गीताछंद।

जो नाभिनन्दन वृषभ जिन सब कर्म मलसे रहित हैं।
जो ज्ञान तन धारी प्रपूजित साधुजन कर सहित हैं॥
जो विश्वलोचन लघु मतोंको जीतते निज ज्ञानसे।
सो आदिनाथ पवित्र कीजे आत्म मम अघ खानसे॥५॥



(२) श्री अजितनाथ स्तुतिः ।

यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीड़ास्वपि क्षीवमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम् ॥६॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(यस्य त्रिदिवच्युतस्य प्रभावात्) जिस स्वर्गसे च्युत होकर जन्म लेनेवाले भगवानके महात्म्यसे (क्रीड़ासु अपि अजेयशक्तिः) महा युद्धकी तो बात ही क्या खेल-क्रीड़ामें भी दूसरेसे न जीती जानेवाली शक्तिको प्राप्त करनेवाले (क्षीवमुखारविन्दः) तथा अपने मुख कमलको हर्षित रखनेवाले (बन्धुवर्गः) बंधु समूहने (भुवि) इस लोकमें (अजित इति नाम) उन भगवानका अजित ऐसा नाम (अवन्ध्यम्) सार्थक (चकार) रक्खा ।

भावार्थ-इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि कोई शुद्ध ईश्वर परमात्मा कभी कहीं अवतार नहीं लेता है। यही संसारी जीव उन्नति करते २ उच्च पदमें आकर जन्म धारण करलेता है। श्री अजितनाथ तीर्थंकर जो ऋषभदेवके बहुत काल पीछे क्षत्रियवंशमें जन्मे थे विजय नाम अनुत्तर विमानसे आए थे, उसके पहले भवमें वे बड़े तपस्वी श्री विमलवाहन मुनि थे। उत्तम शुभोपयोगके कारण उन्होंने महापुण्य बंध किया था। जब वे अपनी माताके गर्भमें आए तब इनके पुण्यके बलसे सर्व कुटुम्बका भी तीव्र पुण्य उदयमें आगया और उनको हरप्रकार विजय ही मिलने लगी। युद्धमें तो विजय मिलती ही थी, खेल कूदमें भी वे विजय पाने लगे तथा उनका मुख पहलेसे बहुत अधिक प्रसन्न रहने

लगा। जहां पुण्याधिकारी हों वहां सुखका सामान क्यों न हो? इसी कारण बड़े प्रभावशाली तीर्थंकर नाम कर्मको रखनेवाले आत्माका नाम अजित रक्खा गया। आचार्य कहते हैं कि यह नाम निक्षेपसे न था किन्तु सार्थक था। प्रभु वास्तवमें अजित थे। उनको न तो बाहरी कोई शत्रु जीत सक्ता था और न मोह जीत सक्ता था। वे मोहको जीतकर परम शुद्ध सम्यग्दर्शी महात्मा थे।

तीर्थंकरादि सर्व उच्चपद व अद्भुत साताकारी सामग्री सब पुण्यके उदयसे ही प्राप्त होती है जैसा आत्मानुशासनमें कहा है—

धर्मारामतरूणां फलानि सर्वेन्द्रियार्थसौख्यानि।
संरक्ष्य तांस्ततस्तान्युच्चिनु यैस्तैरुपायैस्त्वम् ॥१९॥

भावार्थ—जितने इन्द्रिय भोग संबंधी पदार्थ व सुख हैं सो सर्व धर्मरूपी उपवनके वृक्षोंके फल हैं। इसलिये तुमको उचित है कि अनेक उपायोंसे धर्मवृक्षकी रक्षा करो। शुद्धोपयोग धर्ममें जितने अंश शुभोपयोग रहता है वह पुण्य बंधका कारण है।

मालिनी छंद।

दिविसे प्रभु आकर जन्म जब मात लीना।
घरके सब बन्धू मुख कमल हर्ष कीना॥
क्रीड़ा करते भी जिन विजय पूर्ण पाई।
अजित नाम रक्खा जो प्रगट अर्थदाई॥६॥

उत्थानिका—भव्यजीव अपने इष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये आज भी श्री अजितनाथका नाम लेते हैं ऐसा कहते हैं—

अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम्।

अन्वयार्थ भाषा टीका-(अद्यापि) आज भी (लोके) इस लोकमें (स्वसिद्धिकामेन जनेन) अपने आत्माकी सिद्धिको व अपने इच्छित प्रयोजनको सिद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाले मानव द्वारा (अजितशासनस्य) जिसका मत अनेकांत होनेसे दूसरोंके द्वारा पराजित नहीं होसक्ता (सतां प्रणेतुः) व जो भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करानेवाला है (यस्य) ऐसे भगवान अजितनाथका (परं पवित्रं नाम) परम पवित्र अर्थात् सर्व पाप मलके दूर करनेका कारण ऐसा शुभ नाम (प्रतिमंगलार्थं) मंगल होनेके अर्थ व इष्टकार्यकी सिद्धिके निमित्त (प्रगृह्यते) लिया जाता है।

भावार्थ–यहांपर यह बताया है कि धन्य है श्री अजितनाथ भगवानका पवित्र आत्मा जिनके जन्ममें आते ही उनके कुटुम्बको परम सिद्धि हुई व जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर अनेक जीवोंको मोक्षमार्ग बताया व जब श्री अजितनाथ हुए तबसे बराबर जिन्होंने उनका आराधन किया उनका कल्याण हुआ। आज भी इस पंचमकालमें जो कोई अपने आत्माका हित सिद्ध करना चाहते हैं उनको श्री अजितनाथका नाम स्मरण परम उपकारी है। उनके नाम लेनेसे उनके सर्व आत्मीक गुण बुद्धिके सामने उपस्थित होजाते हैं। उनका अमोघ शासन स्मरणमें आजाता है। उनको वस्तुका यथार्थ कथन ध्यानमें आ जाता है। उनका उपदेश एकांत मतका निराकरण करनेवाला है व अनेकांत मतका स्थापन करनेवाला है जैसा कि वस्तुका स्वरूप है व जिसको स्वयं आचार्य इसी स्तोत्रमें आगे दिखलाएंगे। तथा जिन्होंके उपदेशसे अनेकोंको मोक्षका

करता है ऐसे प्रभुका नाम स्मरण परम कल्याणकारी है, आत्मानुभवकी तरफ झुकानेवाला है। हरएक नाम नामवाले पुरुषका बोध कराता है। नाम रखनेका प्रयोजन ही यह है कि जिसका नाम है उसके स्वरूपका ज्ञान नाम लेते ही स्मरणमें आजावे। एक नाम तो ऐसा होता है जो मात्र नाम ही होता है। जैसा नाम वैसा अर्थ उसमें नहीं होता है जिसका नाम रक्खा जाता है। जैसे किसी मानवका नाम इन्द्रचंद्र रक्खा जाय तो भी यह नाम उसका तो अवश्य बोध कराता है जिसका इन्द्रचंद्र नाम है। दूसरा नाम ऐसा भी होता है जो उस गुणका वाचक हो, जो उसमें हो, जिसका नाम रक्खा जावे। श्री अजितनाथ भगवानका नाम ऐसा ही है। जो पवित्र आत्माएं हैं उनके नाम स्मरणसे स्मरण करनेवालेका भाव पवित्र होजाता है, जिससे पापोंका नाश होता है, अंतराय कर्मका बल घटता है तथा जितना अंश उस पवित्र भावमें शुभराग होजाता है उतना अंश पुण्यकर्मका बंध भी होता है। इसीलिये मंगलके लिये पूज्य पुरुषोंका नाम लेना हितकर समझा जाता है। व्यवहारमें प्रवर्तते हुए मुनिगण भी जब किसी शास्त्रका व धर्मोपदेशका व ग्रंथ सम्पादनका काम प्रारंभ करते हैं तो परमात्माका नाम व गुण स्मरण रूप मंगलाचरण करते हैं। मंगल शब्दका अर्थ है कि जो मं अर्थात् पाप उसको गल-गलावे सो मंगल है। तथा मंगं अर्थात् सुखको ल-लाति उत्पन्न करावे सो मंगल है। पूज्य पुरुषोंके गुणोंकी तरफ उपयोग जानेसे ही पाप गलता है पुण्य बंधता है। इसीलिये प्रारंभिक कार्यमें होनेवाले विघ्नोंके यह मंगलाचरण निमित्त कारण होजाता है। गृहस्थ भी

किसी भी धर्म कार्यको करते हुए मंगलाचरण करते हैं। लौकिक कार्योंके सम्पादनमें भी गृहस्थ परमात्माका नाम स्मरण करते रहते हैं। वह भी इसीलिये कि उस कार्यके होनेमें जो बाधक कोई अंतराय कर्म हो वह टल जावे। उसका बल घट जावे।

जब यह सिद्धांत है कि पूज्य पुरुषोंकी भक्ति पाप गलाती है पुण्य लाती है तब उसका उपयोग मात्र इस भावसे करना कि पाप हटे, पुण्य प्रगटे सम्यक्तमें बाधक नहीं है। जहां यह माना जायगा कि परमात्माका नाम लेंगे तो वह प्रसन्न होकर हमारा काम कर देगा अथवा नाम लेनेसे अवश्य काम हो ही जायगा, वहांपर सम्यक्त भाव बिगड़ जाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी नाम व गुण स्मरणसे कोई शर्त नहीं बांधता है। वह उदासीन भावसे अपना कर्तव्य करता है। यदि कार्य सफल होगया तो समझता है कि पाप कर्म हलका था, वह मंगलाचरणसे टल गया। यदि काम सफल न हुआ तो कुछ खेद नहीं मानता है। वह जानता है कि अंतराय कर्म तीव्र था इससे नहीं टला। जैसे प्रवीण रोगी औषधि सेवन करता है, औषधि कभी पूरा गुण करती है कभी कम गुण करती है कभी गुण नहीं करती है। यदि गुण नहीं करती है तो वह रोगी यही समझता है कि रोगकी प्रबलता है इससे गुण नहीं हुआ, वह औषधि बनानेवालेको दोषी नहीं ठहराता है। यदि रोग शमन हो गया तो औषधिका असर मात्र हुआ ऐसा मानता है, औषधि बनानेवालेकी कोई अद्भुत करामात नहीं समझता है। परम पूज्य पुरुषोंके नाम व गुणका स्मरण श्रद्धा व ज्ञान पूर्वक किया हुआ पाप शमन व पुण्यबंधका साधन है। संसारी रोगी प्राणी अपने

पापके शमनके लिये निरंतर सेवन किया करता है। नाम मात्र ही लेनेसे पाप गलते हैं। गुणोंके स्मरणकी तो बात ही निराली है। श्री मानतुंगाचार्य भक्तामरस्तोत्रमें कहते हैं—

आस्तां तव स्तवन मस्तसमस्तदोषं, त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ती॥
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव, पद्माकरेषु जलजानि विकाशभाञ्जि॥

भावार्थ—हे प्रभु! आपकी स्तुति तो सर्व रागादि दोषोंको दूर करनेवाली है, आपकी तो बात ही क्या। वह तो दूर रही आपका नाम मात्र ही जीवोंके पापोंको नाश कर डालता है। सूर्यकी किरणोंका प्रकाश तो दूर ही रहो उनका सवेरेके समय कुछ उजाला सरोवरोंके भीतर कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है। उनका उदासीनपन दूर होजाता है। इसलिये श्री समंतभद्राचार्य कहते हैं कि हे अजितनाथ भगवान! आपका नाम आत्मसिद्धि करनेमें व नाम लेनेवालेके इष्ट प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें परम सहायक है। यद्यपि आप वीतराग भक्तपर कुछ भी अनुग्रह नहीं करते तथापि आपके नाम व गुण स्मरणमें यह शक्ति है कि विना आपकी आत्माके दखलदिये ही भक्तका पाप कट जाता है व उसे पुण्यका संचय होता है तथा आत्मानुभवकी जागृतिका निमित्त होजाता है।

मालिनीछंद।

अब भी जग लेते नाम भगवत् अजितका।
सत् शिवमगदाता वर अजित तीर्थंकरका॥
मंगल कर्ता है परमशुचि नाम जिनका।
निज कारजका भी लेत नित नाम उनका॥७॥

उत्थानिका—किसलिये प्रभु कर्मबन्धको क्षय करके सर्वज्ञ हुए इस बातको बताते हैं—

यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यथा) जैसे (मुक्तघनोपदेहः) बादलोंके आच्छादनसे छूटकर (भास्वान्) सूर्य (अरविन्दाभ्युदयाय) कमलोंके विकाशके लिये उदासीनपने निमित्त कारण होजाता है। उसी तरह (यः महामुनिः) वे अजितनाथ भगवान प्रत्यक्ष ज्ञानी या गणधरोंके स्वामी परम स्नातक (प्रभुशक्तिभूम्ना) जगतका उपकार करनेवाली अपनी वाणीके महात्म्यसे अर्थात् अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जीवादि पदार्थोंका सत्य स्वरूपका प्ररूपण करके उस परम पवित्र शासनके प्रभावसे (भव्याशयालीनकलंकशान्त्यै) भव्योंके चित्तमें जो अज्ञान व रागादि कलंक लगा हुआ था व उनका कारण ज्ञानावरणादि कर्मबंध था उसके नाशके लिये (प्रादुरासीत) प्रकाशमान हुए।

भावार्थ-जैसे सूर्य स्वयं ही जब बादलोंसे ढका होता है तब उसका प्रकाश छिपा रहता है परन्तु जब मेघ चले जाते हैं तब वह स्वयं प्रकाशमान होजाता है। वह सूर्य अपने स्वभावमें काम करता रहता है। वह यह नहीं चाहता है कि मेरे प्रकाशसे अंधकार टले व कमल प्रफुल्लित हों परन्तु ऐसा कुछ निमित्त नैमित्तिक वस्तुका स्वभाव है कि जब सूर्यका प्रकाश होगा तब अंधकार मिटे हीगा व कमलोंका वन फूले हीगा। वैसे श्री अजितनाथ भगवान अपने ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश कर व केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा होकर आप ही प्रकाशमान हुए। परन्तु उनके प्रगट होनेसे यह वस्तुका स्वभाव है कि उनका तो अज्ञान मिटा ही

परन्तु जगतका भी अज्ञान मिटा व भव्य जीवोंको परम प्रसन्नता हुई। जैसे सूर्यकी किरणें स्वभावसे ही फैलती हैं वैसे अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनि स्वभावसे ही प्रगट होती है। उसको सुन-कर भव्यजीवोंके अभिप्रायमें जो मिथ्यात्वका कलंक था जिससे वे अपने आत्माके स्वरूपसे विमुख थे व अनात्माकी तरफ सन्मुख थे व जिससे वे इन्द्रिय विषय सुखके लोलुपी थे व अतीन्द्रिय आत्मिक सुखके भोगसे शून्य थे वह कलंक दूर होजाता है। तथा उनका पाप गल जाता है और वे उस सच्चे रत्नत्रय रूपी मोक्ष मार्गको पा लेते हैं, जिसके ऊपर चलके वे भी श्री अरहंत परमा-त्माके समान अपना कर्म कलंक मिटाकर परमात्मा होजाते हैं।

यहांपर आचार्यने सूर्यका दृष्टांत देकर यही प्रगट किया है कि अरहंत भगवान बिलकुल इच्छा नहीं करते कि किसीका अज्ञान मिटे व किसीको मोक्षमार्ग मिले तथापि ऐसा कुछ वस्तु स्वभाव है कि उनकी वाणी खिर जाती है। और वह श्रोताओंके कानोंमें उन हीकी भाषामें जिसे वे समझते हैं ऐसी पड़ती है कि वे परम तृप्त होजाते हैं और अपना अज्ञान मिटाके सम्यक्ती या सम्यग्ज्ञानी होजाते हैं। प्रभुका अरहंतपना उनके लिये तो हितकर है ही। परन्तु दूसरोंके लिये भी स्वयं ही उदासीनपने ऐसा हितकर होता है कि उनका भी परम कल्याण होजाता है, वे भी उसी पथके अनुयायी होकर अरहंत हो जाते हैं या मोक्षमार्गका साधन मुनि या श्रावक या सम्यक्त भावमें करने लग जाते हैं। धन्य है श्री अजितनाथ भगवानकी महिमा जिसका गुणगान वाणीसे हो नहीं सक्ता।

श्री अरहंत भगवान वीतराग होनेपर भी किस तरह दूसरोंके उपकार व अपकारमें कारण पड़ जाते हैं इस बातको पात्र केशरी-स्तोत्रमें इस तरह बताया है—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि ।
क्षिपस्यकुपितोपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ॥
न चेश! परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्।
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥८॥

भावार्थ—हे भगवान्! जो आपकी स्तुति करते हैं उन पर आप राजी न होते हुए भी अनुपम सुख देते हैं अर्थात् वे स्वयं आत्मामें लय होकर आत्मानंद प्राप्त करलेते हैं। तथा जो आपके साथ द्वेष रखते हैं अर्थात् आपको नहीं पहचान कर रागी द्वेषी मोही देवादिकी भक्तिमें लीन हैं व आपकी निन्दा करते हैं उनपर आप क्रोध नहीं करते हैं तौ भी वे दुर्गतिमें चले जाते हैं। तौ भी हे ईश! आपके अर्हंत परमेष्टीपनेमें कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि आप न तो द्वेष करते हैं न राग करते हैं, आप तो वीतराग भावमें ही लीन हैं।

मालिनी छन्द।

जिम सूर्य प्रकाशे, मेघदलको हटाकर।
कमल वन प्रफुल्लै, सब उदासी घटाकर॥
तिम मुनिवर प्रगटे, दिव्य वाणी छटाकर।
भविगण आशय गत, मल कलंक मिटाकर॥८॥

उत्थानिका—भगवानने प्रकाशमान होकर क्या किया—

येन प्रणीतं पृथु धर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः॥ ९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(येन) जिस श्री अजितनाथ तीर्थंकर देवने (पृथु) महान् अर्थात् सर्व पदार्थोंको विषय करनेवाले (ज्येष्ठं) व सर्वसे उत्तम ऐसे (धर्मतीर्थं) उत्तम क्षमादि रूप व रत्नत्रय लक्षण रूप धर्मको जो संसार-समुद्रसे पार करनेके लिये तीर्थ रूप है (प्रणीतं) वर्णन किया है। (प्राप्य) जिसको समझ कर (जनाः) भव्य जीव (दुःखं) संसार भ्रमणके क्लेशको (जयंति) जीत लेते हैं अर्थात् संसारसे पार होजाते हैं (इव) जैसे (घर्मतप्ताः) तीव्र गर्मीके दुःखसे पीड़ित (गजप्रवेका) बड़े २ हाथी (चंदनपंकशीतं) चंदनकी कीचड़के समान शीतल (गांगं ह्रदं) गंगाके कुण्डको (प्राप्य दुःखं जयन्ति) पाकर व उसमें नहाकर अपने क्लेशसे छूट जाते हैं व शांति पालेते हैं।

भावार्थ–यहांपर आचार्यने यह आशय प्रगट किया है कि भगवान श्री अजितनाथकी जो दिव्यध्वनि प्रगट हुई उसमें सर्वोत्तम व महान धर्मका स्वरूप प्रगट नहीं किया गया। तीर्थंकर भगवानका नाम तब ही सार्थक होता है जब वे उस तीर्थको प्रकाश करते हैं जिसको स्वीकार कर भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होजावें। वह तीर्थ एक धर्म है। सर्वज्ञ भगवान वीतराग हैं अतएव उन्होंने जो कुछ धर्मका सच्चा स्वरूप था उसे ही दिखाया है। उसमें कभी कोई बाधा नहीं आसक्ती है। तथा वह नियमसे मोक्ष द्वीपको प्राप्त करानेवाला है। निश्चयनयसे वह धर्म आत्माका निज स्वभाव है। जब आत्मा अपने आत्माको सर्व परद्रव्य, परभाव व परके निमित्तसे होनेवाले विभाव उन सबसे भिन्न एक अमूर्तीक अखंड ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध गुणोंका एक अमिट समूह रूप

अविनाशी ऐसा समझता है और उस रूप ही विश्वास करता है तथा सर्वसे रागद्वेष छोड़कर एक अपने ही यथार्थ स्वरूपमें तन्मय होता है उस समय निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व निश्चय चारित्र रूप एक अपने आत्माका ही स्वानुभवगोचर भाव अपनेमें झलकता है। यही स्वसंवेदन ज्ञान रूप आत्मीक शुद्ध भाव वह धर्मतीर्थ है जिससे संसारके कारण रागद्वेष व कर्म बंध स्वयं कट जाते हैं और यह आत्मा शुद्ध होते होते परमात्मा होजाता है। इस स्वानुभव रूप धर्मसे बढ़कर कोई महान धर्म नहीं है। जब तक इसको न पावे लाख तरहका लाखों वर्ष तप जप किया जावे वह कभी मोक्ष नहीं प्राप्त करा सक्ता है। यह धर्म स्वानुभवगोचर है। इसे कोई खण्डन नहीं कर सक्ता है। इसी धर्मको गंगा कुण्डकी उपमा दी है। जो संसारी भवातापसे पीड़ित हैं, तृष्णाके उद्वेगसे अत्यन्त दुखी हैं, मिथ्यात्वके कारण भववनमें भटकते हुये संतापित होरहे हैं वे जब इस स्वात्मानुभव रूप धर्ममें गोता लगाते हैं तो परम शांत होजाते हैं, सर्व दुःखोंको जीत देते हैं, बड़े ही सुखी होजाते हैं। जैसे धूपसे सताए बड़े २ हाथी चंदन समान शीतल गंगाकुण्डमें गोता लगानेसे दुःख रहित शांत होजाते हैं। व्यवहार मुनि व गृहस्थ धर्म जो कुछ श्री जिनेन्द्र भगवानने बताया है वह भी इसी हेतुसे कि वह साधक किसी तरह निश्चय धर्म जो स्वात्मानुभव है उसको प्राप्त करले। दशलक्षणी धर्म व व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र सब निश्चयधर्मके लिये ही साधन किये जाते हैं। यदि निश्चयधर्म न हो तो वे सब व्यवहार धर्म वृथा हैं—मोक्षके साधक नहीं हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसारमें कहते हैं—

मोत्तण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

भावार्थ-निश्चय आत्म स्वरूपको छोड़कर विद्वान साधु मात्र व्यवहार धर्ममें नहीं चलते हैं क्योंकि जो यतिगण परमार्थ जो स्वानुभव है उसको आश्रय करते हैं, उनहींके कर्मोंका क्षय होता है। श्रीनागसेन मुनि तत्वानुशासनमें निश्चयधर्मको बताते हैं—

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥ १४३ ॥

भावार्थ—ध्यान करनेवाला आत्मा स्व परको जानकर व यथार्थ श्रद्धान करके परको छोड़कर आत्माको ही जाने व देखे। यही यथार्थ स्वानुभव दशा है।

इष्टोपदेशमें श्री पूज्यपाद आचार्य कहते हैं—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—अज्ञानसे दूर वही महान आत्मज्योति ज्ञानमई परम उत्कृष्ट है उसीके संबंधमें प्रश्न करे, उसीकी भावना करे व उसीका ही अनुभव करे। मोक्षके वांछकोंका यही कर्तव्य है।

मालिनी छन्द ।

जिसने प्रगटाया, धर्म भव पार कर्ता ।
उत्तम अति ऊंचा, जान जन दुःख हरता ॥
चंदन सम शीतल, गंग ह्रदमें नहाते ।
बहुधाम सताए, हस्तिवर शांति पाते ॥९॥

उत्थानिका–क्या भगवानने किसी फलको उद्देशमें रखकर धर्म तीर्थका प्रकाश किया था? इसपर स्तुतिकार कहते हैं–

स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्तां॥

अन्वयार्थ भाषा टीका–इस श्लोकमें यह दिखाते हैं कि भगवानने कोई फलकी इच्छा नहीं की। (सः) वह अजितनाथ भगवान (ब्रह्मनिष्ठः) सर्व दोष रहित अपने परमात्मस्वभावमें तल्लीन हैं (सममित्रशत्रुः) उनके लिये शत्रु व मित्र समान हैं अर्थात् वे परम वीतरागी हैं। (विद्याविनिर्वांतकषायदोषः) जिन्होंने आत्मज्ञानकी व आत्मध्यानकी कलाके प्रकाशसे अपने क्रोधादि कषायोंको व सर्व दोषोंको अर्थात् ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंको नाश कर डाला है (लब्धात्मलक्ष्मीः) व जिन्होंने अनंत ज्ञान दर्शन सुखवीर्यमई अपनी अंतरंग लक्ष्मीको प्राप्त कर लिया है (जितात्मा) व जो इन्द्रिय विजयी व आत्माधीन हैं (जिनः) व कर्मोंको जीतनेवाले वीर हैं (भगवान्) ऐसे विशेष ज्ञानवान व पुज्यनीय (अजितः) अंतरंग बहिरंग शत्रुओंसे न जीतेजानेवाले श्री अजितनाथ महाराज (मे) मुझ समन्तभद्रको (श्रियं) अनंत ज्ञानादि लक्ष्मी (विधत्ताम्) प्राप्त करनेमें सहायक हों।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि श्री अजितनाथ तीर्थंकरको केवलज्ञानका लाभ हो जानेपर किसी तरहकी इच्छा नहीं होसक्ती। क्योंकि उनका उपयोग जो अल्पज्ञानीकी दशामें इन्द्रिय व मनके द्वारा काम करता था सो उपयोग अपने ब्रह्म स्वरूप आत्मामें मगन व लीन होरहा है। इससे कोई संकल्प विकल्प उठनेकी

जगह ही बाकी नहीं रही है। आत्मरूप होनेसे वे परम वीतरागी हैं। कोई शत्रुता करे तो उसपर क्रोध नहीं करते, कोई प्रशंसा करे व मित्रता करे तो उसपर राग नहीं करते। इसका भी कारण यही है कि भेदविज्ञान द्वारा प्राप्त स्वात्मानुभवके द्वारा उन्होंने सर्व क्रोधादि कषायोंको व अज्ञानादिके दोषोंको व सामान्यसे चार घातियां कर्मोंको नाश कर डाला है और अपने आत्मीक धनको प्राप्त कर लिया है तथा आत्मीक सुखके भोगमें परम आशक्त हैं। उन्होंने सर्व इच्छाओंको व सर्व कर्मोंको जीत लिया है, उनका कोई सामना करनेवाला नहीं रहा। इसीलिये भगवानने अपने अजित नामको सफल किया है। साक्षात् परमात्मा स्वरूप होकर प्रभुने अपूर्व ज्ञान व अपूर्व आनंदका लाभ किया है। श्री समंतभद्राचार्य भावना भाते हैं कि मैं उनकी स्तुति करके यही चाहता हूं कि उन ही के गुणानुवादसे व उन ही के उपदेशमें मैं स्वयं आत्मस्थ होजाऊं व अपने कर्मशत्रुओंका विजय करके अनंतज्ञानादि लक्ष्मीको प्राप्त करके उन हीके समान ही अरहंत होजाऊँ। और मैं किसी क्षणभंगुर वस्तुकी चाह नहीं रखता। वास्तवमें वीतराग भगवान कथित जिन धर्मकी यही आज्ञा है कि मानवका ध्येय स्वात्मस्वरूपकी प्राप्ति ही होना चाहिये। यही मोक्ष है, यही निज स्वभाव है और इसी ही हेतुसे निश्चय व व्यवहार धर्मका साधन करना चाहिये। यही वीतरागभाव परमानंदका दाता है। व आत्माको परमात्म पदमें स्थापन करानेवाला है। वास्तवमें श्री जिनेन्द्रके गुणोंका स्तवन अपने ही आत्माका स्तवन है। इसीलिये यद्यपि वह राग रूप

जानेवाला है। ज्ञानीजन स्वात्मीक भावनाके ही लिये स्तवन करते हैं। क्योंकि निश्चयनयसे श्री जिनेन्द्रमें और आत्मामें कोई भेद नहीं है। श्री योगेन्द्राचार्य योगसारमें कहते हैं—

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमवि वियाणि ।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ विवाणी ॥२०॥
जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु ।
इउ जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारु ॥२१॥

अर्थात्-शुद्ध आत्मा और जिनेन्द्रमें कोई भेद मत जानो यह ज्ञान निश्चयसे हे योगी मोक्षका कारण है। जैनसिद्धांतका यह सार है कि जैसा जिन है वैसा ही यह आत्मा है, हे योगी ऐसा जानकर माया छोड़।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ॥२२॥

भावार्थ-जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो मैं हूं सो ही परमात्मा है। हे योगी! ऐसा जानकर स्वात्माका अनुभव कर और अधिक विचार न कर।

यहां टीकाकारने जिनश्रियंको एक पद मानकर जिनकी लक्ष्मी ऐसा अर्थ किया है जब कि जिनः श्रियं ऐसा पाठ लेनेसे जिनः श्री अजितनाथका विशेषण मानके हमने अर्थ किया है।

मालिनी छंद।

निज ब्रह्म रमानी, मित्र शत्रू समानी ।
ले ज्ञान कृपानी, रोषादि दोष हानी ॥
लहि आतम लक्ष्मी, निजवशी जीतकर्मा ।
भगवन् अजितेश, दीजिये श्री स्वशर्मा ॥१०॥

(३) श्री संभव जिन स्तुतिः ।

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-श्री समन्तभद्राचार्य श्री संभवनाथ स्वामीको अपने मनके सामने रखके इस तरह स्तुति करते हैं कि (त्वं) आप (शम्भवः) भव्यजीवोंको सुखके कारण ही तथा (सम्भवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य) संसार संबंधी विषय-भोगकी तृष्णारूपी रोगोंसे पीड़ित मानवके लिये (इह लोके) इस लोकमें आप (आकस्मिकः एव वैद्यः) विना किसी फलको चाहनेवाले आकस्मिक ही वैद्य (आसीः) हो यथा जैसे (अनाथरुजां) किसी अशरण, निर्धन व असहायके रोगोंको (प्रशान्त्यै) दूर करनेके लिये (वैद्यः) कोई अचानक विना बुलाए, परोपकारी वैद्य अकस्मात् सहाई होजाता है।

भावार्थ-तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ स्वामीकी स्तुति करते हुए आचार्यने उनके दो नामोंपर लक्ष्य दिया है-एक शंभव दूसरे संभव। संभवका अर्थ यह किया कि उनके स्मरण व ध्यान व भजनसे भव्यजीवोंको सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये वे शंभव हैं। दूसरे संभवका अर्थ किया है कि वार २ किसी क्रम टूटे विना चलनेवाले संसार व संसारी जीव उसके आप नाथ हैं व रक्षक हैं। इसी अर्थका विशेष खुलासा एक परोपकारी निस्पृह वैद्यका दृष्टांत देकर किया है। जैसे कहीं कोई अनाथ रोगसे पीड़ित पड़ा घबड़ा रहा हो, वह द्रव्याभावसे व सहायताके अभावसे

किसी वैद्यको बुला भी नहीं सक्ता हो, अचानक उसके दुःखको देखकर एक परोपकारी वैद्य आजाता है। वह उसको औषधि बताता है व उसे सेवन करनेकी प्रेरणा करता है व विश्वास दिलाता है कि यदि तू सेवन करेगा तो निश्चयसे तू निरोगी होजायगा। वह रोगी जब उस परोपकारी निरपेक्ष वैद्यकी शिक्षाके अनुसार औषधिका सेवन यथार्थ रूपसे करता है तब वह स्वयं अच्छा होजाता है। इसी तरह श्री संभवनाथ स्वामी जब अरहंत हुए तब विना किसी फलकी इच्छाके अकस्मात् उनका दिव्य उपदेश उन भव्य जीवोंके पुण्यके उदयसे उन्हींके हितार्थ हुआ जो अनादिकालसे मोहकर्मके प्रेरे हुए संसारमें तृष्णारूपी रोगसे पीड़ित होकर घबड़ा रहे थे। वे बिचारे अज्ञानसे उस रोगकी यथार्थ औषधि न पाते हुए तृष्णाकी शांतिके लिये इंद्रिय विषयोंमें दौड़ दौड़कर जाते थे, तब तृष्णा रोगको और भी बढ़ा लेते थे। इसी विषय तृष्णावश पाप कर्म बांध दुर्गतिमें दुःख उठाते थे। उन जीवोंको अकस्मात् जब भगवानकी दिव्यवाणीसे रत्नत्रयमई जिनधर्मका स्वरूप प्रगट हुआ कि जो संसारकी तृष्णामई रोगके शमनकी सच्ची दवाई है। तब जिन २ भव्य रोगियोंने इस धर्मरूपी औषधिपर विश्वास किया और उसका यथार्थ रीतिसे सेवन किया उनका संसार रोग मिट गया—वे आत्मानन्दको पाकर परम तृप्त होगए। और बराबर आत्मानुभवमई दिव्य औषधिके सेवनसे मोहादि कर्मोंके नाशकर बिलकुल संसार रोग रहित निरोग, स्वस्थ व स्वाधीन होगए। यहां वैद्यका दृष्टांत इसीलिये दिया है कि वैद्यमात्र औषधिका बतानेवाला है, वैद्य वैसे ही किसी रोगीका रोग दूर नहीं करसक्ता। जब रोगी स्वयं औषधि

सेवन करेगा तब ही वह अच्छा होगा। इसी तरह सर्वज्ञ वीतराग अर्हंत भगवान् किसी भी भक्तको मुक्ति नहीं देसक्ते न उसके संसार रोगको शमन कर सक्ते हैं, वे तो मात्र सत्य उपाय बतानेवाले हैं। जो कोई उसपर विश्वास करेगा और पुरुषार्थ करके उसीका सेवन करेगा, तथा वैसा ही सेवन करेगा जैसा—श्री अर्हंत भगवानने कहा था तो अवश्य वह कर्मोंका नाश करके कभी न-कभी मुक्त होजायगा। जो लोग ऐसा समझ लेते हैं कि परमात्मा भक्तको पार कर देता है चाहे वह मोक्षका साधन न भी करे, सो बात इस कथनसे हट जाती है। आत्मशुद्धि अपने ही आत्मध्यानरूपी पुरुषार्थसे होती है यह नियम है। इसके बिना न आजतक किसीको हुई है, न होगी न होती है। स्वतंत्रताका एक ही मार्ग है और वह आत्म स्वातंत्र्यका अनुभव है। यही बात यहां प्रगट की है। क्योंकि श्री संभवनाथ स्वामी वैद्यके समान यथार्थ उपाय बतानेवाले हैं, इसलिये बारबार नमस्कार व स्तवन करने योग्य हैं। वास्तवमें अपना उद्धार आपसे ही होता है। जैसा श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें कहा है:—

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञायकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥ ३४॥

अर्थात्—आत्माका निश्चय गुरु आत्मा ही है, क्योंकि अपने ही भीतर अपने हितकी वांछा होती है, तथा आपको ही मोक्षके उपायका ज्ञान भी करना पड़ता है व आपको ही अपने हितके लिये प्रयोग करना पड़ता है। वास्तवमें श्री अर्हंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु व शास्त्र आदि बाहरी प्रेरक व उदासीन निमित्त हैं। जो स्वयं पुरुषार्थ न करेंगे वे कदापि शिवश्री न लहेंगे।

भुजंगप्रयात छंद।

तुही सौख्यकारी, जगतमें नरोंको।
क्षुतृष्णा महाव्याधि, पीड़ित जनोंको।
अचानक परम वैद्य है, रोगहारा।
यथा वैद्यने दीनका रोग टारा॥ ११॥

उत्थानिका—जिस जगतके प्राणियोंके भगवान् अचानक वैद्य हैं वे जगतके प्राणी कैसे दुखी हैं सो बताते हैं—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम्॥१२॥

अन्वयार्थ—भाषाटीका—(इदं जगत्) इस दीखनेवाले जगतके प्राणियोंकी (अनित्य) जो किसी भी शरीरमें सदा रह नहीं सक्ते अर्थात् पर्यायकी अपेक्षा जो नाशवत हैं। (अत्राणं) व जिनका कोई मरणसे व तीव्र दुःखोंके सहनसे रक्षा करनेवाला नहीं है तथा (अहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्) जो शरीरकी अवस्थामें अहंकार बुद्धि व स्त्री पुत्रादि धन आदिमें ममकार बुद्धि रखनेसे मिथ्या अभिप्रायके दोषसे दूषित हैं और इसीलिये (जन्मजरांतकार्तं) जन्मजरा व मरणके दुःखोंसे निरंतर पीड़ित हैं उनको (निरंजनां शांतिं) कर्म कलंकसे दूर करके परम वीतराग भावको (त्वं अजीगमः) आपने प्राप्त कराया।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने संसारी प्राणियोंके संसाररूपी रोगका बहुत अच्छा खुलासा किया है। वास्तवमें हरएक अवस्था जो यह संसारी जीव कर्मोंके उदयसे पाता है नित्य नहीं रह सक्ती। जो शरीर बनता है वह एक दिन जरूर नष्ट होजाता है। जिस

शरीरके साथी माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बंधु व मित्र होते हैं उनका भी वियोग अवश्य होजाता है। जो लक्ष्मी आज किसीके साथ है, पुण्यके क्षय होनेसे चली जाती है। जो आज राजा है वह रंक हो जाता है। जो आज निरोगी है वह रोगी होजाता है। जो आज अधिकारी है वह दीन सेवक होजाता है। जो आज युवान है वह बुड्ढा होजाता है। हरएक अवस्था बिजलीके चमत्कारवत् चञ्चल है। पानीके बुदबुदेके समान नाशवंत है। देखते देखते अवस्था बदल जाती है। राज्यपाट उलट पलट होजाते हैं। कोई भी प्राणी इन अनित्य पदार्थोंको नित्य करके नहीं रख सक्ता है। इसी तरह इस जगतका हरएक प्राणी अशरण है। जब मरणका समय आ जाता है कोई मित्र, वैद्य, औषधि, मंत्र, तंत्र, यंत्र, स्त्री, पुत्र, नौकर, चाकर, दुर्ग, पाताल, स्वर्गपुरी, आदि कोई भी बचा नहीं सक्के। लाचार होकर बड़े२ चक्रवर्ती व इन्द्र आदिको भी अपना शरीर छोड़ना पड़ता है। कोई ईश्वर परमात्मा भी किसीको मरनेसे बचा नहीं सक्ता। इसीतरह जब पापके उदयसे रोग, शोक, वियोग, दलिद्र आदि घोर कष्ट पड़ जाते हैं तब भी कोई रक्षा नहीं कर सक्ता। इस जीवको आप ही भोगना पड़ता है। मित्र, स्त्री, पुत्र आदि सब देखते ही रहते हैं। कोई दुःखको बांट नहीं सक्ता है। इसके सिवाय संसारी प्राणी ऐसी मोहकी मदिरा पिये हुए हैं जिसके नशेमें अपने आत्माको बिलकुल भूले हुए हैं। इसके जिस शरीरमें व जिस अवस्थामें होते हैं उसमें यह अहंकार कर लेते हैं कि मैं पशु हूं, मैं वृक्ष हूं, मैं पक्षी हूं, मैं मानव हूं, मैं [illegible] हूं, मैं स्त्री हूं, मैं राजा हूं, मैं धनवान हूं, मैं महाजन हूं,

मैं दातार हूं, मैं तपस्वी हूं, मैं व्रती हूं; मैं धर्मात्मा हूं, मैं परोपकारी हूं, मैं दीन हूं, मैं दुःखी हूं, मैं बालक हूं, मैं जवान हूं, मैं बूढ़ा हूं इत्यादि। तथा जो वस्तु पुण्यके उदयसे अपने संबंधमें आजाती है उसमें ममकार कर लेते हैं। जैसे मेरा वस्त्र है, मेरा आभूषण है, मेरा घर है, मेरा राज्य है, मेरी जाति है, मेरा देश है, मेरा पुत्र है, मेरी स्त्री है, मेरी पुत्री है, मेरा मित्र है, मेरा सेवक है, मेरा मालिक है इत्यादि। इस तरह अहंकार व ममकारमें अंधे होते हुए इंद्रिय विषयोंके लिये लोलुपी होते हुए आत्मीक सुखको भूले हुए मैं सुखी, मैं दुःखी, इस भावमें सने हुए मिथ्यात्वके प्रबल दोषसे पीड़ित रहते हुए तीव्र कर्म बांधते हैं।

वारवार आयु व गति कर्म बांधकर एक शरीरमें जन्मते हैं वहां कदाचित् बूढ़े होते हैं फिर मरते हैं फिर जन्मते हैं। और अनेक इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग, दलिद्र आदि दुःखोंके साथ २ अवश्य होनेवाले जन्मजरा मरणके कष्टोंसे सदा पीड़ित रहते हैं। ऐसी महा दीन संसारी प्राणियोंकी दशा होरही है। ये जीव संसारके कर्मरूपी रोगसे महान् कष्ट भोग रहे हैं। उनके लिये श्री अर्हंत भगवानने रत्नत्रय धर्मरूपी ऐसी अमृतमई औषधि बताई है कि जिन्होंने सेवनकी उनका कर्म कलंक मिटा। वे कर्मांजनसे रहित हो निरंजन हुए और उनका सर्व अहंकार ममकार व आर्त भाव मिट गया, उनको अपने आत्माका सच्चा अनुभव होगया इसलिये उनको परम शांति व आनंदका लाभ हुआ। वे अपने अविनाशी ज्ञानादि धनको पागए। परम तृप्त होगए और परम स्वाधीन बन गए। धन्य हैं श्री संभवनाथ भगवान्! आपके ७

जीव परम सुखी हुए। इसलिये आप इस दीन संसारी अशरण प्राणीके लिये सच्चे परम परोपकारी निरपेक्ष अकस्मात् वैद्य हैं। आपको वारवार नमस्कार हो। वास्तवमें इस संसारका ऐसा ही स्वभाव है। सारसमुच्चयमें कुलभद्राचार्य कहते हैं:—

कषायकलुषो जीवो रागरंजितमानसः।
चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्न नौरिव सीदति॥ ३१ ॥
कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम्।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम्॥ ३२ ॥

भावार्थ-क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायोंसे मैला जीव रागी मन वाला होता हुआ चार गतिरूपी संसारसमुद्रमें टूटी नावके समान डूबता हुआ कष्ट पाता है। कषायोंके आधीन जीव भयानक कर्मोंको बांधता है। उनके फलसे यह जीव करोड़ों भवोंमें कठिन २ दुःख उठाता है।

श्री अमितगति सुभाषित रत्नसंदोहमें कहते हैं—

गलत्यायुर्देहे व्रजति विलयं रूपमखिलं।
जरा प्रत्यासन्नीभवति लभते व्याधिरुदयम्॥
कुटुम्बः स्नेहार्तः प्रतिहतमतिर्लोभकलितो।
मनो जन्मोच्छित्यै तदपि कुरुते नायमसुमान्॥३३॥

भावार्थ—यह आयु गलती जारही है। देहमें सर्व रूप नाश होता जारहा है। बुढ़ापा निकट आता जाता है, रोग प्रगट होरहा है, कुटुम्ब स्नेहसे दुःखी है या आप कुटुम्बके स्नेहसे पीड़ित है तौभी ऐसा लोभी व दुर्बुद्धि प्राणी अपना मन इस संसारके नाशके लिये तय्यार नहीं करता है।

वास्तवमें मोहकी विचित्र महिमा है। इसके नाशके लिये तत्वज्ञानका अभ्यास व जिनेन्द्रकी भक्ति परम कल्याणकारी हैं।

भुजंगप्रयात छन्द।

दशा जग अनित्यं, शरण है न कोई।
अहं मम मई दोष, मिथ्यात्व बोई॥
जरा जन्म मरणं, सदा दुख करे है।
तुही टाल कर्मं, परम शांति देहै॥ १२॥

उत्थानिका-और हे प्रभु! आपने क्या किया सो कहते हैं-

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥१३॥

अन्वयार्थ भाषा टीका-(हि) निश्चयसे (सौख्यं) यह इंद्रिय सुख (शतह्रदोन्मेषचलं) बिजलीके झलकने मात्र चञ्चल है (तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः) तथा तृष्णामई रोगके बढ़ाने मात्रका ही कारण है। (तृष्णाभिवृद्धिः) यह तृष्णाकी बढ़वारी (अजस्रं) निरंतर (तपसि) संताप पैदा करती है (तापः) और यह ताप (तत् आयासयति) इस जगतको अनेक दुःखोंकी परम्परासे क्लेशित रखता है (इति) ऐसा (अवादीः) आपने उपदेश किया है।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने यह बताया है इन्द्रियोंके भोगसे जो सुख माना जा रहा है वह वास्तवमें सुख नहीं है किंतु दुःख रूप है। जगतमें दुःख यदि कोई है तो वह तृष्णाका या इच्छाका ही है। जैसे मृग तृषातुर होकर भटक भटककर पानी न पाकर महान दुःखी रहता है वैसे यह संसारी प्राणी तृष्णाको न शमन करनेके कारण क्लेशित रहता है। इन्द्रियोंका सुख एक तो बिजलीके चमत्कारके समान चंचल है-थोड़ी देर मालूम होता है फिर इच्छाके बदलनेसे शक्तिके अभावसे या भोग्य वस्तुकी अवस्था बद-

लनेसे बंद होजाता है। यदि इच्छानुसार भोग्य पदार्थ न रहा व उसने परिणमन न किया व उसका वियोग हो गया तो वह सुख नष्ट होजाता है। जब कि इस जगतमें सर्व ही चेतन व अचेतन वस्तुएं अपनी अपनी पर्यायसे अनित्य हैं और उन्हींके आधीन इंद्रिय सुखकी मान्यता होती है, तब यह स्वयं सिद्ध है कि यह सुख अत्यंत चञ्चल व नाशवंत है। फिर इस सुखके भोगसे तृष्णा मिटनेकी अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। जितना २ अधिक भोग होगा उतना२ अधिक तृष्णाका रोग बढ़ जायगा। तृष्णा भीतर २ बहुत संताप पैदा करती है। उस तापसे पीड़ित हो, यह प्राणी अनेक प्रकार उद्यम करके क्लेश उठाता है। चाहता है कि तृष्णा मिटे, परन्तु यह नहीं मिटती है। और शीघ्र ही शरीरको छोड़ना पड़ जाता है। बस चाहकी दाहमें जलता हुआ ही आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे मरकर कुगतिका पात्र होजाता है—कुगतिमें जाकर दुःखी दलिद्री मानव, पराधीन पशु व कीड़ा मकोड़ा व वृक्ष आदि या नारकी होजाता है और महान् कष्टोंको भोगता है। इसलिये यह इंद्रिय जनित सुख दुःखका कारण है। सच्चा सुख तो आत्मीक है जो स्वाधीन है तथा अविनाशी है व परम तृप्तिकारक है। कुन्दकुन्द आचार्य श्री प्रवचनसारमें कहते हैं—

सपरं बाधासहिदं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिये हि लेद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तदा॥

अर्थात्—इंद्रियोंका सुख पराधीन है, बाधा सहित है, नाशवंत है, बंधका कारण है व आकुलता रूप व संकल्प विकल्प रूप विसम है। जब कि आत्मीक अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन है, बाधा

रहित है, अविनाशी है, बंधका नाश करनेवाला है व समता रूप है या शांत रूप निराकुल है। इसलिये इंद्रिय सुख तो दुःखरूप ही है। तीर्थंकर महाराजने तो भले प्रकार वस्तुका स्वरूप जानकर ऐसा सत्य प्रकाशमान किया है और यह उपदेश दिया है कि हे जगतके प्राणियो! इन्द्रिय सुखमें तन्मय न हो। एक एक इन्द्रियके आधीन हुआ प्राणी नष्ट होजाता है। तब जो पांचों इन्द्रियोंका दास होगा उसके नाश होनेमें क्या संदेह है? हाथी स्पर्श इंद्रियके वश हो पकड़ा जाता है। मछली रसनाके वश हो जालमें फंस जाती है। भौंरा नाकके वश हो कमलमें बंद हो प्राण गमाता है। पतंगा आंखके वश हो अग्निमें जलकर मर जाता है। हिरण कर्णके वश हो पकड़ा जाता है। ज्ञानीको उचित है कि आत्मीक सुखको ही सुख माने। इंद्रिय सुखमें सुखपनेकी आस्था छोड़ दें। गृहस्थमें रहते हुए जो कुछ इंद्रियोंका भोग हो उसको एक प्रकार आवश्यक्ता व लाचारी जानकर भोग ले। परन्तु उसमें मोहित न होवे। उस भोगको इच्छाके शमनका क्षणिक उपाय मात्र जाने। कषायको दमन न कर सकनेके कारण ही ऐसा भोग भोगते हुए ज्ञानी रात दिन भावना भाता है कि कब कषायका बल घटे कि मैं इन भोग सामग्रीका त्यागकर वैराग्यवान् साधु हो जाऊं। पहले श्रद्धा ठीक करनी चाहिये, फिर चारित्र धीरे धीरे सामने आता जायगा। सम्यग्दृष्टीका निःकांक्षित अंग यही सिखाता है कि इस ज्ञानीकी श्रद्धा अतृप्तिकारी इंद्रिय सुखसे बिलकुल हट जाती है। आत्मिक सुखमें ही सुखपनेकी श्रद्धा जम जाती है यही सम्यक्तका मुख्य चिन्ह है। सुभाषित रत्नसंदोहमें कहा है—

किमिह परमसौख्यं निःस्पृहत्वं यदेतत् ।
किमथ परम दुःखं सस्पृहत्वं यदेतत् ॥
इति मनसि विधाय व्यक्तसंगाः सदा ये ।
विदधति जिनधर्मं ते नराः पुण्यवन्तः ॥१४॥

भावार्थ—परम सुख क्या है ? उत्तर यह है कि वह इच्छा-रहितपना है। परम दुःख क्या है ? उत्तर यह है कि वह इच्छावान्-पना है । ऐसा मनमें समझकर जो मूर्छा त्यागकर जिनधर्मका सेवन करते हैं वे ही मानव पवित्र हैं या पुण्यवान हैं व उनहीने अपना जन्म सफल किया है। धन्य हैं श्री संभवनाथ स्वामी जो आपने ऐसा सत्य स्वरूप बताकर मोही जीवोंको जागृत किया है। आपको मैं वार २ नमन करता हूं । ऐसा भाव श्री समंतभद्राचार्यने इस श्लोकमें झलकाया है ।

भुजंगप्रयात छंद ।

खविजली सम चंचलं, सुखविषयका ।
करै वृद्धि तृष्णामई, रोग जियका ॥
सदा दाह चितमें, कुतृष्णा बढ़ावे ।
जगत दुःख भोगे, प्रभू हम बतावे ॥१३॥

उत्थानिका—लोग कहते हैं कि बंध व मोक्ष आदि तत्वोंकी सिद्धि हे संभवनाथ भगवान ! आपके ही मतमें होसक्ती हैं। जो एकांत मत हैं उनके यहां नहीं होसक्ती—

बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुः बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ।१४।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(बन्धश्च मोक्षश्च) जीवका कर्म पुद्गलोंसे बन्ध होना तथा जीवका कर्मोंसे छूटजाना (तयोः

हेतुः च) और उन बंध और मोक्षके कारण भाव अर्थात् मिथ्यात्व आदि बंधके कारण और सम्यग्दर्शन आदि मोक्षके कारण (बद्धश्च मुक्तश्च) और बंधनेवाला जीव तथा छूटनेवाला जीव (मुक्तेः फलं च) तथा मुक्ति होनेका फल अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंकी पूर्ण प्राप्ति ये सब तत्त्व (नाथ) हे संभवनाथ ! (तव स्याद्वादिने एव) आप स्याद्वाद सिद्धांत बतानेवालेके ही मतमें (युक्तं) सिद्ध होसक्ते हैं (एकांतदृष्टेः न) जो एकांत मतवाले हैं उनके यहां ये बातें नहीं सिद्ध होसक्तीं। (अतः) इसलिये (त्वम् शास्ता असि) आप ही तत्वके यथार्थ उपदेश देनेवाले हैं।

जो पदार्थको क्षणिक मानते हैं उनके मतमें बंधनेवाला और ही ठहरेगा, छूटनेवाला और ही ठहरेगा, बंधका कारण कोई और करेगा, बंधसे मुक्ति किसी और की होगी। जो सर्वथा नित्य ही पदार्थको मानते हैं उनके मतमें परिणमन या बदलना नहीं हो सकेगा। जो बंधा है बंधा ही रहेगा जो मुक्त है वही मुक्त रूप ही रहेगा।

भावार्थ—यहां आचार्यने जैन सिद्धांतकी महिमा वर्णन की है कि श्री तीर्थंकर भगवानने जगतके पदार्थोंको अनेक स्वभाववाला देखा है और वैसा ही वर्णन किया है। जगतमें हरएक द्रव्यका स्वभाव उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। जो ऐसा है वही सत् रूप पदार्थ है। भाव यह है कि हरएक पदार्थ अपने स्वरूपको व अपने गुणोंको अपनेमें सदा बनाये रखता है। न तो द्रव्यका नाश होता है न द्रव्यके गुणोंका नाश होता है। इसलिये हरएक द्रव्य नित्य है, चाहे चेतन हो या अचेतन हो, तौभी हरएक द्रव्य परिणमन-

शील है। अर्थात् उसमें पर्याय या अवस्था होती रहती हैं। द्रव्य व उसके सर्व गुण सदा अवस्थासे अवस्थांतर हुआ करते हैं। जिस समय पुरानी अवस्थाका नाश होता है उसी समय नवीन अवस्थाका उत्पाद होता है। इसलिये हरएक द्रव्य अनित्य भी है। पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्य अनित्य है। गुण व द्रव्यपनेकी दृष्टिसे द्रव्य नित्य है। जैसे सुवर्ण अपने पीत भारी आदि गुणोंको लिये बराबर बना रहता है, यह उसका अनित्यपना है। तौभी उसमें अवस्था बदलती हैं। कुंडलसे कड़ा, कड़ेसे वाली वालीसे मुद्रिका बनती रहती है। जब कुंडलसे कड़ा बना तो कुण्डलकी दशाका नाश हुआ। कड़ेकी दशाका उत्पाद या जन्म हुआ। तब भी सुवर्ण वही ध्रौव्य है। एक मानवको ज्वर चढ़ा हुआ है, जिस समय ज्वर उतरा उस समय ज्वरपनेकी अवस्थाका नाश हुआ, निरोगताका जन्म हुआ और वह जीव तो बना ही हुआ है। किसीके भावमें क्रोध होरहा है, जब शांतभाव होता है क्रोध भावका नाश होता है तथा आत्मा तो बना ही हुआ है। प्रत्यक्ष पुद्गलके दृष्टांतोंसे यह बात समझमें आ जायगी कि हरएक द्रव्य सदा परिणमन किया करता है तो भी सर्वथा नाश नहीं होता है। कपड़ा पुराना पड़ता है, मकान पुराना होता जाता है, वर्तन पुराना पड़ता जाता है, शरीर दिनपर दिन पुराना पड़ता जाता है तौभी जिन परमाणुओंसे कपड़ा आदि बने हैं वे परमाणु जगतमें नित्य हैं—उनका कभी भी विलय न होगा। इसलिये जैन सिद्धांत पदार्थको नित्य अनित्य दोनों रूप भिन्न२ अपेक्षासे मानता है और ऐसा ही प्रत्यक्ष प्रगट भी है। जो मतवादी पदार्थको सर्वथा नित्य मानेंगे उनके मतमें अवस्थाका

बदलना न बन सकेगा तब कोई काम ही न होसकेगा। न गेहूं बनेंगे न रोटी बनेंगी न पेटमें जाकर रस रुधिरादिक रूप बनेगा। न लकड़ी चिर सकेगी न उससे कपाट व घन्नी आदि बनेगी न मकान तय्यार होसक्केगा। तथा जो मतवादी पदार्थको सर्वथा अनित्य या क्षणिक मानेंगे उनके मतमें पदार्थ ठहर ही न सकेगा तब उससे काम ही क्या होगा। यदि सोना हम बाजारसे लाएं और वह नाश होगया तब हमारा सोना लाना ही व्यर्थ होगा। दोनों ही एकांत पक्ष माननेसे बिलकुल काम नहीं चलेगा। दोनोंको ही माननेसे सर्व जगतकी अवस्था सिद्ध होगी। यदि आत्माको सर्वथा नित्य माने तो वह फिर एकसा ही रहेगा, वह कभी संसारसे मुक्त नहीं होसक्ता और जो आत्माको क्षणिक माने तो वह बंधनेवाला नष्ट ही होजायगा तब बंधमें मुक्ति किसकी होगी। विना नित्य व अनित्य दोनों रूप माने बंध व मोक्ष व उनका उपाय व फल आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होसके। यदि जगतमें मात्र एक ब्रह्म ही माना जाय व अनेक जीव मान लिये जावें, परन्तु जड़ या अन्य पदार्थ कोई न माना जावे तो सर्व जीव या एक ब्रह्म सदा शुद्ध अपने स्वभावमें मिलेंगे तब संसार व मोक्षकी व उनके उपायोंकी सर्व कल्पना मिथ्या होजावेगी। और यदि मात्र जड़ ही जड़ होवे, चेतन कोई न होवे तौभी बंध मोक्षादि बन नहीं सक्ता, तब तो किसीको कोई ज्ञान ही नहीं होसक्ता कि मैं मलीन हूं व मुझे शुद्ध होना चाहिये। इसलिये मानना यह पड़ेगा कि महा सतकी अपेक्षा पदार्थ एक है। परन्तु भिन्न २ सतकी अपेक्षा पदार्थ अनेक हैं। जो आत्माको सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनके मतमें भी बंध व मोक्षकी

चर्या व्यर्थ है तथा जो आत्माको सर्वथा अशुद्ध ही मानते हैं, उनके मतमें भी मोक्ष होनेकी कल्पना व्यर्थ है। जैनसिद्धांत कहता है कि यह संसारी जीव निश्चयनयसे या द्रव्यके स्वभावकी दृष्टिसे बिलकुल शुद्ध है तथापि कर्मोंके संयोगकी अपेक्षा अशुद्ध है। सर्वथा एक बात माननेसे कोई भी व्यवस्था धर्मकी नहीं होसक्ती है। जैसी वस्तु अनेक धर्म या स्वभाववाली है वैसा ही कथन जैन सिद्धांतमें है। जब जीव और कर्म पुद्गलोंको जानेंगे और दोनोंमें परिणमन शक्ति मानेंगे व विभाव रूप होनेकी भी शक्ति मानेंगे तब ही यह संभव है कि जीवोंके रागद्वेषादि भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंका कर्म रूप बंध होगा तथा जीवोंके वीतराग विज्ञानमय भावोंके निमित्तसे ही कर्म पुद्गलोंका जीवसे छूटना होगा। सर्वथा एक बातको मानना और दूसरी बातको न मानना किसी भी तरह वस्तुके स्वभावको सिद्ध नहीं कर सक्ता। आप्त मीमांसामें स्वयं स्वामी कहते हैं—

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु॥

भावार्थ—जो एक ही धर्मको मानते हैं अर्थात् जिनका आग्रह है कि एक अद्वैत ब्रह्म ही है व मात्र जड़ ही है, व जीव नित्य ही है या अनित्य ही है, शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है, इत्यादि उनके मतमें शुभ अशुभ भावोंका होना व उनसे कर्मोंका बंध जाना या जीवका परलोक होना व मुक्त होना बन ही नहीं सक्ता है। खेद है कि ऐसे एकांतवादी अपने आत्माको न समझनेसे अपने आपके भी वैरी है व दूसरोंको ठीक स्वरूप न बतानेके कारण दूसरोंके

दूसरोंके भी वैरी हैं, अनेक स्वभाव माननेसे ही पुण्य, पाप, बंध, मोक्ष, लोक परलोककी सिद्धि होसक्ती है। इस अनेकांतका मंडन व एकांतका खंडन आप्तमीमांसामें व उसकी टीका अष्टसती तथा बड़ी टीका अष्टसहस्रीमें भले प्रकार किया गया है। श्री पात्रके-शरीने अपने स्तोत्रमें एकांत मतको दूषण देते हुए कहा है—

> परैपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा।
> प्रमाणविपर्यादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः॥
> कषायविरहाच्च चास्य विनिवंधनं कर्मभि।
> कुतश्च परिनिर्वृत्तिः क्षणिकरूपतायां तथा॥ २१॥

भावार्थ—जो कोई आत्माको सर्वथा नित्य अपरिणामी मानते हैं उनके मतमें प्रमाण प्रमाता प्रमेय, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, स्वामी सेवक अशुद्ध शुद्ध आदि तत्व कुछ नहीं बनेगा और न आत्माके कभी कर्मोंका बंध होगा, क्योंकि वह कभी क्रोधादि कषाय रूप होगा ही नहीं। और जब मोक्षके योग्य भावोंमें परिणमन नहीं हो सकेगा तब मोक्ष भी नहीं हो सकेगा। यही दोष उनके मतमें भी आता है जो आत्माको क्षणिक व अनित्य मानते हैं। जो वस्तु स्थिर नहीं रहती है उसमें कर्ता कर्म आदि कारक या बंध या मोक्ष आदि बिलकुल नहीं बन सक्ते हैं। इसलिये हे संभवनाथ स्वामी! हमने ऐसा निश्चय करके कि आप ही सच्चे वस्तु तत्त्वके उपदेश-दाता हैं आपको पूज्य माना है। और हम आपको ही वारंवार नमस्कार करते हैं।

भुजङ्गप्रयात छन्द।

[illegible] [illegible] जु है मोक्ष बन्धं, व है हेतु उनका।
[illegible] [illegible] बंधा और खुला [illegible]िय, फलं जो छुटनका॥

प्रभू स्याद्वादी, तुम्हीं ठीक कहते।
न एकांत मतके, कभी पार लहते ॥ १४ ॥

उत्थानिका--स्तुतिकर्ता अपनी लघुता बताते हैं--

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः॥१५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(शक्रः अपि) इन्द्र भी जो अवधिज्ञान व सर्व श्रुतज्ञानका धारी होता है (पुण्यकीर्त्तेः) निर्मल कीर्तिधारी व पवित्र वाणीवाले (तव) आपकी (स्तुत्यां प्रवृत्तः) स्तुति करनेमें उद्यम करता हुआ (अशक्तः) असमर्थ हो जाता है (किमु) तब (मादृशः) मेरे समान (अज्ञः) अज्ञानी जो सर्वश्रुत व अवधिज्ञान रहित है कैसे आपकी स्तुति कर सक्ता है (तथापि) तौभी (भक्त्या) भक्तिकी प्रेरणासे (स्तुतपादपद्मः) आपके चरणोंकी जो मैं स्तुति करता हूं सो (मम) मुझे (आर्य) हे गुणोंको आश्रय करनेवाले परम प्रभु (उच्चैः) अतिशय करके (शिवतातिं) मोक्ष-सुखकी संतानको अर्थात् निरंतर मोक्षसुखको (देयाः) प्रदान कीजिये।

भावार्थ-यहां श्री समंतभद्राचार्यने प्रगट किया है कि हे संभवनाथ! आपके आत्मीक व अलौकिक गुण हैं उनकी स्तुति तो बड़े २ इन्द्र भी नहीं कर सके। जो सर्व श्रुतज्ञानके धारी हैं व अवधिज्ञानी होते हैं उनका अनुभव तो आपको ही होसक्ता है, दूसरा अल्पज्ञानी कैसे जान सक्ता है। जब जान ही नहीं सक्ता है तो उनका वर्णन ही कैसे किया जासक्ता है। फिर मैं जो बहुत अल्प शास्त्रज्ञान रखता हूं कैसे आपकी स्तुति कर सक्ता हूं। तथापि आपके गुणोंमें जो मेरा भीतरी अनुराग है उस भावकी

प्रेरणासे जो कुछ मैंने कहा है उससे मेरा यही प्रयोजन है कि मेरी भावना उत्तम हो तथा मैं स्वाधीन आत्मीक आनंदामृतका पान करता रहा करूं, और मुझे कोई कामना नहीं है।

वास्तवमें जो सम्यग्दृष्टी होते हैं वे मात्र स्वानुभवकी ही चाह रखते हैं, वे संसारके क्षणिक पदार्थोंकी चाह नहीं रखते हैं। वे स्वात्मानुभवके ही प्रयोजनसे श्री जिनेन्द्रकी भक्ति करते हैं। परमात्माके गुणोंका मनन परम कल्याणकारी है, उपयोगको निराकुल करनेवाला है, यही भाव पात्रकेसरीस्तोत्रमें झलकाया है–

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता।
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ॥
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्।
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत संविधास्ये स्तुतिम् ॥ १ ॥

भावार्थ–हे जिनेन्द्र ! आपके गुणोंका स्तवन यदि थोड़ा भी किया जावे तो वह सम्पूर्ण कर्मोंके नाशके लिये कारण होता है ऐसा समझकर मेरी बुद्धि हुई है कि मैं अति भक्तिसे हे सर्वज्ञ! आपकी स्तुति स्पष्ट अर्थ व युक्तिको लिये हुए करूँ।

भुजंगप्रयात छन्द।

जहां इन्द्र भी हारता, गुणकथनमें।
कहां शक्ति मेरी तुम्हें थुति करनमें॥
तदपि भक्तिवश पुण्य यश गान करता।
प्रभू दीजिये नित शिवानन्द परता॥ १५॥



(४) श्री अभिनन्दन जिन स्तुति।

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान दयावधूं क्षांतिसखीमशिश्रयत्
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रंथ्यगुणेन चायुजत ॥१६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(गुणाभिनन्दात्) अनंत ज्ञानादि गुणोंका अभिनन्दन करनेके कारणसे (भवान्) आप (अभिनन्दनः) सच्चे सार्थक अभिनन्दन नामधारी चौथे तीर्थंकर हो। आपने (क्षांति-सखीम्) क्षमा रूपी सखीको धरनेवाली ऐसी (दयावधूं) अहिंसा-रूपी वधूको (अशिश्रियत्) आश्रय दिया है। आपने (समाधि-तंत्रः) आत्मध्यान रूप धर्मध्यान या शुक्लध्यानका उपाय किया (च) और (तदुपोपपत्तये) उसी समाधिभावकी प्राप्तिके लिये आपने अपनेको (द्वयेन नैर्ग्रंथ्यगुणेन) दोनों ही अन्तरंग वहिरंग परिग्रह त्यागरूप निर्ग्रंथपनेके गुणसे (अयुजत्) अलंकृत किया।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने वताया है कि श्री अभिनंदन-नाथने केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करके अपने नामको सच्चा द्योतित किया तथा इस कार्यके लिये प्रभूने अहिंसाको पूर्णपने अपनाया। भाव अहिंसाको इतनी प्रबलतासे धारण किया कि राग द्वेष क्रोधादि कषायोंका किंचित् भी आक्रमण अपने आत्मामें न होने दिया। द्रव्य अहिंसाको इतनी सूक्ष्मरीतिसे पाला कि किसी भी स्थावर व त्रस जीवकी हिंसासे परहेज किया। प्रभूने साधु अवस्थामें पृथ्वी देखकर विहार किया। प्राशुक भूमिमें दिनके ही प्रकाशमें चले। वाहनका संबंध किया नहीं। रात्रिको भी मौन रहकर एकांतमें ध्यान किया। एक पत्तीको भी बाधा पहुंचाई

नहीं, जगत मात्रके जीवोंसे अत्यन्त प्रेम किया। इसलिए सर्व प्रकारका गृहस्थी संबंधी आरम्भ छोड़ दिया। अपने शरीरकी रक्षाके हेतु वही भोजन पान स्वीकार किया जो किसी कुटुम्बने अपने लिये बनाया हो, उसीमेंसे जो भाग दिया गया उसे लिया। अपने निमित्त जरा भी आरम्भ नहीं कराया न मनमें ही सोचा कि कोई आरम्भ करे। भिक्षावृत्तिसे अचानक जिस गृहस्थके घर पहुंच गए और उसने भक्ति सहित स्वागत करके हाथमें जो रख दिया उसे ही संतोषपूर्वक ले लिया। और अपने शरीरकी स्थिति रखके आत्मध्यानका साधन किया। मुनियोंकी भिक्षा भ्रामरीवृत्ति कहलाती है। जैसे भ्रमर पुष्पोंसे रस लेता हुआ उनको किंचित् भी बाधा नहीं पहुंचाता है, वैसे साधु दातार ग्रहस्थको जरा भी बाधा नहीं पहुंचाते हैं। न वे अपने लिये खास बनाए हुए मकान मण्डप डेरे इत्यादिमें ठहरते हैं। जैसे उनको उद्दिष्ट आहारका त्याग होता है वैसे उनको उद्दिष्ट वस्तिका स्थानका त्याग होता है। इसीलिये कि उनके निमित्त कुछ भी हिंसा न हो। श्री मूलाचारमें कहा है—

णवकोडी परिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं ।
भुंजन्ति पाणिपत्तं परेण दत्तं परघरम्मि ॥ ८११ ॥

भावार्थ—मुनि मन वचन कायसे, कृतकारित अनुमोदनाके दोषसे रहित दश दोष व १४ मलसे रहित दूसरेके घरमें दूसरेसे दिये जानेपर अपने हाथके पात्रमें भोजन करते हैं—

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा ।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥ ९५० ॥

भावार्थ—साधु पर्वतकी गुफा, मसानभूमि, शून्य घर (उनाड़ हो व उनके निमित्त न किया गया हो) व वृक्षके नीचे, ऐसे वैराग्यसे पूर्ण स्थानोंमें ठहरते हैं।

इस अहिंसाकी सिद्धिके लिये क्षमाको मुनिगण सहचरी या सखी बनाते हैं। इसका भाव यह है कि लाख कष्ट पानेपर व घोर परीसह व उपसर्ग पड़नेपर भी साधुगण क्रोध भावको चित्तमें नहीं लाते हैं। जहां क्षमा सहित अहिंसा है वहीं मुनि धर्म पलता है। कर्मोंका नाश विना पूर्ण वीतरागताके नहीं होसक्ता है। पूर्ण वीतरागता शुद्धोपयोग मई समाधि भावमें प्राप्त होती है। उसके लिये ममता वा इच्छाका त्याग करना होता है। इसीलिये साधुपदमें निर्ग्रंथपनकी जरूरत है। जिसमें यह आवश्यक है कि अंतरंग परिग्रह १४ प्रकार व बाह्य परिग्रह १० प्रकार त्याग दिये जावे। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, मिथ्यात्त्व ये १४ अन्तरंग परिग्रह हैं। क्षेत्र, मकान, धन, धान्य, चांदी, सुवर्ण, दासी, दास, कपड़ा, वर्तन, ये दश बाहरी परिग्रह हैं। निर्ग्रंथ साधु इसीलिये वस्त्रादिका भी त्यागकर नग्न होजाते हैं कि वस्त्र सम्बंधी आरम्भ व परिग्रह न करना पड़े। व शरीरका सुखियापना टले व शरीरको शरदी, गरमी, डांस, मच्छर, लज्जा आदि परीसह शांत भावसे सहना पड़े व इतना आत्मबल बढ़ जावे कि इन परीसहोंके होते हुए भी आत्मामें चित्त एकाग्र रह सके। तथा प्राकृतिक रूपमें रहकर वस्त्रोंकी भी आवश्यक्ताको मिटा दिया जावे। जहांतक वस्त्र त्यागका पूर्णभाव न आवे वहांतक जैन चारित्र ग्रन्थोंमें ग्यारह प्रतिमा तक श्रावकव्रत पालनेका

उपदेश है। ग्यारहवीं प्रतिमा या श्रेणीमें एक शरीरप्रमाणसे छोटी चद्दर व लंगोट रखनेवाला क्षुल्लक व केवल लंगोट रखनेवाला ऐलक कहलाता है। ये दोनों एकाहारी व साधुवत् भिक्षाचारी व संतोषी होते हैं। इन श्रेणियोंमें धीरे धीरे वस्त्रका त्याग बताया गया है। जिससे साधकको शनैः २ शरदी आदि सहनेका अभ्यास होजाता है। मुखको किसी ऋतुमें ढका नहीं जाता है। जैसे एक मुखको आदत पड़ जाती है वैसे सब शरीरको पड़ जाती है।

पात्रकेशरी स्तोत्रमें मुनिचर्याको बताया है—

जिनेश्वर! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥ ४१॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपके मतमें ऊनका व रुईका वस्त्र व भिक्षाका पात्र रखना साधुके लिये हिंसाके कारणसे मना है। जो स्वयं असमर्थ हैं उन्होंने शरीर सुखका कारण समझकर साधुके रखनेकी कल्पना की है। यदि वस्त्र रखना भी साधुका मोक्षमार्ग होजाय तो फिर नग्न होना वृथा ही है, क्योंकि यदि हाथमें वैसे ही फल आजावे तो वृक्षपर चढ़ना वृथा ही होजावे।

जो अन्तरंग निर्मोही हैं, सहनशील हैं, वीर हैं, गाढ़ ब्रह्मचर्यादि गुणोंके धारी हैं, वे ही साधुपदमें उत्कृष्ट धर्मध्यान व शुक्लध्यान साधन करके कर्मोंको काटकर अरहंत होते हैं। श्री अभिनन्दन जिनने इस ही तरह अर्हंत पद प्राप्त किया।

छन्द स्रग्विनी।

आतम गुण वृद्धिते, नाथ अभिनन्दना।
धर अहिंसा वधू, क्षांति सेवित घना॥
आतमय ध्यानकी, सिद्धिके कारणे।
होय निर्ग्रंथ पर, दोय विधि टारणे॥ १६॥

उत्थानिका–दयावधूको आश्रय करके भगवानने क्या किया सो इस श्लोकमें कहते हैं–

अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि ममेदमित्याभिनिवेशकग्रहात्।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान्॥१७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(अचेतने) इस अचेतन जड़ शरीरमें (तत्कृतबन्धजेऽपि) व इस जड़ शरीर व जीवके साथ बंधन होनेके कारण जो आत्माके कर्मोंका बंध होता है उनके फलसे जो सुख दुःखादि होता है व स्त्री पुत्र आदिका संयोग होता है उनमें भी (मम इदम् इति आभिनिवेशकग्रहात्) ये शरीरादि सब मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूं इस मिथ्या अभिप्रायको ग्रहण करके (च) तथा (प्रभंगुरे) नष्ट होनेवाले पदार्थोंकी अवस्थाओंमें (स्थावरनिश्चयेन) नित्य बने रहनेके असत् निश्चयके कारण (जगत्) यह जगत (क्षतं) नष्ट होरहा है अर्थात् जगतके प्राणी कष्ट उठा रहे हैं। उन हीके उद्धारके कारण (भवान्) आपने (तत्त्वम्) यथार्थ जीवादिका स्वरूप (अजिग्रहत्) समझाया।

भावार्थ–यहांपर यह दिखलाया है कि संसारके प्राणी मिथ्यात्वके कारण महान कष्ट भोग रहे हैं। जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी मान लेना व सच्चे वस्तु स्वरूप पर श्रद्धान लाना ही

मिथ्या दर्शन है। यह शरीर प्रत्यक्ष भिन्न है। जड़ परमाणुओंके मिलने विछुड़नेसे बनता विगड़ता रहता है। इससे आत्मा चला जाता है तब वह दग्ध कर दिया जाता है, व गाड़ दिया जाता है तब भी यह मूढ़ जीव इसको अपना मान लेता है। इसमें अहंकारकी बुद्धि कर लेता है कि मैं गोरा हूं, सुन्दर हूं, युवान हूं, राजा हूं, सेठ हूं, ब्राह्मण हूं, क्षत्री हूं, बलवान हूं। तथा इसी जड़ शरीरके संबंधसे ये संसारी जीव रागद्वेष मोह करते हैं उनसे कर्मोंका बंध होता है। कर्मोंके उदयसे सुख या दुःखकी सामग्री प्राप्त होती है या स्त्री पुत्र मित्र सेवकादिका सम्बंध होता है, उनमें भी यह अज्ञानी जीव मेरेपनेकी बुद्धि कर लेता है कि यह ग्राम, नगर, बाग, वस्त्र, आभूषण, धन आदि मेरा है या यह स्त्री, पुत्र, पौत्र, पुत्री, सास, भौजाई, चाचा, ताऊ आदि मेरे हैं। इस तरहके अहंकार व ममकारके कारण ऐसा भूल जाता है कि जो शरीर व धन धान्यादि या स्त्री पुत्रादिका संयोग क्षणभंगुर है। या तो वे नाश हो जांयगे या आपहीको मर करके उनका सम्बंध छोड़ना पड़ेगा। तौ भी यह मूढ़ प्राणी उनको सदा बने रहनेका निश्चय किये रहता है। दूसरोंको तो देखता है कि अमुकका संबंध छूटा अमुक मरा परंतु अपना मरण आनेवाला है इसका किंचित् भी विचार नहीं करता है। इस मोहमई मदिराके नशेमें चूर होकर यह अज्ञानी प्राणी कभी भी आत्मा क्या वस्तु है, आत्मामें क्या क्या अपूर्व गुण भरे हैं, इन सबके जाननेकी तरफ लक्ष्य न देकर इच्छाओंके दासत्वमें उलझा हुआ व उनकी पूर्तिका यत्न करता हुआ न पूर्तिमें व पूर्ति होकर छूट जानेसे उनके लिये

शोक व दुःख मानता हुआ महादीन व आकुलित अवस्थामें जीवन बिताकर व पाप व पुण्य बांधकर नानाप्रकार चारों गतिकी योनियोंमें वारवार जन्म पाकर वारवार कष्ट उठाता हुआ अपना महान बुरा कर रहा है। अहंकार व ममकारका स्वरूप तत्वानुशासनमें श्री नागसेन मुनिने बहुत अच्छा कहा है:—

> शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
> आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः॥ १४ ॥
> ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः।
> तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः॥ १५ ॥

भावार्थ—जो सदा ही आत्मासे जुदे हैं ऐसे शरीर व स्त्री पुत्रादिमें जिनका संबंध कर्मोंके उदयसे हुआ है उनमें अपने पनेका अभिप्राय सो ममकार है। जैसे यह देह मेरी है तथा जो कर्मोंके उदयसे होनेवाले भाव हैं व जो निश्चयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमें अपनेपनेका मिथ्या अभिप्राय सो अहंकार है जैसे मैं राजा हूं इत्यादि।

ऐसे दुःखित जीवोंका कल्याण हे अभिनन्दननाथ! आपकी दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट सम्यक् उपदेशसे हुआ। आपने समझाया कि यह आत्मा बिलकुल भिन्न है, यह तो अविनाशी शुद्ध रागद्वेष मोह रहित परम शांत ज्ञाता दृष्टा आनंदमई स्वयं परमात्मा देव है, यह कर्मोंके द्वारा होनेवाले ठाठोंसे सर्वथा भिन्न है। तथा सच्चा सुख आत्मामें ही भरा है। इसीको श्रद्धान करके सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर व इसी आत्माका ध्यान करके सम्यक्चारित्रका आराधन कर, तो तू यहां भी सुख शांति पावेगा व भविष्यमें भी उन्नति करते २ परमात्मा होजावेगा, संसारके भयानक कष्टोंसे छूट जावेगा। आपने बताया जैसा सारसमुच्चयमें कहा है—

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ—सम्यक्त सहित जीवको निश्चयसे निर्वाणका लाभ है परन्तु जो मिथ्यात्वी है उस जीवका सदा ही संसारमें भ्रमण रहा करेगा।

इंद्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम्।
तच्च कर्मं विबन्धाय दुःखदानैकपंडितम् ॥ ७७॥
रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च।
संगे संगं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं गुरु ॥ १९१ ॥

भावार्थ—इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख सुखसा दिखता है परन्तु सच्चा सुख नहीं है, क्योंकि उससे अनेक दुःख देनेमें चतुर ऐसे कर्मोंका बंध होता है। इसलिये क्रोधको क्रोधमें व मानको मानमें भिन्न जानकर रखदे व परिग्रहमें परिग्रहको छोड़दे और अपने आत्माके आधीन आत्माहीके पास जो सच्चा सुख है उसीका भोग कर।

इस तरहका अपूर्व तत्व हे प्रभु! आपने बताया है, इसलिये आपको वार २ नमस्कार हो।

छन्द स्रग्विनी।

तन अचेतन यही, और तिन योगते ।
प्राप्त सम्बन्धमें, आपपन मानते ॥
जो क्षणिक वस्तु हैं, थिरपना देखते ।
नाश जग देख प्रभु, तत्व उपदेशते ॥ १७ ॥

उत्थानिका—श्री अभिनन्दननाथने किसतरह तत्वका स्वरूप बताया सो कहते हैं—

क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः) भूख प्यास आदि दुःखोंके इलाज करते रहनेसे अर्थात् भोजन-पानादि देकर तृप्ति करते रहनेसे (च) और (इंद्रियार्थप्रभवाल्प-सौख्यतः) इंद्रियोंके पदार्थोंके द्वारा भोगसे उत्पन्न होनेवाले अति थोड़े अतृप्तिकारी क्षणिक सुखसे (स्थितिः न) इस शरीरधारीकी स्थिति शरीरमें सदा नहीं रहती और न तृप्त ही होती है (ततः) इस कारण (देहदेहिनोः) इस शरीरका व उसके भीतर रहनेवाले जीवका (गुणः) उपकार या भला (नास्ति च) बिलकुल नहीं होता है। (इति) अतएव (इदं इत्थं) यह जगत् इस तरहका है ऐसा (भगवान्) श्री अभिनंदननाथने (व्यजिज्ञपत्) प्रगट किया व बताया।

भावार्थ-इस श्लोकमें स्वामी समंतभद्रने कैसा बढ़िया तत्व बताया है, सो विचारनेयोग्य है। शरीरमें शरीरधारी जीव किसी गतिमें आकर रहता है तब दोनोंका ही कुछ उपकार नहीं होता है, किन्तु बुरा होता है। कथा मोही मिथ्यात्वी जीवकी है जिसका अहंकार शरीरमें है व ममकार शरीर संबंधी पर पदार्थोंसे है, ज्ञानी वैरागी शरीरसे उदासीन महात्मा मुमुक्षुकी बात नहीं है। मोही जीव रात दिन भूख प्यासके व तृष्णाके व कामसेवनकी चाहके दुःखोंको मेटनेके लिये जो भोजन पान करता है, मनोज्ञ पदार्थ खाता पीता है, अतर फुलेल लगाता है, नाच गाना देखता सुनता है, अनेक नगर व उपवनोंकी सैर करता है व मनोहर स्त्रियोंका बार २ उपभोग करता है, इन सब इलाजोंको करता है परन्तु न भूख न प्यास न तृष्णा न काम चाह कोई भी व्याधि नहीं मिटती है, उधर शरीर पुराना पड़ता जाता है और मोही जीव कर्मोंको

बांध मैला होता जाता है। इन्द्रियोंके पदार्थोंसे ऐसा थोड़ा व इतना क्षणिक व ऐसा अतृप्तिकारी सुख होता है कि उससे इस मोही संसारी प्राणीको कभी तृप्ति नहीं होती और न उस सुखका यह ही फल होता है कि शरीर व जीव दोनों दीर्घकाल तक टिके रहें। इन क्षणिक भोगोंसे भला तो कुछ होता नहीं उलटा बुरा इतना होता है कि तृष्णाका रोग बढ़ जाता है, तीव्र पाप कर्मका बन्ध होजाता है। जीवको शरीर छोड़ने पर दुर्गति जाना पड़ता है और इस शरीरको जरासे ग्रसित हो व निर्बल अशक्त हो अंतमें मिट्टीमें मिलना पड़ता है। हा! कैसी भयानक संसारी प्राणियोंकी दशा है। इस शरीरके सम्बन्धसे महान कष्ट जीवको भोगना पड़ता है। अतएव इसका सम्बन्ध कुमित्रवत् त्यागने योग्य है। आत्माको शुद्ध कर लेना ही उचित है, जिससे देह कभी न मिले और यह सदाके लिये अपने स्वभावमें स्थिति प्राप्त करले और परम तृप्तिकारक स्वात्मानन्दका लाभ करले। ऐसा परमोत्तम उपदेश हे भगवान अभिनन्दननाथ! आपने जीवोंको दिखाकर उनका परम कल्याण किया है। ज्ञानी जीव ऐसी भावना भाते हैं जैसा सुभाषितरत्नसंदोहमें श्री अमितिगति महाराज कहते हैं—

जिनपतियदभक्तिर्भावना जैनतत्वे विषयसुखविरक्तिर्मित्रता सत्ववर्गे ।
श्रुतिशमयमशक्तिर्मुक्तान्यस्य दोषे मम भवतु च बोधिर्यावदाप्नोमि मुक्तिम् ॥

भावार्थ—जबतक मुक्ति न प्राप्त हो तबतक मेरी भक्ति श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंमें रहे, जैनोंके यथार्थ तत्वोंमें भावना बनी रहे, इन्द्रिय विषयोंके सुखोंमें वैराग्य रहे, सर्व प्राणीमात्रसे मित्रता रहे, शास्त्र विचार, शांतभाव व संयममें बल लगा रहे,

दूसरोंके दोष कहनेमें मौनपना रहे तथा रत्नत्रयमई आत्मज्ञानमें मगनता रहे।

छन्द अग्विनी।

क्षुत् तृषा रोग प्रतिकार बहु ठानते।
अक्ष सुख भोग कर तृप्ति नहिं मानते।
थिर नहीं जीव तन हित न हो दोड़ना।
यह जगत्‌रूप भगवान विज्ञापना॥ १८ ॥

उत्थानिका–परम दयालु भगवानने जगतके उपकारके लिये और क्या कहा सो बताते हैं–

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्त्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित्कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत्॥१९

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–(अतिलोलः अपि जनः) अत्यन्त विषयलोलुपी भी मानव (अनुबन्धदोषतः) परम आसक्तिके वशसे जो इस लोक परलोकमें दुःख मिलते हैं इस दोषसे व (भयात्) राजाके भयसे या परलोकमें दुःखोंके भयसे (इह) इस जगतमें (अकार्येषु) न करने योग्य चोरी, परस्त्री गमन आदि खोटे कार्योंमें (न प्रवर्तते) नहीं प्रवृत्ति करता है। ऐसा साधारण जनताका वर्ताव रहा करता है तब (इह अपि) इस लोकमें भी (अमुत्र अपि) परलोकमें भी दोनोंमें (अनुबंधदोषवित्) विषयासक्तिके दोषसे होनेवाले कुफलोंको जाननेवाला ज्ञानी जीव (कथं) किसतरह (सुखे) इस विषयसुखमें (संसजति) संसर्ग करेगा (इति च अब्रवीत्) ऐसा ही आपने उपदेश किया है।

भावार्थ–इस श्लोकमें कैसा सुन्दर वैराग्यका उपदेश है।

स्वामी समंतभद्रजी कहते हैं कि जब यह जगतमें देखनेमें आता है कि एक साधारण मानव भी, जिसके भीतर विषयभोगोंकी बड़ी ही लोलुपता है ऐसा जानकर कि जो स्वच्छन्द विषयोंमें प्रवृत्ति करूंगा तो अत्यन्त कष्ट उठाऊंगा, शरीर विगड़ जायगा, रोग पैदा होजायगा, पैसेकी अधिक चिंता होगी, बहुत आकुलता होगी, निंदा प्राप्त होगी व परलोकमें भी पापका फल भोगूंगा ऐसा समझकर तथा इस भयसे कि यदि मैं चोरी, परस्त्रीगमन, अन्याय आदि करूंगा तो राजासे दंड पाऊंगा व नरकादिमें कष्ट भोगूंगा, जो न करनेयोग्य काम हैं अर्थात् जिनसे लौकिकमें निंदा हो व राज्यसे दंड मिले व अपना यहां भी बुरा हो व परलोकमें भी बुरा हो उनको कभी नहीं करता है। जब एक सामान्य मानव अयोग्य कामोंसे बच सक्ता है तब जो ज्ञानी है और जानता है कि विषय सुखमें कांक्षा रखनेसे न तृप्ति होती है न इस शरीर व आत्माका भला होता है किसतरह वैषयिक सुखमें लिप्त होगा? अर्थात ज्ञानी सदा ही विषयभोगोंको विषके समान जानकर उनसे उदास रहेगा। वह तो तत्वज्ञानसे यह जानगया है कि आत्मिक सुख ही सच्चा सुख है वही यहां भी इस शरीर व आत्मा दोनोंको हितकारी है व वही मरणके पीछे भी आत्माका उपकारी है तब उसे उसी सच्चे आनन्दमें प्रीति रहेगी। अमृतको अमृत समझ लेनेपर व उसका स्वाद पालेनेपर कौन ऐसा मूर्ख है जो विषवत् विषयसुखमें फंसकर अपना उभयलोकका अकल्याण करेगा? ऐसा वस्तु स्वरूप हे भगवान्! आपने बताया है।

सुभाषित रत्नसंदोहमें कहा है–

"भोगा नश्यन्ति कालात् स्वयमपि न गुणो जायते तत्र कोऽपि।
तज्जीवैतान् विमुच्य व्यसनभयकारानात्मना धर्मबुद्ध्या॥
स्वातंत्र्याद्येन याता विदधति मनसस्तापमत्यन्तमुग्रं।
तन्वन्त्येते तु मुक्ताः स्वयमथगसुखं स्वात्मजं नित्यमर्च्यम्॥४१३॥

भावार्थ–ये भोग समय पाकर नाश होजाते हैं उनसे कोई भी उपकार स्वयं नहीं किया जाता है, इसलिये हे जीव! तू धर्मबुद्धि करके आप ही इस विपत्ति व भयके करने वाले भोगोंको छोड़ दे। क्योंकि यदि ये स्वतंत्रतासे जांयगे तो ये मनको अत्यन्त भयानक ताप पैदा करेंगे और यदि छोड़ दिये जांयगे तो इनके त्यागसे अविनाशी पूजनीय अनुपम आत्मीक सुख प्राप्त होजायगा।

इसलिये ज्ञानी जीव इन क्षणभंगुर विषयभोगोंमें लिप्त न होकर आत्मकल्याणमें अग्रगामी होजाते हैं।

छन्द स्रग्विनी।

लोलुपी भोग जन, नहिं अनीती करे।
दोषको देख जग, भय सदा उर धरे॥
है विषय मग्नता, दोउ भव हानिकर।
तुम क्यों लीन हो, आप मत जानकर॥१९॥

उत्थानिका–विषयोंमें आसक्त होनेसे यहां ही क्या२ दोष होते हैं उन्हें बताते हैं–

स चानुबन्धोऽस्यऽजनस्य तापकृत्तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः॥२०॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–(स च अनुबन्धः) यह ही इंद्रिय भोगोंमें आसक्ति (अस्य जनस्य तापकृत) इस अति लोलुपी

मानवको क्लेश देनेवाली है इतना ही नहीं है, किंतु इससे (तृषोऽभिवृद्धिः) तृषाकी बढ़वारी होती जाती है। जितना धनका व स्त्री पुत्रादिका लाभ होता जाता है उतनी २ वांछा बढ़ती जाती है। यदि चाहे हुए पदार्थ नहीं मिलते हैं तो उनको मिलानेके लिये व यदि होते हैं तो उनकी रक्षा आदिके लिये क्लेशकी परम्परा बनी ही रहती है। विषयसुख पाकर क्या जीवकी स्थिति संताप रहित होसक्ती है ? उसके लिये कहते हैं कि (सुखतः स्थितिः न च) अल्प सुखोंके मिलनेपर भी मानवकी अवस्था सुखरूप नहीं होती, उसका संताप बढ़ जाता है। (प्रभो) हे श्री अभिनन्दन भगवान्! (यतः) क्योंकि (इति लोकहितं मतं) आपका ऐसा जगतके लोगोंका उपकार करनेवाला मत है (ततः) इसलिये (भवान् एव) आप ही (सतां गतिः मतः) विवेकी सज्जन पुरुषोंके लिये शरणरूप व आराधने व भक्ति करने योग्य माने गए हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्य फिर खुलासा करके और भी दृढ़ करते हैं कि इन्द्रिय विषयोंके सुखोंमें जो मगनता है वह इस लोक व परलोकमें क्लेशकारी है। इतना ही नहीं है किन्तु इस जन्ममें ही उनको भोगते हुए कभी भी तृप्ति नहीं होती है, उलटी तृष्णा बढ़ती हुई चली जाती है। जैसे अग्नि ईंधन डालनेसे बढ़ जाती है कभी बुझती नहीं है, वैसे विषयासक्त मानवकी इच्छा विषयभोगसे दिनपर दिन बढ़ती जाती है। वह सुख व संतोषसे रह भी नहीं सक्ता, विषयोंकी प्राप्तिके लिए रात दिन उद्यम किया करता है। यदि नहीं मिलते हैं तो महा संतापित रहता है। यदि मिलते हैं तो उनकी रक्षा व वृद्धिमें लगा रहता है, यदि रक्षा

करते २ उनका वियोग होजाता है तो शोकमें आकुलित होता है। विषयसुखको सुख भोगनेवाला कभी भी सुख व शांति नहीं पासक्ता है। वह वारवार दौड़ २ कर पांचों इन्द्रियोंके नाना प्रकार भोगोंकी तरफ एकको छोड़ दूसरेपर, दूसरेको छोड़ तीसरेपर जाता रहता है भोगता रहता है, संतोष नहीं पाता है। उधर अपना शरीर पुराना पड़ता जाता है, एक दिन मरण यकायक आजाता है, तब भी पछताता है कि अमुक भोग न कर सके व भोग सामग्रीको देखकर रोता है कि हा! सब छूटी जाती है। क्या करूं? तब आर्त परिणामसे पशुगति व नरकगति बांधकर दुर्गतिमें चला जाता है, जहांके कष्टोंका पार नहीं है। फिर ऐसा नरजन्म मिलना जिसमें पांच इंद्रिय व मन हो व विवेक करनेकी शक्ति हो बहुत कठिन होजाता है। उसका आत्मा महान दीन हीन दुःखी होजाता है। धिक्कार है इस विषयासक्तिको, जो यहां भी जन्मभर संताप पैदा करती है और परलोकमें भी क्लेशमें डाल देती है, आत्माका अत्यन्त बुरा करनेवाली है। धन्य हैं हे प्रभु! आपने ऐसा सुन्दर व परम हितकारी सत्य स्वरूप बताकर लोगोंको समझाया है कि इस क्षणभंगुर व अतृप्तिकारी विषयसुखमें लीन न हो। किन्तु अपने ही आत्मामें उसे स्वाधीन आनंद भरा हुआ है व जिससे तृप्ति होती है व जिसकी उपमा नहीं है ऐसे सुखके लिये यत्न करो। जिस तरह हमने राज्यपाट गृह कुटुम्बको त्यागकर आत्मीक सुखका लाभ किया उसतरह तुम भी करो। इस परमोपकारी उपदेशके देनेवाले आप ही सर्वज्ञ वीतरागी प्रभु हैं, ऐसा पहचानकर सज्जन विवेकी पुरुष आपकी ही स्तुति करते हैं व आपकी ही शरणमें

अते हैं व आपकी ही पूजा करते हैं क्योंकि आप सच्चे तत्त्वके बतानेवाले व उसपर पहुंचानेवाले हैं इसलिये आपकी ही शरणसे भक्तिको सच्चे तत्त्वका लाभ होगा और वह आपके ही आदर्शको पहुंच जायगा।

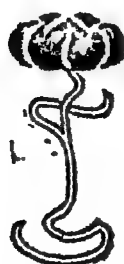
सुभाषित-रत्नसंदोहमें इन्द्रियसुखके संबंधमें कहा है-

असुरसुरनराणां यो न भोगेषु तृप्तः ।
कथमपि मनुजानां तस्य भोगेषु तृप्तिः ॥
जलनिधिजलपाने यो न जातो वितृष्ण-
स्तृणशिखरगताम्भः पानतः किं स तृप्येत् ॥ ६ ॥

भावार्थ-जो जीव धरणेंद्र, इन्द्र व चक्रवर्ती आदिके भोगोंमें तृप्त न हुआ वह किसतरह साधारण मानवीय भोगोंमें तृप्ति पासक्ता है? जो समुद्रके जलपानसे अपनी तृष्णाको न बुझा सका वह तिनकेकी नोकपर रक्खे हुए जलके पीनेसे कैसे तृप्त होगा?

स्रग्विनी छन्द।

है विषयलीनता, प्राणिको तापकार ।
है तृषा वृद्धिकर, हो न सुखमें वरर।
हे प्रभो! लोकहित, आप मत मानके ।
साधुजन शर्ण लें, आप गुरु मानके ॥ २० ॥



(५) श्री सुमति तीर्थंकर स्तुतिः।

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्वसिद्धिः ॥२१॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(त्वं) आप सुमतिनाथ (अन्वर्थसंज्ञः) अपने नामके समान यथार्थ अर्थको रखनेवाले हो। आप (मुनिः) प्रत्यक्षज्ञानी हो (सुमतिः) शोभनीक ज्ञानके स्वामी हो (येन) जिसने (स्वयं) अपनेसे ही (सुयुक्तिनीतं) सुन्दर गाढ़ युक्तियोंसे सिद्ध किया गया जीवादि तत्वका स्वरूप (मतं) अंगीकार किया है। अर्थात् प्रमाण व नयसे सिद्ध होनेवाला तत्व बताया है (यतश्च) इसीसे ही (शेषेषु मतेषु) आपके अनेकांत मतके सिवाय दूसरे एकांत मतोंमें (सर्वक्रियाकारकतत्वसिद्धिः नास्ति) सर्व प्रकारकी क्रिया तथा सर्व कर्ता आदि कारकोंके स्वरूपकी सिद्धि नहीं होसक्ती। यदि क्षणिक एकांत पक्षको लें जो यह कहता है कि वस्तु सर्वथा क्षण मात्रमें नाश होजाती है तो फिर कार्य होनेके क्षणमें सर्वथा वस्तु नहीं रह सक्ती। तब जगतमें कोई कार्य नहीं बन सकेगा। हरएक कार्य गधेके सींगके समान होजायगा। यदि नित्य एकांत पक्षको लें, जो जिसमें परिणाम या विकार या बदलना नहीं होसकेगा। उसमें भी आकाशके फूलके समान कार्य व कारण भाव रहेगा।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि—हे सुमतिनाथ! आपका जो सिद्धांत है वह यथार्थ है। क्योंकि न्यायकी युक्तियोंसे वही अबाध सिद्ध होता है। आप तो वस्तुको जैसी है वैसी बताते हैं। वस्तु

अनेक स्वभावोंको एक काल रखनेवाली है इसलिये वह अनेकान्त है। वस्तु किसी अपेक्षासे अस्तिस्वभाव है, किसी अपेक्षा नास्ति स्वभाव है, किसी अपेक्षा एक स्वभाव है किसी अपेक्षा अनेक स्वभाव है। किसी अपेक्षा नित्य स्वभाव है किसी अपेक्षा अनित्य स्वभाव है। ऐसा ही आपने बताया है तब ही आपके मतके अनुसार जगतमें कारण कार्य सब बन जाते हैं व कर्ता कर्म करण आदि कारक भी सिद्ध होजाते हैं। परन्तु आपके विरुद्ध जो मत हैं जो एक ही स्वभाव या अंतको सर्वथा वस्तुमें माननेवाले एकांती हैं उनके मतमें वस्तुका स्वरूप बन ही नहीं सक्ता। यदि सर्वथा वस्तुको नित्य या सर्वथा अनित्य माने तो क्या दोष होगा उसे स्वामी आप्तमीमांसामें बताते हैं—

> पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः।
> बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः॥ ४०॥
> क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः।
> प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम्॥ ४१॥

भावार्थ—यदि पदार्थको सर्वथा नित्य माना जावे तो यह आत्मा किसी प्रकारके शुभ भावोंको नहीं कर सकेगा। इसमें पुण्य बन्धके कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव न होंगे न हिंसा असत्य आदिके अशुभ भाव होंगे, जो पाप बन्धके कारण हैं। न पापोंका क्षय होगा, न पुण्यका लाभ होगा। जब क्रिया न होगी तो किसतरह पुनर्जन्म होगा? और वहां क्या सुख दुःखरूप फल होगा? तब न तो कर्मका बन्ध बनेगा और न कर्मोंसे मुक्ति बनेगी। और यदि पदार्थको सर्वथा क्षणिक माना जावेगा कि क्षणभरमें बिलकुल नाश होजाता है तौभी पुण्य पापका

कार्य नहीं होसकेगा। न परलोक सिद्ध होगा, न सुख दुःखरूप फल सिद्ध होगा, न प्रत्यभिज्ञान होगा कि यह वस्तु वही है जो पहले थी, न स्मरण होगा। क्योंकि जाननेवाला नाश ही होगया। और न किसी कामको प्रारम्भ ही किया जासकेगा। और न इसका कोई फल ही मिल सक्ता है। दोनों ही एकांत पक्ष माननेसे भोजन ही तैयार नहीं होसक्ता न क्षुधा मिट सक्ती है। सर्व वस्तु नित्य पक्षमें एकसी रहेंगी, अनित्य पक्षमें नाश होजायगी।

परन्तु श्री जिनेन्द्र भगवानने बताया है कि वस्तु नित्य और अनित्य दोनों स्वभाव है। जैसा कहा है–

नित्यं तत् प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥ ५६॥

भावार्थ–वस्तु नित्य है इस अपेक्षासे कि ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है जिसे पहले देखा था। यह वही देवदत्त है जिसे पहले देख चुके हैं। यह वही घर है जहां कल बैठे थे। यह ज्ञान अकस्मात् नहीं होता है, किन्तु बराबर चला जाता है। वस्तु अनित्य भी है, क्योंकि कालकी अपेक्षा उसमें परिणाम या अवस्था बदल जाती है। जो बालक था वह युवान होगया है। तब बालकपना नाश होगया है, युवापना प्रगट है तथापि जिसमें यह अनित्य पर्यायें हुई वह वस्तु नित्य है। ऐसा ही हे भगवन्! आपका मत है। वस्तु एक कालमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसा कहा है–

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादिसत्॥ ५७॥

भावार्थ–वस्तु सामान्य रूपसे न तो जन्मती है न नाश होती है बराबर चली जाती है यह बात प्रगट है। परन्तु विशेष

या पर्यायकी अपेक्षा उपजती भी है नाश भी होती है। इस तरह एक ही वस्तुमें एक काल उत्पाद विनाश व स्थिरपना पाया जाता है। सामान्य स्वभावकी अपेक्षा स्थिरपना है विशेषकी अपेक्षा उत्पत्ति व नाश है। सुवर्णका कंकण तोड़कर कुण्डल बनाया गया। सुवर्ण दोनोंमें सामान्य है सो बना रहता है। विशेष जो कंकण सो नाश होता है तब कुण्डल विशेष पैदा होता है। हे सुमतिनाथ! आपका ऐसा गाढ़ व सुन्दर मत है। सो ही होसक्ता है, क्योंकि आप केवलज्ञानी हैं। आपने यथार्थ जानकर वैसा ही यथार्थ बताया है।

त्रोटक छन्द।

मुनि नाथ सुमति सत् नाम धरे।
सत् युक्तिमई मत तुम उचरे॥
तुम भिन्न मतोंमें नाहिं बने।
सब कारज कारक तत्त्व घने॥ २१॥

उत्थानिका—ऐसा जो आपका युक्तिसहित मत है उसीको आगे दिखाते हैं—

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपाचरोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेपलोपोऽपि ततोनुपाख्यम्॥२२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(तत्त्वं) जीवादि तत्त्व (अनेकं) अनेक स्वभाव रूप है क्योंकि एक ही जीवमें कभी सुख कभी दुःख कभी बाल कभी कुमार कभी युवान आदि अवस्थाएं देखनेमें आती हैं। (तदेव च एकं) वही जीवादि तत्व एक रूप भी है क्योंकि अपनी सर्व पर्यायोंमें वही एक द्रव्य है। (इदं
यह भेद ज्ञान और अभेद ज्ञान अर्थात

पनेका ज्ञान व द्रव्यकी अपेक्षा एकपनेका ज्ञान (सत्यं) सत्य है, वास्तविक है बाधा रहित है (उपचारः) यदि दोनोंमें एकको तो मानोंगे व एकको मात्र उपचार व आरोप मात्र व कल्पना मात्र मानोंगे। अर्थात् एकरूप तत्व मानने वाले अनेकको उपचार कहें व अनेकरूप मानने वाले एकको उपचार कहें यह उपचार विना यथार्थ वस्तु स्वरूपके तो (मृषा) मिथ्या ही है। क्योंकि (अन्यतरस्य लोपे) इनमेंसे एक किसी स्वभावका लोप कर देनेसे अर्थात् सर्वथा एकरूप व सर्वथा अनेक रूप माननेसे (तच्छेष-लोपः अपि) उस शेष दूसरेका भी लोप हो जायगा। क्योंकि द्रव्य पर्यायके विना नहीं रहता और पर्याय द्रव्यके विना नहीं रहती। यदि द्रव्यको मानो और पर्यायको न मानो तो दोनोंका अभाव होगा और यदि पर्यायको मानो द्रव्यको न मानो तो दोनोंका अभाव होगा (ततः अनुपाख्यं) तब वस्तुका स्वभाव मिट जानेसे वस्तुका कथन भी नहीं बन सकेगा। इससे यही मत ठीक है कि वस्तु भेद व अभेद उभय स्वरूप एक कालमें हैं। यही हे सुम-तिनाथ! आपका यथार्थ मत है।

भावार्थ—इस श्लोकमें आचार्यने बताया है कि हरएक जीव व अजीव एक व अनेक रूप है। दोनों ही स्वभाव उसमें हरएक समयमें पाए जाते हैं। द्रव्यकी अपेक्षा एकरूप है पर्यायकी अपेक्षा अनेकरूप है। द्रव्य पर्याय बराबर साथ पाई जाती हैं, जैसे मिट्टी द्रव्य है उसका घड़ा, प्याला, मटकैना आदि अवस्थाएं बनीं। इन अव-स्थाओंकी अपेक्षा मिट्टी अनेकरूप है परन्तु इन सबमें वही मिट्टी है इसलिये मिट्टीकी अपेक्षा एकरूप ही है। कोई द्रव्य विना

परिणामके नहीं रह सकता है। परिणाम समय समय होते रहते हैं कभी सदृश परिणाम होते हैं कभी विसदृश होते हैं तथापि जिस द्रव्यमें परिणाम होते हैं वह द्रव्य बना रहता है। यह जीव निगोदमें था वही जीव एकेंद्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचेंद्रिय पशु होकर, मानव हुआ और मानवसे मोक्षगतिमें चला गया। यहां भिन्न २ पर्यायोंकी अपेक्षा जीव अनेकरूप है तथापि द्रव्य वही है जीव वही है इसकी अपेक्षा वह जीव एकरूप भी है। सं० टीकाकारने बताया है कि बौद्धोंने तो आजकल यह मान रक्खा है कि तत्वपर्याय मात्र है उसको द्रव्य कहना या वही कहना जो पहले था यह मात्र अनादि अविद्याके कारण कल्पना है, इसलिये भेदज्ञान व अनेकताका ज्ञान ठीक नहीं है। तथा सांख्योंका ऐसा मानना है कि जीवादि द्रव्य ही वास्तविक है उसमें सुख दुःख आदिकी पर्याय वास्तविक नहीं है, उपाधि मात्र ही है। अर्थात् बौद्ध तो एकपनेको उपचार व सांख्य अनेकपनेको उपचार रूप मानते हैं। इसपर यह अनेकांतका कहना है ये दोनों ही पक्ष एकांत होनेसे ठीक नहीं है। क्योंकि उपचार वहीं होता है जहां मुख्य न होते हुए किसी प्रयोजनसे मुख्यकी कल्पना की जावे। जैसे कोई बालक बहुत पराक्रमी है तब उसको देखकर यह कहना कि यह सिंह है। यहां बालकमें सिंहपना नहीं है किंतु कोई एक गुणकी सदृशता करनेके लिये सिंहकी उपमा दी है। परन्तु यह उपचार बालकमें बे मतलब नहीं है। इस प्रयोजनसे है कि उसमें सिंहके समान साहस है। यह स्त्री चन्द्रमुखी है। स्त्रीको चंद्रमुखी कहना इसी प्रयोजनसे है कि उसके मुखकी गोलाई व शांति चंद्र-

माके समान है। झूठा उपचार नहीं होसक्ता। यदि बौद्धमतमें एक-पना व सांख्यके मतमें अनेकपना कोई वस्तु ही नहीं है-झूठा ही है। तब उपचारसे है यह कहना भी व्यर्थ है। जब हरएक द्रव्य पर्यायोंको रखता है और पर्यायें द्रव्य विना नहीं होतीं तब यह स्वतः सिद्ध है कि एक द्रव्य अनेक पर्यायोंको रखनेसे अनेकरूप है। हम यदि द्रव्यको माने, पर्यायको न माने या पर्यायको माने, द्रव्यको न माने तो दोनों ही न रहेंगे। हम यदि सुवर्णके कंकण पर्यायको तो मानें परन्तु कहें यह सुवर्ण नहीं है। या कंकण कुंडल आदिको मात्र सुवर्ण ही कहें, कंकण कुंडलके आकाररूप पर्यायको न माने तो हमारा कहना व मानना बन ही नहीं सक्ता है। क्योंकि जब वह सुवर्णका बना हुआ कंकण है तब सुवर्ण पहले था वही यह सुवर्ण है ऐसा होनेसे सुवर्ण द्रव्य सिद्ध होजाता है। पहले कुण्डल था अब वही कंकण है, ऐसा होनेसे एक ही सुवर्णमें कुण्डल व कंकण ऐसा अनेकपना सिद्ध होगया। इसलिये एकको न माननेसे कोई भी नहीं ठहर सक्ता है। और जब कोई तत्व ही न रहेगा तब उसका कथन ही असंभव होगा इसलिये एक व अनेक उभय रूप वस्तुको मानना यही सत्य है व ऐसा ही हे सुमतिनाथ! आपका मत है। आप्तमीमांसामें भी कहा है—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृतिः।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥

भावार्थ—पदार्थमें भेद व अभेद कहना प्रमाणसे सिद्ध है उपचार मात्र व आरोप मात्र नहीं है। एकहीमें विना किसी विरो-धके भेद व अभेद सिद्ध हैं। वर्णन करते हुए एक समय एकको

-ही कह सक्ते हैं इसलिये किसीको गौण व किसीको मुख्य कहना पड़ता है।

त्रोटक छन्द।

है तत्व अनेक व एक वही, तत्र भेद अभेदहि ज्ञान सही।
उपचार कहो तो सत्य नहीं, इक हो अन ना वक्तव्य नहीं ॥१२॥

उत्थानिका—जैसे जीवादि तत्व द्रव्य पर्याय स्वरूप है ऐसा दिखाया है वैसे वह भाव व अभाव रूप भी है ऐसा बताते हैं—

सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥१३॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सतः) जो कोई सत् रूप विद्यमान आत्मा आदि तत्व है वह अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे है, उसीमें (कथंचित्) किसी अन्य अपेक्षासे अर्थात् पर चतुष्टयकी अपेक्षासे (असत्त्वशक्तिः) असत्ता या अविद्यमानपनेकी प्रतीति है। वस्तु स्वस्वरूपादिकी दृष्टिसे नास्तिरूप है। वस्तुमें अपना वस्तुपना तो है, परन्तु अन्य वस्तुपना नहीं है। जैसे (पुष्पं) फूल (तरुषु प्रसिद्धं) वृक्षोंमें सिद्ध है, परन्तु (खे नास्ति) आकाशमें नहीं है। इसलिये तत्व उभयरूप है अस्तिरूप भी है नास्तिरूप भी है। यदि मात्र अस्ति ही स्वरूप हो, अभावपना स्वरूप न हो तो सर्वथा भावरूप होनेसे परकी अपेक्षा भी भावरूप होजावे। ऐसा हो तो जैसे वृक्षमें फूल है वैसा आकाशमें भी होजावे, यह बात प्रतीतिमें नहीं आसक्ती। इससे जो सर्वथा भाववादी व अस्तित्व-वादी हैं उनका मत ठीक नहीं है। इसी तरह यदि अभावरूप-पना ही वस्तुका स्वरूप माना जावे तो जैसे पर चतुष्टयकी

अपेक्षा तत्व अभाव रूप है। वैसे स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भी अभाव रूप होवे। ऐसा होनेपर जैसे आकाशमें पुष्प नहीं होता है वैसा वृक्षमें भी न होवे। सो वह बात प्रतीतिमें नहीं आसक्ती। इसतरह जो सर्वथा शून्यवादी हैं उनका मत भी ठीक नहीं है। (सर्वस्वभावच्युतं) जो तत्व सर्व स्वभावोंसे रहित हो अर्थात् उसमें अस्तित्व नास्तित्व आदि स्वभाव एक कालमें न हों तो वह (अप्रमाणं) प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसक्ता; क्योंकि (स्ववा-ग्विरुद्धं) उनके ही वचनसे विरोध आजावेगा। यदि मात्र एक अस्तिरूप अर्थात् अद्वैत ही मानेंगे तो प्रमाण करते हुए द्वैत आजायगा और यदि शून्य मानेंगे तौभी प्रमाणित कैसे किया जायगा। और ऐसा एकांत तत्व (त्वद्दष्टितः अन्यत्) आपके अनेकांतमई मतसे विरोधरूप है।

भावार्थ-यहां आचार्यने समझाया है कि हे भगवन्! आपका सिद्धांत यथार्थ वस्तुका स्वरूप बताता है। हरएक जीव आदि पदार्थ अपने स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावकी अपेक्षासे अपनी सत्ता या मौजूदगी रखता है अर्थात् भावरूप या अस्तिरूप है। स्वद्रव्यसे प्रयोजन अखंड समुदाय अपने ही गुण व पर्यायोंका है। स्वक्षेत्रसे मतलब अपने ही प्रदेश व अपना ही क्षेत्र जिसमें वह पदार्थ है। स्वकालसे मतलब प्रत्येक समयकी अपनी अवस्था जो काल द्रव्यके निमित्तसे हुआ करती है। स्वभावसे मतलब अपना ही स्वभाव व अपने ही गुण हैं। इन चारोंका समुदाय एक पदार्थ है। जैसे जीव द्रव्यका स्वद्रव्य अनन्त गुणादिका समुदाय एक अखण्ड पिंड है। स्वक्षेत्र उसीके असंख्यात प्रदेश हैं। स्वकाल-

उस जीवकी वर्तमान अवस्था है या पर्याय है। स्वभाव उसके ज्ञानादि गुण हैं। हरएक जीव अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे है। या उसमें उसका अस्तित्व या भावपना है तब उसी-समय उसमें अन्य समस्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व कालका अभाव है। इसलिये जीव स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप है तब ही पर चतुष्टयकी अपेक्षा अभावरूप है। न वह सर्वथा भावरूप है न वह सर्वथा अभावरूप है। यदि मात्र भावरूप ही माना जायगा तब एक जीवमें किसीका अभाव ही न सिद्ध होगा और यदि अभावरूप ही माना जायगा तो कुछ वस्तु ही न रहेगी।

एक-रूप ही माननेसे कोई ऐसा माननेवाला अपने कथनको सिद्ध नहीं कर सकेगा। सर्वथा अद्वैत या एकरूप माननेसे सिद्ध करनेके लिये साधक व साध्य दो कहने पड़ेंगे सो नहीं बनेगा।

सर्वथा शून्य माननेसे तत्त्व ही न रहेगा। इसलिये यह मानना उचित है कि तत्त्व भाव अभावरूप है या अस्तिनास्तिरूप है। आत्ममीमांसामें स्वामीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है—

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥
अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥
अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥ १७ ॥

भावार्थ—यदि पदार्थको एकांतसे भावरूप ही माना जावे और अभावपना न माना जावे तो यह दोष होगा। पदार्थ सर्वरूप या विश्वरूप होजायगा। यदि दो रूप होगा तो एकका दूसरेमें

अभाव आजायगा तथा वह पदार्थ अनादि अनंत होजायगा, क्योंकि पहले व पीछे कभी किसी तरह उसका अभाव नहीं होसकेगा। फिर तो जगतमें न कोई नया काम बनेगा न पुराना काम बिगड़ेगा। सो ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि मिट्टीसे घड़ेकी पर्याय बनी व घड़ेका अभाव होकर ठीकरे बने। जो गेहूं पहले न थे वे उत्पन्न होगए, गेहूंका अभाव होकर चून होगया। इस तरह पर्यायका अभाव बराबर होता है। तथा जब जीव व जड़ दो द्रव्य हैं बिलकुल पृथक् हैं तब एक दूसरेमें अभाव मानना ही पड़ेगा। एक द्रव्यकी दो पर्यायें घट व लोटा एक ही कालमें हैं इसमें भी घटका अभाव लोटामें व लोटाका अभाव घटमें है। ऐसा आपका मत नहीं है। यदि पदार्थको अभावरूप ही माना जावे भावपना होय ही नहीं तो फिर इसके समझानेके लिये ज्ञान व वचन कुछ न रहेगा न कोई प्रमाण रहेगा जिससे अपने पक्षका साधन हो व पर पक्षको दूषण दिया जावे।

इसलिये वस्तु स्वरूप ऐसा मानना उचित है कि जहां व जिस धर्मी पदार्थमें अपने स्वरूपसे अस्तिपना है या भावपना है वहां परकी अपेक्षा नास्तिपना व अभावपना अवश्य है। जहां हमने एक वस्तुको कहा कि यह सुवर्ण है तब सुवर्णका भावपना तब ही होगा जब उसमें सुवर्ण सिवाय चांदी लोहा पीतल आदिका अभावपना है। जैसे जिस पदार्थमें जो जो विशेषण होता है वह अपना विरोधी भी रखता है। जैसे जलमें शीतपना है परन्तु उष्णपना नहीं है। शीतपनेका भाव व उष्णपनेका अभाव है। इसलिये हे सुमतिनाथ! कथंचित सत् कथंचित असत जो वस्तुका

स्वरूप आपने कहा है वह ही ठीक है।

त्रोटक छन्द।

है सत्व असत्व सहित कोई नय, तरु पुष्प रहे न हि व्योम कलप।
तव दर्शन भिन्न प्रमाण नहीं, स्व स्वरूप नहीं कथमान नहीं ॥२३॥

उत्थानिका–जीवादि तत्त्वोंमें एक काल सत् असत्पना प्रतिपादन करके व एकांत पक्षको दूषण देते हुए क्रमसे उसीका ही वर्णन करते हैं—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमःपुद्गलभावतोऽस्ति॥२४

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–(सर्वथा) सर्व प्रकारसे (नित्यं) वस्तु नित्य ही है एकरूप ही रहनेवाली है ऐसा एकांत मान लेनेसे (न उदेति अपैति) न उसमें कोई अवस्था प्रगट हो सक्ती है न किसी अवस्थाका नाश होसक्ता है। यदि योग, सांख्य व मीमांसकोंके अनुसार तत्वको सर्वथा नित्य ही माना जावे। अर्थात् जैसे वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है वैसे ही वह पर्यायकी अपेक्षा भी नित्य कल्पना की जावे तब उत्पत्ति व विनाश संभव नहीं है। आगेकी अवस्थाका स्वीकार व पिछली अवस्थाका नाश हो नहीं सक्ता। यदि वस्तुमें क्रिया व कारक होंगे तो उत्पाद व्यय स्वभाव रहना ही चाहिये परन्तु (अत्र) यहां सर्वथा नित्य माननेसे (न च क्रियाकारकं युक्तं) न तो गमन आदि क्रिया होसक्ती है न कोई कर्ता कर्म करण आदि कारक ही सिद्ध होसक्ते हैं। जो जैसा है वह वैसा ही रहेगा। जो गमन करता होगा वह गमन ही करता रहेगा, जो ठहरा होगा वह ठहरा ही रहेगा। उसने

काम किया, यह करेगा यह कोई कारक नहीं बनेगा। जैसा सर्वथा नित्य माननेमें उत्पत्ति व विनाश नहीं बनता है वैसा ही सर्वथा अनित्य या क्षणिक माननेसे भी नहीं बन सक्ता क्योंकि (असतः जन्म न) जो वस्तु आकाशके फूलके समान है ही नहीं उसका जन्म हो नहीं सक्ता (सतः नाश च) और जो पदार्थ है उसका सर्वथा नाश नहीं होसक्ता। यदि कोई कहे कि दीपक जल रहा है उसको बुझा दिया जाय तो प्रकाशका सर्वथा नाश हो ही गया उसका समाधान करते हैं कि (दीपः तमः पुद्गलभावतः अस्ति) प्रकाश अंधकार रूप पुद्गल रूपसे रहता है। प्रकाश और अंधकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं। प्रकाशकी अवस्थामें जो पुद्गल द्रव्य था वही अंधकारके रूपमें होजाता है। मात्र पर्याय पलटती है, पुद्गलका नाश नहीं है।

भावार्थ–इस श्लोकमें यह भाव झलकाया है कि सत् पदार्थका न सर्वथा नाश होता है न असत् पदार्थकी उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत अखंड है। तथापि जगतमें उत्पत्ति व विनाश तो देखनेमें आता है। एक दूधसे दही बना तब दहीकी उत्पत्ति हुई, दूधका नाश हुआ। एक सुवर्णके कुंडलको तोड़ कर कड़ा बना। तब कुण्डल विनशा कड़ा बना। ऐसे कार्योंके होनेमें मात्र अवस्था या पर्याय पलटी है। जिस द्रव्यमें अवस्थाएं हुई वह ध्रुव या नित्य है। गोरसमें दूध व दहीकी अवस्थाएं पलटी गोरस दोनोंमें है। सुवर्णमें कुण्डल व कड़ेकी अवस्था पलटी, सुवर्ण दोनोंमें कायम है। इससे यह सिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा न नित्य है न अनित्य है। वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है वही पर्यायकी अपेक्षा

अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य माना जावेगा तो कोई भी कोई काम न कर सकेगा। तब जगतमें कोई भी काम न होगा। सब एकसे ही रहेंगे। जो चलता है वह चलता ही रहेगा कभी ठहरेगा नहीं। जो ठहरा है कभी चले ही नहीं। जो सूता है वह सूता ही रहेगा, जो जागता है वह जागता ही रहेगा। न रूईका सूत बनेगा न सूतसे कपड़ा बुना जायगा न कपड़ेसे कोट बनेगा इसी तरह यदि सर्वथा वस्तुको अनित्य माना जायगा तो नाशके पीछे कुछ भी रहना न चाहिए सो ऐसा देखनेमें नहीं आता। यदि कपड़ेको जलाया जावे तो राखकी उत्पत्ति होजाती है। यदि मकानको तोड़ा जाय तो लकड़ी इंट आदि रूपमें प्रगट होजाते हैं। यदि प्रकाशको नाश किया जाय तो अंधकार रूपमें होजाता है। सर्वथा उत्पत्ति व सर्वथा नाश तो किसीका होता ही नहीं। जो पदार्थ होगा उसीमें उत्पत्ति अवस्था मात्रकी होगी और जब किसी अवस्थाकी उत्पत्ति होगी तब पहली अवस्थाका नाश अवश्य होगा। उत्पन्न होना भी अवस्थाका ही है, नाश होना भी अवस्थाका ही है। जिसमें ये दोनों बातें होती हैं वह द्रव्य बना रहता है। सर्वथा वस्तु नित्य है व सर्वथा क्षणिक है; दोनों ही बातें सिद्ध नहीं होसक्तीं। वस्तु नित्य अनित्य उभय रूप है, यह अनेकांत सिद्धांत हे सुमतिनाथ! जो आपका है वही सिद्ध होता है। सामान्य द्रव्य कभी उपजता नहीं विनशता नहीं, सदा बना रहता है इस कारण तत्त्व नित्य है। उसमें विशेषपना या पर्यायपना होता है इससे रहता वह अनित्य भी है। ऐसा ही स्वामीने आप्तमीमांसामें भी बताया है—

यदि सत् सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणामप्रकॢप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥
यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
नोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥
न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादिसत् ॥ ५७ ॥

भावार्थ—यदि सर्वथा सतरूप या नित्यरूप माना जावे तो जैसे पुरुष व आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती है वैसे किसी घट पट आदि कार्यकी भी उत्पत्ति न बने। नित्य पक्षका एकान्त माननसे अवस्थाकी पटलनेकी व्यवस्था बन ही नहीं सक्ती। और यदि सर्वथा वस्तु असत् मानी जावे अर्थात क्षणिक थी सो नाश होगई ऐसा माना जावे तौभी कोई कार्य नहीं होगा। जैसे आकाशसे फूल नहीं होते वैसे घट पट आदि काम न बनेंगे न यह नियम ही रहेगा कि उपादान कारणके समान कार्य होता है अर्थात जैसी मिट्टी होगी वैसे उसके वर्तन बनेंगे। सुवर्ण जैसा होगा वैसा कड़ा बनेगा और जब वस्तु क्षणिक मानी जायगी तब यह निश्चय भी नहीं बन सकेगा कि इससे अमुक कार्य होसकेगा। जब यह निश्चय ही न होगा कि गेहूंसे रोटी बन सकेगी तो कौन गेहूंको खरीदेगा इसलिये वस्तु न तो सर्वथा नित्य है न सर्वथा क्षणिक या असत है। वस्तु नित्य अनित्य रूप है। सामान्य द्रव्यरूपसे कोई वस्तु न उपजती न विनशती है क्योंकि द्रव्य सदा बना रहता है; वह अपनी अनंत पर्यायोंमें टिका रहता है। विशेष पर्याय रूपसे ही द्रव्यमें उत्पाद व्यय होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि जो सत् द्रव्य है वह एक ही काल उत्पाद-व्यय ध्रौव्य स्वरूप

है । पिछली पर्यायका नाश वर्तमान पर्यायका जन्म सदा ही द्रव्यमें होता रहता है । तथापि द्रव्य बना रहता है । यही वस्तुका सच्चा स्वरूप है। शुद्ध द्रव्योंमें सदृश व स्वाभाविक पर्यायें होती हैं, अशुद्ध द्रव्योंमें विसदृश व औपाधिक पर्यायें होती हैं। द्रव्य पर्याय विना नहीं, पर्याय द्रव्य विना नहीं होसक्ती है यही वस्तु स्वभाव है ।

त्रोटक छन्द ।

जो नित ही हो तो नाश उदय, नहिं हो न क्रिया कारक न सधय।
सत् नाश न हो नहिं जन्म असत्, जु प्रकाश गए पुद्गल तम सत् ॥२४॥

उत्थानिका—अब आचार्य स्पष्टपने कहते हैं कि जीव अजीवादि पदार्थ सब नित्य अनित्य आदि रूपसे अनेक रूप हैं—

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥२५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(विधिर्निषेधश्च) विधि अर्थात् अस्तिपना, भावपना या नित्यपना तथा निषेध अर्थात् नास्तिपना, अभावपना या अनित्यपना जीवादि पदार्थोंके भीतर (कथंचित्) भिन्न २ अपेक्षाओंसे, द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंसे (इष्टौ) मान्य है, इष्ट है, सिद्ध है। द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु सत् या नित्य है पर्यायकी अपेक्षा वस्तु असत् या अनित्य है। (मुख्यगुणव्यवस्था) एकको मुख्य करना दूसरेको गौण करना ऐसी व्यवस्था (विवक्षया) कहनेवालेकी इच्छाके अनुसार चलती है । जो जिस समय नित्यपना बताना चाहता है वह नित्यको मुख्य करके कहता है तब अनित्यपना गौण होजाता है। तथा जो जब अनित्यपना समझाना चाहता है तब नित्यपना गौण होजाता है। (इति)

(तव सुमतेः) हे सुमतिनाथ भगवान ! आपकी (अयं प्रणीतिः) यह तत्वके प्रतिपादन करनेकी शैली है। (नाथ) हे नाथ! (स्तुवतः मतिप्रवेकः अस्तु) मैं गुणकी इसीलिये स्तुति करता हूं कि मेरी बुद्धिकी उत्कृटता होवें। मैं ऐसी भावना करता हूं।

भावार्थ-इस श्लोकमें बता दिया है कि स्याद्वादसे वस्तुका स्वरूप यथार्थ बताया जाता है। वस्तुमें अस्तिनास्ति, भाव अभाव, नित्य अनित्य ऐसे विरोधी स्वभाव तो पाए ही जाते हैं। परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षासे होनेपर कोई विरोध नहीं रहता है। जैसे किसी मानवको पिता व पुत्र दोनों ही माना जावे, ये दोनों विरोधी सम्बंध उस मानवमें भिन्न २ अपेक्षासे हैं। वह अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है व अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र है, कोई विरोधकी बात नहीं है। इसी तरह वस्तु द्रव्य अपेक्षा सदा रहती है इससे अस्ति-रूप, भावरूप व नित्य है, वही पर्याय पलटनेकी अपेक्षा एकसी नहीं रहती है। इससे नास्तिरूप, अभावरूप व अनित्य है। दूस-रेके दोनों स्वभाव समझानेका मार्ग यही है जैसा कि श्री उमास्वामी महाराजने तत्वार्थसूत्रमें कहा है-"अर्पितानर्पितसिद्धेः" कि जिसको कहना हो उसको मुख्य किया जाय व जिसको न कहना हो उसको गौण कर दिया जाय, यही स्याद्वाद है। स्यात् अर्थात् कथं-चित् वाद अर्थात् कहना। वस्तु स्यात् भावरूप है, वस्तु स्यात् अभावरूप है। अर्थात वस्तु कथंचित् किसी अपेक्षासे द्रव्यार्थिक-नयसे भावरूप है। वही वस्तु कथंचित् किसी उपसर्ग पर्यायके पलटनेकी अपेक्षासे अभावरूप है। श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणी इसीतरह अनेकांत मतका प्रकाश करती हुई बाधा रहित पदार्थको

यथार्थ बतादेती है। जैसा स्वामीने आप्तमीमांसामें कहा है–

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यम्प्रति विशेषणम्‌ः ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥

भावार्थ–यह स्यात् एक अव्यय है। यह अव्यय शब्द वाक्योंके भीतर प्रयोग करनेसे अनेक स्वभाववाले पदार्थका प्रकाश करता है। साथ ही किसी एक मुख्य स्वभावकी विशेषता भी करता है। उसके अर्थकी यही घटना है कि अनेक स्वभावोंका होना बताते हुए भी एकको मुख्य करता है, अन्यको गौण करता है। हे भगवन् ! आपका यह मत है वैसा ही सर्व केवली व श्रुत-केवलियोंका मत है।

यहांपर श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि हे सुमतिनाथ ! आपका यह सिद्धांत पक्का है, अकाट्य है, माननीय है। इसलिये हम आपको यथार्थ वक्ता मानकर आपकी ही स्तुति करते हैं और यह भावना करते हैं कि जैसा आपका नाम है वैसा ही गुण हमको प्रदान कीजिये अर्थात् आपकी भक्ति व स्तुति करनेसे मेरे अन्दर जो ज्ञानका आवरण है वह दूर हो और मेरा ज्ञान बढ़ता चला जावे। अंतमें मैं आपके ही समान केवलज्ञानी होजाऊं।

त्रोटक छन्द ।

विधि वा निषेध सापेक्ष सही, गुण मुख्य कथन स्याद्वाद यही ।
इम तत्व प्रदर्शी आप सुमति, थुति नाथ करूं हो श्रेष्ठ सुमति ॥२५॥



(६) श्री पद्मप्रभ जिन स्तुतिः।

पद्मप्रभः पद्मपलाशलेश्यः पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्त्तिः।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः॥२६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(पद्मप्रभः) कमलकी प्रभाके समान प्रभाधारी ऐसे छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ देव (पद्मपलाश-लेश्यः) सफेद कमलके पत्र समान शुक्ल लेश्याके धारी हैं। (पद्मालयालिंगितचारुमूर्तिः) लक्ष्मीने जिनकी सुन्दर मूर्तिको आलिं-गन कर लिया है। आत्माको तो अनंत ज्ञानादि चतुष्टय रूपी लक्ष्मी व वीतरागतारूपी लक्ष्मी आलिंगन कररही है, शरीरको पसेव रहितपना, महान रूपपना, १००८ लक्षणपना आदि लक्ष्मी आलिं-गन कर रही हैं ऐसे (भवान्) आप पद्मप्रभ भगवान (प्रभाक-राणां) कमलोंके विकाशके लिये (पद्मबन्धुः इव) सूर्यके समान (भव्यपयोरुहाणां) भव्यरूपी कमलोंके प्रसन्न करनेके लिये (बभौ) शोभते हुए।

भावार्थ-यहांपर आचार्यने श्री अरहंत भगवानकी उस समयकी शोभा बताई है जब वे तेरहवें सयोग गुणस्थानमें समवश-रण सहित अपनी दिव्य गंधकुटीमें शोभायमान होते हैं। भगवानका शरीर लाल कमलके समान लाल रंगका परम शोभनीक था तथापि आत्मामें लालपना न था क्योंकि कषायोंका सर्व नाश होचुका था इसलिये परम वीतरागता प्रगट हो चुकी थी। मात्र शुक्ललेश्या थी, क्योंकि अभीतक दिव्यध्वनि व विहार होता था इसमें योगोंकी प्रवृत्ति थी। इस लेश्याके होते हुए अनंत पुण्यरूपी शक्तिको

ध्यानमई मूर्ति अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीसे शोभायमान थी। अंत-रंगमें तो आत्मानुभूति थी, अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमई अनंत चतुष्टयकी लक्ष्मी थी। परम वीतरागता व समताने बड़ी ही शोभा विस्तार कर रक्खी थी। उसी अंतरंग लक्ष्मीके प्रभावसे बाहरका शरीर भी परमौदारिक कोटि सूर्यके समान १००८ लक्षण युक्त पसीना व मल आदि दोषसे रहित परम दीप्तिसे आज्वल्यमान था। बारह सभामें अनेक भव्यजीव कमलवनोंके समान बैठे हुए प्रफु-ल्लित होरहे थे। भगवानका परम प्रतापशाली व परम शांत मुख देख देखकर मन आनन्दसे गद्गद होरहा था। समवशरण स्थित प्राणियोंके मनमें कोई वैरभाव, शोक, खेद, चिंता व दुःख नहीं रहता है। वे समवशरणमें प्रवेश करते ही परमानंदमें डूब जाते हैं। और जब भगवानकी शांत मुद्राका दर्शन करते हैं व दिव्यवाणी सुनते हैं तब तो उनका मन और भी परम सुखरूपी अमृतसे भर जाता है। जैसे जहां सूर्यका उदय होता है वहां कमलोंके वन फूल जाते हैं इसी तरह उनकी बारह सभाओंमें बैठे हुए चार प्रकारके देव व देवियां, मुनि आर्यिका मानव व पशु सर्व ही भव्यजीव धर्मके पिपासु परम प्रफुल्लित होरहे थे। इस तरह भग-वानकी अपूर्व शोभा होरही थी। वास्तवमें आत्माके गुणोंकी अपूर्व महिमा है। यह सब आत्मध्यानका ही प्रताप था जिससे यह अपूर्व पुण्य उदयमें आरहा है। भगवानके तो किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है। परन्तु पुण्यकर्म स्वयं फलित होकर यह शोभा प्रकाश कर रहा है। पात्रकेशरीस्तोत्रमें भी अरहंतके शरीरकी शोभा इस तरह बताई है—

प्रशांतकरणं वपुर्विगतभूषणं चाऽपि ते।
समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्वं गतम् ॥
विनाऽऽयुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्त्वया दुर्जयाः।
कषायरिपवो परैर्न तु गृहीतशस्त्रैरपि ॥ १७ ॥

भावार्थ-हे प्रभु ! आपके शरीरपर कोई आभूषण नहीं है तथापि आपके भीतर परम शांति झलक रही है, सर्व इंद्रियोंकी शोभा शांतरूप है व दूसरोंको भी शांत करनेवाली है। आपकी वीतराग छविको देख देखकर सर्व जनोंको चित्तमें परम प्रमोद होरहा है। आपने विना किसी शस्त्रके हे जिन ! अत्यन्त दुर्जय कषायरूपी शत्रुओंको सर्वथा जीत लिया है जिनको बड़े२ शस्त्रधारी योद्धा भी नहीं जीत सके।

मुक्तादाम छन्द।

पदम प्रभ पद्म समान शरीर, शुचि लेश्याधर रूप गम्भीर।
परमश्री शोभित मूर्ति प्रकाश, कमल सूरजवत् भव्य विकाश ॥२६॥

उत्थानिका-यहां कोई शंका करता है कि प्रभुके यथावत् पदार्थोंका ज्ञान न होनेसे व मुक्त होजानेसे वचनका व्यापार संभव न होनेसे उनका उपदेश प्रमाण कैसे माना जावे उनका समाधान करते हैं-

बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः।
सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीं ज्वलितां विमुक्तः ॥२७॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(भवान्) आपने (प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः) मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिके (पुरस्तात्) पहले अर्थात् अरहंत अवस्थामें जब शरीर होता है (पद्मां च) अनंतज्ञानादि लक्ष्मीको तथा (सरस्वतीं च) दिव्यध्वनिको भी और (समग्रशोभां

सरस्वतीं एव) सर्व शोभासे परिपूर्ण समवशरण आदि विभूतिको या क्षुधा आदि १८ दोष रहितपनेको (बभार) धारण किया था। (विमुक्तः) और जब आप मोक्ष हुए तब (ज्वलितां) सदा प्रकाश-रूप निर्मल (सर्वज्ञलक्ष्मी) अनंतज्ञानादि विभूतिको धारण किया था।

भावार्थ-यहांपर यह दिखलाया है कि श्री पद्मप्रभका नाम सार्थक है। जैसे यह प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमलमें रहती है या यह वर्णित है कि लक्ष्मी कुमारिका देवी शिखरी पर्वतके कुण्ड पुण्ड-रीक नामके कमलवत् द्वीपमें रहती है उसी तरह यहांपर बताया है कि श्री पद्मप्रभ जिनकी शोभा कमलवत थी सदा ही लक्ष्मीको धारण करते थे। जब तक आप मोक्ष न हुए और अरहंत पर-मात्मा रहे तब तक आपने अनंतज्ञानादि अंतरंग चतुष्टयरूपी लक्ष्मीको धारण किया व बाह्यमें समवशरणादि विभूतिको व क्षुधादि दोषरहितपनेको व सर्व पदार्थोंको यथार्थ कहनेमें समर्थ ऐसी दिव्य वाणीको धारण किया। इस कारण आपने जो कुछ कथन किया सो सत्य प्रमाणीक कथन किया। क्योंकि जो सर्व पदा-र्थोंको जानता होगा उसके किसी तरहका अज्ञान नहीं होसक्ता है। तथा आपने मोहका पहले ही नाश कर दिया था इसलिये आपमें राग द्वेष व कोई स्वार्थ रहा ही नहीं जिससे असत्य कहा जासके। जो वीतराग है उसके कोई राग द्वेष संभव नहीं है। जो रागी व द्वेषी होता है वही अयथार्थ कह सक्ता है। आप क्योंकि परम वीतराग व सर्वज्ञ थे तथा मोक्ष होनेके पहले शरीर रहित थे, तब ही आपकी दिव्यवाणी भव्य श्रोताओंके पुण्यके उद-यसे तथा आपके नामकर्मके उदयके कारण वचन योग व काय

योगका व्यवहार मौजूद था, इसकारण प्रकाश हुई, वह किसी तरह अप्रमाणीक नहीं कही जासक्ती है। शरीर त्यागके पहले ही आप परमात्मा होगए। इससे यह भी दिखलाया है कि विना शरीरके वाणीका प्रकाश जो पुद्गलमय है, किसी भी तरह सम्भव नहीं है। अमूर्तीक, शरीर रहित परमात्मासे वाणीका प्रकाश नहीं हो सक्ता है—शरीरधारी ही प्रगट कर सक्ता है। इसलिये शंकाकारकी शंकाका समाधान होजाता है।

फिर जब भगवान् शरीरको भी त्यागकर व सर्व अघातिया कर्मोंसे भी छूटकर मुक्त हुए व सिद्ध हुए तब भी लक्ष्मीका त्याग आपने नहीं किया। सर्वज्ञपना रूपी लक्ष्मीको सदा ही आलिंगन किये रहे। बाहरी समवशरणादि शोभा व वाणीका प्रकाश जिनके होनेमें अघातिया कर्मका उदय कारण था, नहीं रहे। परन्तु स्वाभाविक लक्ष्मी जो अनंत ज्ञानादिमय थी वह तो आत्माके साथ बनी रही। अर्थात् अर्हंत अवस्थामें आप सर्वज्ञ वीतराग व हितोपदेशी थे, अब सिद्ध अवस्थामें आप सर्वज्ञ वीतराग तो रहे ही। हितोपदेशीपना जो कर्मोंके उदयसे था वह न रहा।

पात्रकेशरीस्तोत्रमें अर्हंतका स्वरूप कहा है—वाणीकी प्रमाणता बताई है—

नहीन्द्रियधिया विरोधि न च लिंगबुद्ध्या वचो।
न चाप्यनुमतेन ते सुनयसप्तधायोजितम्॥
व्यपेतपरिशंकनं वितथकारणादर्शना-
दतोपि भगवंस्त्वमेव परमेष्ठितायाः पदम्॥ ११॥

भावार्थ—हे भगवान! आप ही अरहंत परमेष्ठीके पदको

धारण करनेवाले हैं क्योंकि आपका वचन ऐसा प्रमाणीक है कि वह न तो इन्द्रियज्ञानसे बाधित होता है और न अनुमान प्रमाणसे खंडित होता है और न परस्पर आगमसे विरोध पाता है। आपका वचन यथार्थ सप्तभंग रूपी नयोंके द्वारा सिद्ध होजाता है तथा आपके वचनोंसे शंकाकी जरूरत नहीं है क्योंकि आपमें असत्य भाषणके कारण जो अज्ञान व राग द्वेष मोह हैं वे नहीं हैं। आप सर्वज्ञ वीतराग हैं–

मुक्तादाम छन्द।

धरत ज्ञानादिरिद्धि अविकार, परम ध्वनि चारु समवसृत सार।
रहे अरहंत परम हितकार, धरी बोध श्री मुक्ति मंझार ॥ २७॥

उत्थानिका–अरहंत अवस्थामें हे भगवान! आपकी शरीरकी प्रभा कैसी शोभती हुई सो कहते हैं।

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप।
नरामराकीर्णसभां प्रभावच्छैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्॥२८।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(ते प्रभोः) हे पद्मप्रभ! आप इन्द्रादिके स्वामी हैं आपके (बालार्करश्मिच्छविः) प्रातःकालके बालसूर्यकी किरणोंके समान चमकनेवाली लालरंगके (शरीररश्मिप्रसरः) शरीरकी किरणोंके विस्तारने (पद्मभमणेः शैलस्य प्रभा स्वसानुं वत्) मणिके लाल पर्वतकी ज्योति अपनी कटनीमें फैल जाती है इस तरह (नरामराकीर्णसभां) मनुष्य और देवोंसे भरी हुई बारह सभाको (आलिलेप) व्याप्त कर लिया अर्थात् बारह सभामें आपके शरीरकी लालज्योति इस तरह फैल गई जैसे बालसूर्यकी किरणें जगतमें फैल जाती हैं।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने भगवानके शरीरकी प्रभाका अच्छा चित्र खींचा है। पद्मप्रभ भगवानका देह रक्तवर्णका था। परमौदारिक होनेसे वह अत्यंत प्रभावशाली व कोटिसूर्यकी दीप्तिको भी मंद करनेवाला था। समवसरणमें बारह सभा गंधकुटीके चारों तरफ लगी हैं। उनमें देव, मनुष्य, पशु आदि सब विराजमान हैं। भगवानके शरीरसे निकली हुई परम शांत लाल किरणें उन सब सभा निवासियोंपर इस तरह फैल गईं जैसी बालसूर्यकी शांत किरणें फैल जाती हैं। जैसे प्रातःकालका सूर्य तापकारी नहीं होता है किन्तु बहुत ही रमणीक भासता है, इसी तरह भगवानके शरीरकी दीप्ति शांत थी—आतापकारी न थी। दूसरी उपमा यह दी है कि जैसे पद्मराग मणिका पहाड़ हो तो उसकी चमक चारों तरफ किनारोंपर फैल जाती है उसी तरह प्रभुके शरीरकी द्युति चारों तरफ फैल गई। यद्यपि इस श्लोकमें मात्र शरीरकी ही स्तुति है, केवली भगवानके आत्माकी स्तुति नहीं है तथापि यह स्तुति व्यवहार नयसे केवली भगवानकी ही है। क्योंकि ऐसा सुन्दर प्रभावशाली देहका होना व उसमें परम शांतिका झलकना उस शरीरके भीतर रहनेवाले केवलज्ञानी वीतराग परमात्माका ही प्रभाव है। अन्य साधारण मानवके ऐसी शरीरकी दीप्ति संभव नहीं है।

तत्वानुशासनमें नागसेन मुनि कहते हैं—

प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसंपूर्णोदग्रविग्रहं ।
आकाशस्फाटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्वलम् ॥ १२७ ॥
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
परमात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥

भावार्थ–अरहंत भगवानका संपूर्ण दिव्य शरीर प्रभामई लक्षणसे पूर्ण रहता है, जैसे जलती हुई अग्निकी ज्वाला किसी स्फटिकके भीतर रखदी जाय वैसे आकाशके भीतर प्रभुका शरीर देदीप्यमान है। जगतके सब तेजोंमें उत्तम तेज व जगतकी सब ज्योतियोंमें उत्तम ज्योतिको प्रकाश करनेवाले परमात्मा अर्हतका ध्यान मोक्षकी प्राप्तिके लिये करे।

मुक्तादाम छन्द ।

प्रभू तन रश्मिसमूह प्रसार, बाल सूर्यसम छवि घरतार।
नर सुर पूर्ण सभामें व्यापा, जिम गिरि पद्मराग मणि तापा ॥२८॥

उत्थानिका–ऐसे अरहंत भगवान क्या एक ही स्थानपर रहे या उन्होंने विहार किया सो बताते हैं—

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्ष भूत्यै ॥२९॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–(त्वं) आपने (पातितमार-दर्पः) कामदेवके घमण्डको चूर्ण कर डाला व आप (सहस्र-पत्राम्बुजगर्भचारैःपादाम्बुजैः) एक हजार पत्रधारी सुवर्णमई कमलोंके भीतर अपने चरणकमलोंसे चलते हुए (नभस्तलं पल्लवयन् इव) आकाशके प्रदेशोंमें मानों कमलके पत्तोंकी शोभाको विस्तारते हुए (भूमौ) इस आर्यक्षेत्रमें (प्रजानां भूत्यै) प्रजाके कल्याणके लिये (विजहर्ष) विहार करते हुए।

भावार्थ–यहां भी अरहंत अवस्थाका ही कथन किया है। तीर्थंकर भगवान भव्य जीवोंके पुण्यके उदयसे आर्यक्षेत्रमें विहार करते हैं उस समय आकाश द्वारा गमन होता है, तब इन्द्र भक्तिसे

पन्द्रह पन्द्रह कमलोंकी १५ पंक्तियां चरणोंके नीचे रखता जाता है। ये कमल सुवर्णमई १००० पत्तोंके धारी विकसित होते हैं उनके मध्यमें ही भगवानके चरणकमल जो लालवर्णके थे चलते हुए ऐसी शोभाको दिखला रहे थे मानों आकाशमें लाल-कमलके पल्लव ही छारहे हैं-भगवानके चरणोंकी लाली सुवर्णपर पड़ती हुई ऐसी मनोहरता बता रही थी। जहां जहां भगवानका विहार हुआ वहां वहां समवसरण इन्द्रादि देव रच देते थे। प्रभुकी दिव्यध्वनिका प्रकाश होता था जिससे भव्यजीवोंका अज्ञान अंधकार मिट जाता था व उनको मोक्षमार्गका उपदेश मिलता था। जैनी सम्यग्दृष्टि अनेक श्रावक व अनेक मुनि होते थे-वास्तविक तीर्थंकरपना व धर्मप्रचारपना होरहा था। धन्य हे प्रभु! आपके प्रतापसे बहुतसे जीवोंने अपना परम कल्याण किया। आपका विहार स्वयंके लाभके लिये नहीं किंतु जीवोंके परम हितार्थ हुआ।

आप्तस्वरूपमें कहा है:-

यस्य वाक्यामृतं पीत्वा भव्या मुक्तिमुपागताः।
दत्तं येनाभयं दानं सत्त्वानां स पितामहः॥३६॥

भावार्थ-जिस तीर्थंकरके वचनामृतका पान करके भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त हुए, जिसने सर्व प्राणियोंको अभयदान दिया, सोही सच्चा पितामह तीर्थंकर है। वास्तवमें तीर्थंकर धर्म तीर्थका प्रचार करके परम हितका सम्पादन करते हैं।

मुक्तादाम छन्द।

सहस्रपत्र कमलों पर विहरे, नभमें मानो पल्लव प्रसरे।
कामदेव जेता जिनराजा, करत प्रजाका आतम काजा॥ २९॥

उत्थानिका–आचार्य स्तुति करते हुए अपना लघुपना बताते हैं–

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलस्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥३०॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(आखण्डलः) इन्द्र जब (गुणाम्बुधेः) गुणके समूह (तवर्षेः) आप परम ऋषिके (विप्रुषम् अपि) गुणके एक अंश मात्रको भी (अजस्रं) निरन्तर (स्तोतुं अलं न) स्तवनके करनेके लिये समर्थन हुआ तब (प्रागेव मादृक्) मैं तो पहले हीसे असमर्थ हूं। मेरे समान अल्पज्ञानी आपकी कैसे स्तुति कर सक्ता है। (किमुत) परन्तु (अतिभक्तः) आपमें जो मेरी परम भक्ति है वही (मां बालं) मुझ बालक सम तुच्छ ज्ञानीको (इदं इत्थं) आप ऐसे हैं व इस प्रकार हैं ऐसा (आलापयति) स्तवन करनेके लिये प्रेरणा करती है।

भावार्थ–यहांपर श्री समंतभद्राचार्य बतते हैं कि हे परमात्मन्! श्री पद्मप्रभ स्वामी! आपके भीतर जो अपूर्व गुण हैं उनका कोई कथन कर ही नहीं सक्ता। सौधर्मादि इन्द्र जो सर्वश्रुतज्ञानकी शक्ति रखते हैं वे भी जब निरन्तर उद्यम करके आपके गुणके एक अंश मात्रको भी स्तुति न कर सके तब मेरे ऐसा पूर्ण श्रुतज्ञान रहित अल्पज्ञानी आपकी स्तुति कैसे कर सक्ता है? आप तो गुणोंके समुद्र हैं, इन्द्र तो एक बूंदको भी नहीं ग्रहण कर सक्ता तब मेरेमें क्या शक्ति है जो मैं गुण समुद्रको स्पर्श भी कर सकूं? परन्तु हे भगवन्! आपके गुणोंमें जो गाढ़ श्रद्धा है व उससे उत्पन्न हुआ जो तीव्र भक्तिभाव है वही मुझे चैन नहीं लेने देता और बार २ प्रेरित करता है कि मैं कुछ वर्णन करूं

सो मैं इतना ही आलापता हूं कि आप ऐसे हैं व यह हैं। मैं स्तुति तो आपकी कर ही नहीं सक्ता। ऐसा मैं इसीलिये करता हूं कि मेरा भाव आपकी तरफ अटका रहे जिससे यह वीतराग भगवानकी छायामें रह कर वीतरागरूप होजावे। मैं भवातापका सताया हुआ हूं। आप भवातापको शमन करके परम शांत होगए हैं। मुझे भी आत्म शांतिकी चाह है इसलिये आपकी शरणमें आया हूं। आपसे लव लगाई है जो चाहे सो बकता हूं। मेरा प्रयोजन यही है कि मैं परम शांतिको पाकर सुखी होजाऊं। वास्तवमें ज्ञानीजन निरन्तर वीतराग भावकी ही भावना करते हैं। श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुतिमें कहते हैं—

> सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने।
> सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत्॥
> इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा।
> तद्रूपं परमं प्रयातु मनसा हित्वा भवं भीषणम्॥ २८॥

भावार्थ—सिद्ध स्वरूप ही एक सुगति है वही सुख है वे ही दर्शन ज्ञान हैं। सिद्धोंके सिवाय और कोई भी मुझे प्रिय नहीं है। ऐसा विचार कर मैंने उनको ही दृढ़तासे अपने मनमें सदा धारण किया है, जिससे मैं इस भयानक संसारको मनसे त्यागकर उसी परम सिद्ध स्वरूपको प्राप्त होजाऊं।

मुक्तादाम छन्द।

तुंम ऋषि गुणसागर गुणलव भी, कथन न समरथ इन्द्र कभी भी।
हूं बालक कैसे गुण गाऊं, गाढ भक्तिवश कुछ कह जाऊं॥३०॥



(७) श्री सुपार्श्व जिन स्तुति।

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशांतिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥३१

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यत आत्यंतिकं स्वास्थ्यं) जो अत्यन्त अविनाशी अपने आत्मस्वरूप रूप होजाता है। अर्थात् कर्मादिमलसे छूटकर अनन्त ज्ञानादि गुणोंका स्वामी होकर आत्मानंदमें नित्य मग्न रहना है (एषः पुंसां स्वार्थः) यही सच्चा जीवोंका प्रयोजन है, यही उद्देश्य है व होना चाहिये (परिभंगुरात्मा भोगः न) क्षणभंगुर इन्द्रिय सुखोंका भोग उद्देश्य नहीं होना चाहिये (तृषोऽनुसङ्गात्) क्योंकि भोगोंके भोगनेसे तृष्णाकी वृद्धि होती जाती है। (च तापशांतिः न) तथा जो चाहकी दाह है वह शांत नहीं होती है। (इति इदम्) ऐसा वस्तुका स्वरूप (भगवान्) परम ज्ञानी व परम पूज्य (सुपार्श्वः) सप्तम तीर्थंकर सर्व ओर परम शोभाको रखनेवाले श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरने (आख्यत्) वर्णन किया है।

भावार्थ—यहांपर यह बताया है कि सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरने जगतके प्राणियोंको वस्तुका सच्चा स्वरूप बताया है। इस लोकमें जगतके प्राणियोंका ध्येय सुख शांति पाना है। सब जीव मात्र सुख शांति चाहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, मानव कोई भी दुःख व क्लेश नहीं चाहते हैं। जहां शांति होती है वहां पशु भी आकर बैठ जाते हैं। कोई मानव भी क्रोधादि नहीं चाहता है-जब होजाते हैं तब क्लेशित होता है-पीछे पछताता है। वह सुख शांति कहीं अन्य स्थानमें नहीं मिल सकती है, वह हरएककी

आत्माके स्वभावमें है। जो आत्मा आत्मस्थ हो जाते हैं, जो स्वानुभव करते हैं, स्वरूप मग्न होते हैं, उनहीको सुख शांतिका लाभ होता है। जितना जितना आत्मस्वरूपमें तल्लीनपना है उतना उतना आनंद होता है व वीतरागताका लाभ होता है। अत्यन्त व अविनाशी स्वरूपकी मग्नता तब ही होती है जब कर्मोंके बंधनोंसे छूटकर मुक्त होजावे, अपने पूर्ण ज्ञानादि गुणोंका लाभ करले, फिर सदा ही स्वरूपानंदका अपूर्व लाभ होगा। न कभी ताप होगा न चिंता होगी न कोई खेद होगा न कोई वियोग होगा न कभी नाश होगा। इसलिये सर्वका यही ध्येय उचित है कि आत्मिक स्थिरता प्राप्त हो। यही उद्देश्य सच्चा है। जो इन्द्रियके भोगोंका प्रयोजन रक्खा जायगा और उनहीके लिये तपस्या व धर्म कर्म व प्रयत्न किया जायगा तो वह असत्य उद्देश्य है। क्योंकि इन्द्रिय भोगोंके पदार्थ एकरूप सदा साथ नहीं रह सक्के-वे क्षणभंगुर हैं। बड़े २ चक्रवर्ती आदिके भोग भी नाश होजाते हैं व उन्हें स्वयं ही छोड़ना पड़ता है। दूसरे उनके भोग करते रहनेसे और अधिक तृष्णा बढ़ती जाती है। जिस अंतरंग चाहको मिटानेके लिये इन्द्रिय भोग किये जाते हैं वह चाह किसी-तरह बुझती नहीं है। अग्निमें ईंधन डालनेसे जैसे आग बढ़ती जाती है वैसे भोग करते २ तृष्णा बहुत प्रचण्ड होती जाती है-कभी भी मनका आताप शांत नहीं होता है। सहस्रों व लाखों वर्षोंतक व सागरोंतक भोग किया जाय फिर भी तृप्ति नहीं होती है। अंतमें जब मरने लगता है तब पछताता है व वियोगसे आर्त्त-ध्यान करके दुर्गतिमें चला जाता है। ऐसा यथार्थ वस्तुका स्वरूप

बताकर हे भगवन्! आपने जीवोंका परम कल्याण किया है। आप परम प्रतापी ऐश्वर्यशाली अंतरंग ज्ञानादि लक्ष्मी व बहिरंग समवशरणादि लक्ष्मीसे शोभायमान हैं। आपके कथनकी सत्यताकी प्रशंसा नहीं की जासक्ती है। इस श्लोकमें आचार्यने संकेत किया है कि हम सबको धर्मका सेवन आत्मिक सुखशांतिके हेतुसे ही करना योग्य है, भोगोंके हेतु करना मूर्खता है, उल्टा और अधिक दुःखोंमें अपनेको पटकनेका उपाय है। जो वस्तु नाशवंत है व तापवृद्धि कारक है उसे चाहना नितांत नादानी है। वह अविनाशी सुखशांतिमई अवस्था है उसीको ही भावना रखकरके धर्मका साधन करना चाहिये। श्री पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेशमें ठीक ही कहा है—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः॥ ४५॥
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः॥ ४७॥
आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥ ४८॥
अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥ ४९॥

भावार्थ—शरीर व भोगादि सब पर हैं, उनमें ममत्व करना दुःख ही का कारण है। आप स्वयं आत्मा ही है उसीसे ही सुख होता है। इसलिये महात्मा लोग आत्माहीके हितके लिए व आत्मारूप रहनेके लिए उद्यम करते हैं। क्योंकि जो आत्मानुभवमें लीन होते हैं तथा व्यवहारके प्रपंचसे बाहर रहते हैं उन योगियोंको योगके बलसे कोई अपूर्व अकथनीय परमानंद होता है। वही आनंद

अतिशय रूपसे कर्मके ईंधनको निरन्तर जलाता रहता है। उस आनन्दमें ही मग्न रहनेसे वह योगी बाहरी दुःख उपसर्ग पड़नेपर भी उनकी तरफ कुछ भी ध्यान न देता हुआ खेदको नहीं प्राप्त होता है। इसलिये अज्ञानसे दूर उस महान ज्ञानमई आत्मज्योतिका ही प्रश्न करना चाहिये। उसीकी चाह करनी चाहिये, उसीका ही अनुभव करना चाहिये। यही मोक्षके इच्छुकोंका व स्वाधीनता प्रेमियोंका कर्तव्य है।

सारसमुच्चयमें कुलभद्राचार्य कहते हैं—

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति सम्प्रति ॥७५॥
वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ॥७६॥
इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखं।
तच्च कर्मविबंधाय दुःखदानैकपंडितं ॥७७॥

भावार्थ—देवलोकमें यथेच्छित इन्द्रिय भोगोंको बराबर भोगते रहनेसे जो तृप्त न हुआ वह वर्तमानके तुच्छ भोगोंसे क्या तृप्त होगा? वास्तवमें हालाहल विष पीलेना ठीक है, उससे इसी शरीरका नाश है परन्तु इन्द्रिय भोगरूपी विषका खाना ठीक नहीं है, क्योंकि वह अनन्त जन्मोंमें दुःख देनेवाला है। इन्द्रिय भोगसे होनेवाला सुख सुखसा दीखता है वह यथार्थ सुख नहीं है, उससे कर्मोंका बंध होता है, वह तो दुःख देनेमें अति प्रवीण है।

छन्द चौपाई। (१६)

जय सुपार्श्व भगवन् हित भाषा, क्षणिक भोगकी तज अभिलाषा।
तप्त शांत नहि तृष्णा बधती, स्वस्थ रहे नित मनसा सधती ॥३१॥

उत्थानिका–भगवानने मात्र इन्द्रिय सुखका ही स्वरूप नहीं बताया किंतु शरीरका भी स्वरूप बताया सो कहते हैं–

अजङ्गमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः॥३२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(यथा) जैसे (अजंगमं) बुद्धि पूर्वक न चलने योग्य हाथी घोड़े आदिका खिलौना (जंगमनेययंत्रं) कोई चलानेवालेके द्वारा काम करने लगता है (तथा) वैसे ही (शरीरम्) यह जड़ शरीर स्वयं बुद्धि पूर्वक क्रिया नहीं कर सक्ता है परन्तु (जीवधृतं) चेतन स्वरूप जीवके द्वारा धारा हुआ है। उस जीवकी ही प्रेरणासे चलना बैठना सोना आदि काम करता है। (बीभत्सु) फिर यह शरीर अति घिनावना है या कुरूप है (पूति) दुर्गंधमय है (क्षयि) नाशवंत है (च तापकं) और वह दुःखोंका कारण है (अत्र) इस शरीरमें (स्नेहः वृथा) अनुराग करना निष्फल है। (इति हितं) ऐसी हितरूपी शिक्षा (त्वं) आपने (आख्यः) कही है।

भावार्थ–इस श्लोकमें शरीरका सच्चा स्वरूप बताया गया है कि यह शरीर जड़ है क्योंकि जड़ पुद्गलके परमाणुओंके बने हुए आहारक वर्गणारूप स्कंधोंसे बना हुआ है। इसमें स्वयं समझकरके काम करनेकी शक्ति नहीं है। जबतक इसमें जीव बना रहता है तबतक ही यह उठता बैठता, चलता, फिरता, खाता, पीता, बात करता व नाना प्रकारकी क्रियाएं करता है। उन सब क्रियाओंके होनेमें अंतरंग जीवके उपयोगकी प्रेरणा रहती है। या जीवकी योग शक्तिकी प्रेरणा रहती है। कर्मबंध सहित जीवमें योग

और उपयोग ही नानाप्रकार कार्य करते हैं। जैसा समयसारमें कहा है-

जीवो ण करेदि घडं णे वपडं णेव सेसगे दव्वे।
जोभुवओगा उप्पादगा य सो तेसि हवदि कत्ता॥ १००॥

भावार्थ—जीव स्वयं न तो घड़ा वनाता है न कपड़ा न अन्य द्रव्योंको वनाता है। उसमें जो कर्मोंके उदयसे योगका व उपयोगका परिणमन है वे ही घड़े आदिके उत्पन्न होनेमें निमित्त हैं। इन योग व उपयोगका कर्ता व्यवहारसे जीव कहा जाता है। जब तक यह अशुद्ध जीव शरीरमें रहता है तब क्रिया मन वचन कायकी दिखलाई पड़ती है। जब यह जीव छोड़के चला जाता है तब यह शरीर बिलकुल जड़ मिट्टीके समान अचेतन ही रह जाता है। फिर यह शरीर अत्यन्त कुरूप है, घिनावना है, ऊपरसे यदि एक चमड़ा उठा दिया जावे तो कोई अपने शरीरको भी स्वयं नहीं देख सकेगा, हाड़का पिंजरा महा भयानकसा दीख पड़ेगा। यदि न भी उठावें तो भी यह अति सुन्दर रूपवान शरीर भी बहुत शीघ्र कुरूप होजाता है। यदि इसे रोग आजावे, वृद्धावस्था आजावे व भूख प्याससे सताया हुआ हो व क्रोधादिसे व्यथित हो तो यह देखने योग्य नहीं रहता। यह दुर्गंधसे भरा है। नाक, कान, आंख, मुख, नीचेके द्वार व रोमोंसे सर्व तरफ दुर्गंधमय मैलहीको बाहर निकालता है। जल पुष्पमाल चंदन वस्त्र आदि भी स्पर्श पाकर अपवित्र होजाते हैं। यह स्वयं अपवित्र है व जिसे२ वह अपने शरीरपर धारण करता है उसे २ वह अपवित्र बना देता है। फिर यह आयु कर्मके आधीन है व इस कर्मभूमिके फमर मानवोंका देह तो अकाल मरणके आधीन है। विदित नहीं कि किस समय

नाश होजावे अर्थात् प्राण रहित होजावे। ऐसा होनेपर भी जबतक इसका सम्बंध है तबतक यह तापको करनेवाला है। इसीके ही निमित्तसे भूख, प्यास, गर्मी, शरदी आदिकी बाधाएं सताती हैं जिनसे आकुलित हो बहुत यत्न करना पड़ता है। यह जब कुछ भी विगड़ जाता है जीवको बेचैनी होजाती है। जितना संसारमें कष्ट है वह सब शरीरके निमित्तसे है। शरीरके उपकारीके वियोग पर शोक होता है। शरीरको हानि पहुंचाने वाले पर द्वेष होता है। यह शरीर ही रागद्वेषका मूल कारण है और रागद्वेष ही कर्मबंधके कारण हैं और कर्मबंध संसारमें भ्रमणके कारण हैं। ऐसा यह शरीर किसी भी तरह स्नेह करने योग्य नहीं है। इससे भीतरी प्रेम करना वृथा है, क्योंकि यह टिकनेवाला नहीं है। प्रेम तो उससे करना चाहिये जो थिर हो व सुखदाई हो। दुःखदायक अथिर व अपवित्र वस्तुसे राग करना मूर्खता है। बुद्धिवानको चाहिये कि जबतक शरीर है तबतक इसमें राग न करके मात्र इसको स्वास्थ्ययुक्त रखके इससे जो कुछ आत्महित है सो कर लेना योग्य है—उसमें आज कल न करना चाहिये। क्योंकि इसके छूटनेका कुछ भी भरोसा नहीं है।

ज्ञानार्णवमें श्री शुभचंद्र आचार्य कहते हैं—

अजिनपटलगूढं पंजरं कीकसानाम् ।
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ॥
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं ।
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥ १३ ॥

भावार्थ—यह शरीर चमड़ेके परदेसे ढका है भीतर यह हाड़ोंका पिंजरा है, विगड़ी हुई पीपकी दुर्गन्धसे पूर्ण है। कालके

मुखमें बैठा रहता है तथा रोगरूपी सर्पोंका घर है। ऐसा शरीर मानवोंके लिये प्रीतियोग्य नहीं है।

हे भगवन् सुपार्श्व ! आपने ऐसी हितरूप शिक्षा देकर जगतके प्राणियोंको आत्महितमें लगाया है, शरीरका मोह छुड़ाया है।

छन्द चौपाई।

जिम जड़ यंत्र पुरुषसे चलता, तिम यह देह जीव धृत पलता।
अशुचि दुखद दुर्गंध कुरूपी, यामें राग कहा दुखरूपी ॥ २२ ॥

उत्थानिका-हे भगवन् ! जब आपने ऐसी हितकारी शिक्षा दी तब फिर आपके वचन सुनकर सर्व ही जन शरीरादिसे वैराग्यवान होकर अपना आत्महित क्यों नहीं करते हैं ?-

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा।
अनीश्वरो जन्तुरहं क्रियार्त्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ३३॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(इयं) यह (भवितव्यता) दैव या कर्मोंका तीव्र उदय (अलंघ्यशक्तिः) ऐसा है कि इसकी शक्तिका उल्लंघन नहीं किया जासक्ता। इसका अनुमान कैसे हो कि कर्मका उदय या दैव कोई वस्तु है ? उसके लिये कहते हैं। (हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा) इसका चिह्न यह है कि कोई भी कार्य सुख दुःख या इष्टिसामग्रीकी प्राप्ति अप्राप्ति होती है उसमें दो कारणोंकी आवश्यक्ता है। अंतरङ्ग कारण कर्मका शुभ व अशुभ उदय है व बाहरी कारण उसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका सम्बंध है। यदि शुभ कर्म सहाई न हो तो कार्य नहीं भी होता है, इसलिये कहते हैं कि (कार्येषु) कार्योंके करनेके लिये (संहत्य) सहकारी कारण मिलाने पर (अहंक्रियार्त्तः जंतुः) अहंकारसे आतुर

मानव (अनीश्वरः) असमर्थ हो जाता है अर्थात् जिसको अहंकार है कि मैं कार्य करले जाऊंगा वह कभी २ सफलता नहीं पाता है (इति साधु अवादीः) ऐसा आपने यथार्थ उपदेश दिया है।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि इस जगतमें जब इंद्रिय सुख विरस है—शरीर अपवित्र व क्षणभंगुर है तब कर्मका उदय भी बलवान रहता है। यह वास्तवमें कर्म हीके उदयका कारण है जो इच्छित इंद्रियोंके भोग परिश्रम करनेपर भी नहीं मिलते व होते हुए भोग नष्ट होजाते हैं। तथा शरीरकी नानाप्रकार रचना भी कर्मके उदयसे होती है व शरीरका त्याग होना भी आयुकर्मके क्षयके आधीन है। यह तीव्र कर्मका उदय है, तीव्र मिथ्यात्वका उदय है, जिससे यह अज्ञानी प्राणी समझाए जानेपर भी प्रतीतिमें नहीं लाता है। जिस किसीको इतना अहंकार हो कि मैं अवश्य कार्य कर लेजाऊंगा, दैव व पुण्य पाप कोई चीज नहीं है उसीके बहुतसे कार्य कारण कलाप मिलानेपर भी सफल नहीं होते हैं। तब वह बिलकुल असमर्थ होजाता है। उस समय अवश्य दैवका स्मरण होता है। जगतमें ऐसे बहुतसे कार्य हैं जिनमें विघ्न आजाता है। एक सेठने यह विचार किया कि मैं अपने पुत्रको चतुर बनाकर व उसको गद्दी धर्ममें लगाकर फिर मैं घर छोड़ दूंगा। उसने अपने पुत्रको सब तरह ठीक बनाया। जब वह युवान होगया यकायक पुत्र रोगाक्रांत हो मर गया। सेठ इस भावी कर्मके उदयको रोक न सका।

एक आदमी अपने पास धनको बहुत सम्हालसे रखखे हुए यात्रा कर रहा है। यकायक कभी गाफिल होजाता है, चोर उसका

धन निकालकर लेजाते हैं क्या यह हानि पापकर्मके उदयसे नहीं हुई ? अवश्य हुई। एक ही भूमिमें आसपास खेती होती है किसीकी फलती है किसीकी नहीं फलती है। एक ही बाजारमें एक ही तरहकी दूकानें होती हैं, कहीं अधिक विक्कर अधिक लाभ होता है कहीं कम विक्कर कम लाभ होता है। शरीरकी भोजन-पानादिसे भलेप्रकार सम्हाल करते हुए भी यकायक कोई सरदी गरमी हवाका कारण बन जाता है कि जिससे शरीर रोगाक्रांत होजाता है। और देखते देखते शरीर छूट जाता है। अपने सम्बं-धियोंका वियोग व अपनी सम्पदाका वियोग कोई नहीं चाहता है परन्तु जगतमें वियोग होजाता है। आगेके श्लोकमें स्वयं आचार्य इसी बातको बताएंगे। वास्तवमें कर्म अवश्य है। यदि कर्म न हों तो आत्मा अशुद्ध ही न पाया जावे न इसके क्रोधादि विकार हों न इसके अज्ञान हों। तथा सबके काम सिद्ध ही होजाने चाहिये। क्योंकि ऐसा नहीं होता है इससे यह सिद्ध है कि अदृष्ट या दैव या पुण्य पाप अवश्य है। हरएक कार्यके लिये बाहरी व अंतरंग कारणकी जरूरत पड़ती है। बाहरी कारणके मिलानेके लिये पुरुषार्थ किया जाता है, तब अंतरंग कारण यदि अनुकूल होगा तो कार्यकी सफलता होगी, प्रतिकूल होगी तो कार्य असफल होजायगा। जगतमें जितना कर्मोंके क्षयोपशमसे ज्ञान व आत्मबल प्रगट होता है उसको पुरुषार्थ कहते हैं। यह कर्मोंके हटनेसे है, उदयसे नहीं है। इस ज्ञान और आत्मबलसे हरएक कार्यको विचार-पूर्वक करना चाहिये, यह तो हरएक मानवका कर्तव्य है, फिर उसमें सफलता व असफलता कर्मोंके उदयके अनुकूल है। यह

बात हमारी बुद्धिगोचर नहीं है कि सफलता ही होगी या असफलता। इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

भावार्थ—जो काम हमारे विना विचार किये हुए ही होजाते हैं, अर्थात् दुःख सुख आदि अबुद्धि पूर्वक होजाते हैं उनमें अपने ही पूर्वकृत पुण्य पापकर्मके फलका कारण मुख्य है और पुरुषार्थ गौण है। तथा जहां बुद्धिपूर्वक विचार करके काम किया जाता है उसमें जो जो इष्ट या अनिष्ट होजाता है उसमें मुख्यता पुरुषार्थकी है, गौणता दैवकी है। वास्तवमें हरएक कार्य दो कारणोंसे होता है—पुरुषार्थ और दैवसे। कहींपर पुरुषार्थकी मुख्यता है जहां विचार पूर्वक काम होता है। कहींपर दैवकी मुख्यता है जहां कुछ विचार भी नहीं किया गया था। किसीके मरणका किसीको विचार भी नहीं था, यहां अबुद्धि पूर्वक मरण हुआ। इसमें मुख्यता आयु कर्मके क्षयकी है गौणता बाहरी कारणकी भी है। शरीर यंत्र विगड़नेमें कोई बाहरी कारण अवश्य बना है। जहां हमने बहुत विचार पूर्वक कोई काम किया और वह जैसा विचारा था वैसा होगया, उसमें मुख्यता पुरुषार्थकी कही जाती है। परन्तु गौणतासे पुण्यका उदय भी कारण है। इस तरह आचार्यने संसारी प्राणीको हरएक कार्यकी सफलतामें असमर्थ भी बताया है। तीव्र मिथ्यात्वका उदय होता है तब उपदेश नहीं लगता है। परन्तु मन्द मिथ्यात्वके उदयमें उपदेश असर भी कर जाता है। ऐसा स्वरूप भवितव्यताका जानकर हमें कभी भी प्रमादी न होना

चाहिये। यहां दैवका स्वरूप मात्र बताया है। दैवके आधीन मात्र आलसी होकर बैठे रहनेका संकेत नहीं है।

छन्द चौपाई।

यह भवितव्य अटल बल धारी, होय अशक्त अहं मतिकारी।
दो कारण विन कार्य न राचा, केवल यत्न विफल मत वाचा ॥३३॥

उत्थानिका—उसी भवितव्यताकी सामर्थ्यको ही दिखाते हैं—

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वाञ्छति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥३४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(मृत्योः) मृत्युसे (बिभेति) यह प्राणी डरता रहता है (ततः मोक्षः न अस्ति) परन्तु उस मरणसे छुटकारा नहीं होता है। यह कर्मोदयका ही तीव्र प्रताप है (नित्यं) सर्वदा (शिवं) कल्याणको या मुक्तिको (वांछति) चाहता रहता है (अस्य लाभः न) परन्तु कर्मोंके उदयके ही कारणसे उस कल्याणका या मोक्षका लाभ नहीं होता है। (तथापि) तौभी (बालः) अज्ञानी प्राणी (भयकामवश्यः) मरणादिसे भय व सुखादिकी अभिलाषाके आधीन हुआ (स्वयं) अपने आप (मुधा) वृथा ही (तप्यते) दुःखी हुआ करता है (इति अवादीः) ऐसा आपने उपदेश दिया है। जो बुद्धिमान दीर्घदर्शी है वह यह समझकर कि दैवकी प्रतिकूलतासे ही इष्ट कार्य नहीं सिद्ध होता है, उस दैव या कर्मोंको क्षय करनेके लिये निरंतर धर्मका यत्न करता रहता है। धर्मकी वृद्धिसे ही सर्व इष्ट कार्यकी सिद्धि होती है।

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपने वस्तु स्वरूप ठीकर बताया है। कर्मोदयकी तीव्रता या दैव या भवितव्यताका

प्रमाण आपने प्रगट रूपसे यह बता दिया है कि सर्व ही प्राणी साधारणतासे यही चाहते हैं कि हम सदा जीवित रहें। हमारा कभी मरण न हो। परन्तु वे ऐसा कोई अलौकिक पुरुषार्थ नहीं कर सक्के जिससे वे मरणको टाल सकें, करते तो बहुत प्रयत्न हैं। औषधि, मंत्र, तंत्र आदि बहुत कुछ करते हैं। परन्तु मरणकी होनहारको बिलकुल ही नहीं टाल सक्के। यह शक्ति तो किसीमें भी नहीं है। इन्द्र जो महा बलवान है वह भी आयुकर्मके क्षयसे समयको टाल नहीं सक्ता। चक्रवर्ती जो महान् निधियोंके स्वामी हैं उनको भी समयपर मरना ही पड़ता है। यह अमिट भवितव्यताका प्रगट दृष्टांत है। दूसरा यह है कि बहुधा जन यह चाहते हैं कि हम संसारसे एकदम छूट जावें, हमारी मुक्ति होजावे तो हम जन्म मरण रोग शोक वियोगके दुःखोंसे रहित होजावें, परन्तु चाहनेपर भी अपना छुटकारा नहीं कर सक्के, मुक्ति नहीं प्राप्त कर सक्के, क्योंकि लौकिक पुरुषार्थसे कोई संसारसे छूटकर मुक्त नहीं होसक्ता। कर्मोंका उदय या दैव उसको नवीन नवीन गतियोंमें फंसा देता है। यह भी दैवकी शक्तिका प्रगट दृष्टांत है अथवा हरएक प्राणी सुख चाहता है भला चाहता है कि न मैं रोगी हूं, न दलिद्री हूं, न बूढ़ा हूं, न असमर्थ हूं, किन्तु सदा ही इच्छित भोगोंको भोगता रहूं। मेरे सुखमें कभी भी विघ्न न आवें परन्तु कर्मोदयकी तीव्रताके होनेसे ऐसा अपना हित कर नहीं सक्ता। रात दिन ही सुखमें विघ्न पाता है व इच्छित हित हाथ नहीं आता है। यह क्या कर्मकी तीव्रताका प्रगट उदाहरण नहीं है? ऐसा जानते हुए भी जो अज्ञानी हैं,

वस्तुके स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं, वे निरंतर मरणसे भयभीत रहते हैं और सुखकी इच्छा किया करते हैं। जो बात अपने लौकिक पुरुषार्थ मात्रके आधीन नहीं है जिसमें कर्मोंके उदयकी भी आवश्यक्ता है उसके लिये दुःखी होते हुए वृथा ही कष्ट पाते हैं–मनको संतापित रखते हैं। जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं वे जानते हैं कि हमारा यह जीवन आयु कर्मके उदयके आधीन है। हम आयु कर्मकी स्थितिको बिल्कुल ही बढ़ा नहीं सक्ते। इसलिये जब आयु क्षय होगी हमें यह शरीर छोड़ना पड़ेगा व दूसरा धरना पड़ेगा। इसलिये हमको मरणसे कभी भय न रखना चाहिये। जिसके समयको हम टाल ही नहीं सक्ते, उससे भय करना मूर्खता है और न हमें रात-दिन वैषयिक सुखोंकी चिन्ता ही करनी चाहिये। वे भी पुण्य कर्मके उदयके आधीन हैं। दूसरे वे इन्द्रियोंके विषय हमारे चाहनेसे ही हमारे साथ नहीं ठहरते हैं। जो स्त्री पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थ हैं वे अपने अपने कर्मोंके आधीन हैं। हम चाहते भी रहें कि वे न मरें व वे रोगी न हों व उनका वियोग न हो, परन्तु जब उनका कर्म उदय होजाता है वे मर जाते हैं, रोगी होजाते हैं, परदेश चले जाते हैं। जो अचेतन पदार्थ हैं, वे भी नाशवंत हैं। घर उपवन वस्त्र आभूषण सब जीर्ण होते जाते हैं। हमारा पुण्य क्षीण होगा तब उनका सम्बंध भी नहीं रह सकेगा। ऐसा कर्मोंका विचित्र नाटक जानकर वे ज्ञानी वृथा न तो मरनेसे डरते हैं न भोगाभिलाषसे तपते हैं किन्तु निरन्तर धर्म पुरुषार्थका सच्चे भावसे पालन करते हैं। यह रत्नत्रयमई जिनधर्म ही है जिसके प्रतापसे यह प्राणी सर्व कर्मोंको नाशकर मरणसे छूट जाता है और

नित्य मुक्तको पालेता है-जन्म मरणादि क्लेशोंसे सदाके लिये अलग होजाता है। धर्म ही ऐसा पुरुषार्थ है जिसके कारणसे पापोंका क्षय होता है, पुण्यका लाभ होता है। तब लौकिक दुःख कम होजाते हैं व लौकिक साताकारी सामग्री प्राप्त होजाती है। यह धर्म ही जीवका परम हितकारी है। ज्ञानी जीव सदा ही निशंक रहकर व निर्वांछक रहकर आत्मानंदका भोग करते हुए परम धर्मसे अपना हित करते रहते हैं। वे स्याद्वाद नयसे विचारते रहते हैं कि भवितव्यता भी है और पुरुषार्थ भी है। हमें तो योग्य पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम व मोक्षका करते ही रहना चाहिये। सफलता तब ही होगी जब दैव अनुकूल होगा, जब सिद्धिका समय आजायगा व अंतराय कर्म विघ्नकारक न रहेगा।

दैवके सम्बन्धमें सुभाषित रत्नसंदोहमें श्री अमितिगति आचार्य दिखलाते हैं—

भवितव्यता विधाता कालो नियतिः पुराकृतं कर्म।
वेधा, विधिस्वभावो भाग्यं दैवस्य नामानि ॥ ३४४ ॥
अन्यत्कृत्यं मनुजश्चिंतयति दिवा निशं विशुद्धधिया—
वेधा विदधात्यन्यत् स्वामी च न शक्यते भर्तुं ॥ ३६२ ॥
नरवरसुरवरविद्याधरेषु लोके न दृश्यते कोऽपि।
शक्नोति यो निषेद्धुं भानोरिव कर्मणामुदयः ॥ ३६९ ॥

भावार्थ—भवितव्यता, विधाता, काल, नियति, पूर्वकृत कर्म, वेधा, विधिस्वभाव, भाग्य, दैव ये सब शब्द एकार्थवाची हैं। यह मानव निर्मल बुद्धिसे रात दिन किसी अन्य ही कार्यकी चिंता किया करता है परन्तु कर्मोंका उदय कुछ अन्य ही आगे लादेता है, नहीं समर्थ कोई है जो इसे रोक सके। इस लोकमें न तो

चक्रवर्ती न इन्द्र न विद्याधर कोईमें भी यह शक्ति नहीं है कि जो तीव्र कर्मोंके उदयको रोक सके। जैसे सूर्यका उदय व अस्त अपने आधीन नहीं है वैसे कर्मोंका उदय या नाश अपनी चाहनापर नहीं है।

एक धर्म पुरुषार्थ तो अवश्य मन्द कर्मोंका क्षय कर सक्ता है व पुण्यका लाभ करा सक्ता है, विना धर्मके तो कोई भी दैवके आक्रमणसे बचानेवाला नहीं है। इसलिये पुरुषार्थका एकांत मत मिथ्या है, ऐसा समझना ही संतोषका कारण है।

छन्द चौपाई।

डरत मृत्युसे तदपि टलत ना, नित हित चाहे तदपि लभत ना।
तदपि मूढ़ भय वश हो कामी, वृथा जलत हिय हो न अकामी ॥३४॥

उत्थानिका—जिसके प्रदेशमें त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वोंका यथार्थ कथन है वही प्रमाणीक होता है। क्या श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपका वचन ऐसा ही है? इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य।३५

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(भवान्) हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आप ही (सर्वस्य तत्त्वस्य) सर्व ही त्यागने लायक व ग्रहण करने लायक तत्त्वोंके (प्रमाता) संशयादि दोषसे रहित ज्ञाता हैं व (माता बालस्य इव हितानुशास्ता) जैसे माता बालकको हितकारी शिक्षा देती है उसी तरह आप भव्यजीवोंको जो अज्ञानी हैं हितकारी तत्वकी शिक्षा देते हैं (गुणावलोकस्य जनस्य नेता) व आप ही सम्यग्दर्शनादि गुणोंके खोजी भव्यजीवको यथार्थ मार्गको दिखा-

नेवाले हैं। इसीलिये (अद्य) आज (मया अपि) मेरेसे भी (भक्त्या परिणूयसे) आप भक्तिपूर्वक स्तुति किये गए हैं।

भावार्थ–इस श्लोकमें दिखाया है कि हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! मैं आज आपकी भक्तिसे प्रेरित हो जो स्तुति कर रहा हूं उसमें कारण यही है कि आप ही स्तुति करने योग्य प्रमाणीक आत्मा है। आप सर्वज्ञ व सर्व दर्शी हैं क्योंकि आपने ज्ञानावरण दर्शनावरण व अंतरायका नाश कर डाला है, इसलिये सर्व ही तत्त्वोंको आप यथार्थ जानते हैं। आप ही पहचानते हैं कि क्या त्यागने योग्य है व क्या ग्रहण करने योग्य है। आपने मोह कर्मका सर्वथा क्षय कर डाला है इससे आपमें पूर्ण वीतरागता है। आपमें कोई रागद्वेष व स्वार्थ संभव नहीं है जिससे आप अन्यथा कहें, इसलिये आपने यथार्थ उपदेश दिया है। जिस तरह माता बालकको समझाती है उसकी भलाईका मार्ग बताती है उसको दुःख व हानिसे बचनेकी शिक्षा देती है उसी तरह आपने सर्व प्राणी मात्रका कल्याणकारक उपदेश दिया है। फिर जो अति निकट भव्यजीव हैं, मोक्षमार्गपर चलना चाहते हैं उनके आप ही पथ प्रदर्शक हैं वे आपके ही चारित्रका अनुकरण करते हुए आपके समान होजाते हैं। आप पूर्ण आनंदमई हैं, निर्विकार हैं, सर्वज्ञ हैं, परम हितोपदेशी हैं। यह प्रमाणीक पूजने योग्य देवका लक्षण होसक्ता है। श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभु! यह बात मैंने आपके प्रमाणीक वचनोंसे निश्चय करली है। आपका उपदेश ऐसा ही है जैसा वस्तु स्वरूप है। वस्तु नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि अनेक स्वभाव रूप है ऐसा आपने प्रतिपादन किया है। इन्द्रियोंके भोग अतृप्तिकारी,

क्षणिक व तापवर्द्धक हैं व भवभ्रमणके कारण हैं। ऐसा ही आपने बताया है।

राग द्वेष मोह बन्धके कारण हैं। वीतरागमई आत्माकी अनुभूति व रत्नत्रयमई एकाग्र परिणति बन्धकी नाशक है। शक्तिकी साधिका है व सुख शांतिकी सीढ़ी है। इसी भेद विज्ञान पूर्वक स्वानुभवसे मुझे झलकता है सो ही आपने बताया है। कर्मोंका उदय व बन्ध होता है। तथापि धर्म पुरुषार्थ कर्मोंका विध्वंश कर सक्ता है यह सब सच्चा तत्व आपने बताया है। जैसी जैसी मैं परीक्षा करता हूं आपके उपदेशकी सत्यता पाता हूं व मैं यदि कुछ भी आपके बताए हुए मार्ग पर चलता हूं मुझे सुख शांति मिलती है इसलिये मुझे निश्चय है कि आप ही यथार्थ आप्त हैं, वक्ता हैं व इंद्रादि देवोंसे व गणधरादिसे भी नमन करने योग्य हैं।

आप्तमीमांसामें स्वयं स्वामी समन्तभद्राचार्य अपनी परीक्षा प्रधानताको भले प्रकार बताते हैं स्वामी कहते हैं–

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टन्ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥

भावार्थ–हे जिनेन्द्र आप ही दोष रहित हैं क्योंकि आपका वचन युक्ति व आगमसे विरोधरूप नहीं है। आपका मत प्रसिद्ध प्रमाणसे बाधाको नहीं पाता है इसलिये विरोध रहित है। आपके मतरूपी अमृतसे जो बाहर हैं व सर्वथा एकांतवादी हैं और हम यथार्थ वक्ता हैं इस अभिमानसे दग्ध हैं उनका मत प्रमाणसे बाधाको प्राप्त होजाता है।

श्री अमितिगति सुभाषितमें कहते हैं—

भावाभावस्वरूपं सकलमसकलं द्रव्यपर्यायतत्वं ।
भेदाभेदावलीढं त्रिभुवनभवनाभ्यंतरे वर्तमानम् ॥
लोकालोकावलोकी गतनिखिलमलं लोकने यस्य बोध-
स्तं देवं मुक्तिकामा भव भवनमिदं भावयन्त्वाप्तमत्र ॥ ६४७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा अर्हंतका ज्ञान तीन लोकके भीतर रहे हुए पदार्थोंको भाव अभावरूप, एक व अनेकरूप, द्रव्य व पर्याय स्वरूप, भेद व अभेदरूप देखनेमें मल रहित परम निर्मल है व लोक अलोकका जाननेवाला है, उसी देव आप्तको मुक्तिके चाहनेवाले संसाररूपी घरको तोड़नेके लिये ध्याते हैं।

छन्द चौपाई ।

सर्व तत्वके आप हि ज्ञाता, मात बालवत् शिक्षा दाता ।
भव्य साधुजनके हो नेता, मैं भी, भक्ति सहित थुति देता ॥३५॥

(८) श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर स्तुतिः।

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥३६॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(चंद्रमरीचिगौरं) चंद्रमाकी किरण समान शुक्लवर्णके धारी, (जगति द्वितीयं चंद्र इव) जगतमें एक दूसरे ही अपूर्व चंद्रमाके समान (कांतम्) केवलज्ञानमई दीप्तिसे प्रकाशमान, (महताम् अभिवन्द्यम्) महान् इन्द्रादि द्वारा पूजनेयोग्य, (ऋषीन्द्रं) गणधर देवोंके स्वामी, (जिनं) कर्मोंको जीतनेवाले (जितस्वांतकषायबन्धम्) तथा अपने भीतर झलकनेवाले

व (चंद्रप्रभं) चंद्रमाके समान प्रभाधारी. ऐसे आठवें श्री चंद्रप्रभ भगवान् तीर्थंकरको (वन्दे) मैं समन्तभद्र नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां भी श्री चंद्रप्रभ नामकी सार्थकता बताई है। यद्यपि भगवानकी उपमा चंद्रमासे दी है कि उनकी प्रभा या चमक चंद्रमा तुल्य थी तथापि चंद्रमा उनके समान कोई वस्तु न था। चंद्रमाके रंगमें कुछ दोष झलकता है, पर चंद्रप्रभु भगवानमें बिलकुल साफ शुक्लपना था। शरीर भी शुक्ल था व अंतरंग भाव लेश्या भी वीतरागतारूप व कषायकी कालिमा रहित परम शुक्ल थी। चंद्रमा तो कमती बढ़ती उद्योत करता व उदय व अस्त होता है परन्तु यह सदा ही केवलज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित थे। चंद्रमाको मेघ आच्छादित कर लेते हैं परन्तु इस अद्भुत दूसरे चंद्रमाको कर्मोंका आवरण नहीं रहा है न कर्म अब आत्माका आवरण कर सक्ते हैं— ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका सर्वथा नाश होगया है। चंद्रमा तो राहूके द्वारा ग्रसित होता है परन्तु इस अनुपम चंद्रमाने उस भावकर्मरूप कषाय भावके बंधको बिलकुल मिटा दिया है जो वीतरागमय आत्मस्वभावको मलीन दिखला दिया करता था। उस चंद्रमाको तो मूर्ख अज्ञानी ही नमस्कार करते हैं परन्तु इस अपूर्व चंद्रमाको तो बड़े २ इन्द्रादि देव भी नमन करते हैं। वह चंद्रमा तो मात्र ज्योतिषी देवोंका ही इन्द्र है। यह परम स्वामई चंद्रमा बड़े २ गणधरादि मुनियोंका स्वामी हैं। सदा ही विकाशरूप ऐसे अर्हंतपदमें सुशोभित श्री चंद्रप्रभ भगवान आठों वर्तमान तीर्थंकरको मैं मन वचन कायसे नमस्कार करता हूं। मैं जानता हूं कि श्री चंद्रप्रभ भगवानके समान ही मेरा आत्मा

भी है परंतु जहांतक मैं कर्मोंके जालमें फंसा हूं व कषाय भावसे ग्रसित हूं तबतक मैं परम आदर्शरूप श्री चंद्रप्रभ भगवानको अपने हृदय-मंदिरमें धारणकर उनकी भक्ति करता रहता हूं व उनका अनुकरण करता रहता हूं कि जिससे मैं भी कर्मोंको और कषायोंको जीतकर उनहीके समान जिन, महान, पूज्यनीय, व वंदनीय व परम ज्ञानमें नित्य प्रकाशमान व परम निराकुल होजाऊं।

पात्रकेशरी स्तोत्रमें अरहंतकी महिमा बताई है–

परिक्षपितकर्मणस्तव न जातु रागादयो।
न चेन्द्रियविवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृत्तिः॥
तथापि सकलं जगद्युगपदंजसा वेत्सि च।
प्रपश्यसि च केवलाभ्युदितदिव्यसच्चक्षुषा॥ ९॥

भावार्थ–हे जिनेन्द्र! क्योंकि आपने मोहनीयादि कर्मोंका नाश कर दिया है इसलिये आपके कभी भी रागादिक दोष नहीं होते हैं। केवलज्ञानका प्रकाश होजानेसे आपके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नहीं रहा है, इसीसे न इंद्रियोंका व्यापार है न मनकी संकल्प विकल्परूप चंचल क्रिया है। तथापि आप केवलज्ञानमई दिव्यचक्षुसे सर्व विश्वको एक साथ जानते व देखते हो। आपकी महिमा अपार है।

भुजङ्गप्रयात छन्द।

प्रभू चन्द्रप्रभ शुक्ल वर वर्णधारी।
जगत नित प्रकाशित परम ज्ञानचारी॥
जिनं जितकषायं महत् पूज्य मुनिपति।
नमूं चंद्रप्रभ तू द्वितिय चंद्र जिनपति॥ ३६॥

उत्थानिका–और कैसे श्री चंद्रप्रभु भगवान् हैं–

यस्यांगलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥३७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(तमोरेः रश्मिभिन्नं तमः इव) जैसे सूर्यकी किरणोंके द्वारा अंधकार छिन्नभिन्नकर दिया जाता है इसी तरह (यस्य अंगलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं बाह्यं तमः) अपने शरीरके प्रभामंडलके द्वारा छिन्नभिन्न किये गए बाहरी अन्धकारको जिन्होंने (ननाश) नाशकर डाला है (च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नं बहुमानसं) और जिन्होंने शुक्लध्यानमई अद्भुत दीपकके प्रभावसे अति गहरा अंतरंगका अज्ञान अंधकार भी नष्ट कर डाला है ऐसे चंद्रप्रभुको मैं नमन करता हूं।

भावार्थ-यहां यह दिखलाया है कि चंद्रमा तो आपकी उपमाके लायक नहीं है, कदाचित् सूर्य तो होगा, उसके लिये आचार्य कहते हैं कि सूर्य भी आपके सामने कुछ नहीं है। सूर्यकी किरणें जब फैलती हैं तब ही बाहरका अंधेरा मिटता है। जब किरणें अस्त होजाती हैं तब फिर अंधेरा फैल जाता है। सूर्य सदाके लिये प्रकाशित नहीं रहता परन्तु आप हे चन्द्रप्रभु! अद्भुत सूर्य हो जो सदा ही प्रकाशित रहते हो। इसीलिये आपके परमौदारिक शरीरकी प्रभाका मंडल ऐसा तेजस्वी है कि उसके द्वारा सदा ही बाहरी अन्धकार दूर रहता है। आपके सामने बाहरी अन्धकार कभी आ नहीं सक्ता है। सूर्यको रात्रिका तम ग्रस लेता है, आपको कोई तम नहीं छासक्ता है। क्योंकि आपने ऐसा ही नाश कर दिया है जो फिर आपके सामने आ ही नहीं सक्ता। सूर्य तो मात्र बाहरी अन्धकार कुछ देरके लिये हटाता है परन्तु अंतरंगमें तो वह अज्ञानी है,

उसे बहुत ही अल्पज्ञान है। भीतर उसके केवल ज्ञानावरणका पूर्ण अंधेरा व्याप्त है जिसे वह दूर नहीं कर सक्ता। परन्तु धन्य हैं आप। आपने ऐसा शुक्लध्यानमई व आत्मसमाधिरूप नित्य प्रकाश रहनेवाला दीपक जला दिया है जिससे सर्व अज्ञानका अंधकार सदाके लिये नाश होगया है, पूर्ण केवलज्ञानका प्रकाश होगया है। अंतरंग बहिरंग सर्व तमके नाश करनेवाले अद्भुत सूर्यके समान जगतका सूर्य क्या बराबरी रख सक्ता है? कुछ भी नहीं। इसलिये हे चंद्रप्रभ भगवान! आप इस सूर्यसे कहीं अधिक परम अद्भुत सूर्य हो। इसीलिये मैं आपको वार २ नमन करता हूं।

श्री पद्मनंद मुनि धम्मरसायणमें कहते हैं—

लोयालोयविदण्हू तम्हा णामं जिणस्स विण्हूत्ति।
जम्हा सीयलवयणो तम्हा सो वुच्चए चंदो॥ १२६॥

भावार्थ—जिनेन्द्रको विष्णु इसीलिये कहते हैं कि वे लोक अलोक सर्वके जाननेवाले हैं, क्योंकि भगवानके वचन अति शीतल हैं, शांतिदाता हैं। अतएव भगवान् ही सच्चे चंद्रमा कहे जाते हैं।

भुजङ्गप्रयात छन्द।

हरैं भानुकिरणें यथा तम जगतका, तथा अंग भामंडलं तम जगतका।
शुक्लध्यान दीपक जगाया प्रभूने, हरा तम कुबोधं स्वयं ज्ञानभूने॥३७॥

उत्थानिका—श्री जिनेन्द्रका उपदेश सुनकर मतवादी अपने पक्षके अहंकारसे रहित होगए ऐसा कहते हैं—

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केशरिणो निनादैः।३८

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यथा) जैसे (केशरिणः) सिंहकी (निनादैः) गर्जनासे (मदार्द्रगण्डाः) मदसे अपने

अपने कपोलोंको भिगोए हुए (गजाः) हाथी (विमदा) मद रहित (बभूवुः) होजाते हैं वैसे (यस्य) इस चंद्रप्रभु भगवानके (वाक् सिंहनादैः) वचनरूपी सिंहनादसे (स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः) अपने पक्षकी उत्तमताके अहंकारसे लिप्त (प्रवादिनः) अन्य मत- वाले (विमदाः बभूवुः) अहंकार रहित होगए।

भावार्थ—यहांपर अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिका महात्म्य वर्णन किया है। क्योंकि भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं इसके लिये उनकी वाणीसे वे ही तत्त्व प्रकाशित हुए जो यथार्थ हैं। तत्त्व अने- कांत स्वरूप है, एक ही स्वभावको रखनेवाला नहीं है। हरएक द्रव्य किसी अपेक्षा नित्य है किसी अपेक्षा अनित्य है। किसी अपेक्षा भावरूप है किसी अपेक्षा अभाव रूप है। हरएक द्रव्य सदासे सत रूप है। न कभी बना न विगड़ेगा। तथापि उसमें पर्याय बदलती रहती हैं। इसलिये वह अनित्य या असतरूप भी है। आपके वचनोंको सुनकर व बुद्धिसे विचार कर यही प्रतीति होती है कि आप वही बता रहे हैं जैसा कुछ वस्तुस्वभाव है। तब बड़े बड़े एकांतमतवादी जिनको इस बातका अहंकार था कि हमारा मत यथार्थ है हम ठीक मार्गपर चल रहे हैं जिनमेंसे कोई पदार्थको सर्वथा एक ही मानते थे कोई सर्वथा अनेक ही मानते थे, कोई सर्वथा सत ही मानते थे, कोई सर्वथा असत् ही मानते थे, कोई आत्माको सर्वथा शुद्ध व अकर्ता ही मानते थे, कोई उसे सर्वथा अशुद्ध व कर्ता ही मानते थे। इत्यादि भिन्न२ एक ही स्वभावको लेकर चलनेवाले मत थे वे अपनी भूलको समझकर अपना अहंकार छोड़ देते हैं और सरल होकर आपके मतके अनुयायी होजाते हैं।

उनका अहंकार उसी तरह भाग जाता है जिस तरह वनमें बड़े२ मदोन्मत्त हाथी विचरते हों, परन्तु जब वे सिंहकी गर्जना सुनते हैं तो मदरहित होजाते हैं और छिपकर बैठ रहते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरिने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें भगवानकी वाणीको ऐसा ही अपूर्व समझकर नमस्कार किया है—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥ २०॥

भावार्थ—मैं अनेक स्वभावोंको बतानेवाली अनेकांत वाणीको इसीलिये नमन करता हूं कि यह परमागमका बीज है अर्थात् सर्वज्ञके ज्ञानको यथार्थ झलकानेके लिये परम उच्च साधन है तथा जिसने एकांतवादियोंको अनेकांतवादी बना दिया है। जैसे जन्मके अंधे हाथीको पूर्ण न जानते हुए कोई पूंछको पकड़कर उतने ही भागको हाथी मानते, कोई सूंड पकड़कर उतनेहीको हाथी मानते, कोई एक टांग पकड़कर उसे ही हाथी मानते, इसतरह हाथीके पूर्ण ज्ञानसे बाहर थे, जब किसी हाथीके देखनेवाले द्वारा समझाए जाते हैं तब हाथीका पूर्ण स्वरूप जानकर अपने अज्ञानका अहंकार छोड़ देते हैं। आपकी वाणी भिन्न २ अपेक्षा या दृष्टिसे जो विरोध दिखता है उस सब विरोधको मेटनेवाली है। ऐसी वाणीके वक्ता आप श्री चन्द्रप्रभ भगवान सच्चे आप्त हैं। इसलिये आपको मैं नमन करता हूं।

भुजंगप्रयातछन्द।

स्वमत श्रेष्ठताका धरैं मद प्रवादी, सुनैं जिनवचनको तजैं मद कुवादी।
यथा मस्त हाथी सुनैं सिंह गर्जन, तजैं मद तथा मोहका हो विसर्जन॥

उत्थानिका—और भगवान कैसे थे सो कहते हैं—

यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यः) जो चंद्रप्रभ भगवान (अद्भुतकर्मतेजाः) सर्व प्राणियोंको एक साथ अपनी अपनी भाषामें समझानेके लिये आश्चर्यकारी कार्यके तेजको रखनेवाले हैं व (अनंतधामाक्षरविश्वचक्षुः) जो अनंत ज्योति स्वरूप अविनाशी विश्वको एकसाथ देखनेको समर्थ ऐसे केवलज्ञानके स्वामी हैं (समंतदुःखक्षयशासनः) तथा जिनका शासन व उपदेश समस्त दुःखोंका क्षय करनेवाला है, परम सुखमई मोक्षको देनेवाला है, ऐसे भगवान (सर्वलोके) इस सर्व तीनलोकमें (परमेष्ठितायाः पदं बभूव) उत्कृष्ट पदके धारी श्री अरहंत परमेष्ठी हुए।

भावार्थ-यहांपर श्री अरहंत भगवानके अरहंतपदका महात्म्य वर्णन किया है। तीनलोकमें जितने बड़े २ इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती राजा प्रसिद्ध हैं वे सब आपको परमेष्ठी मानते हैं, क्योंकि आप ऐसे पदमें विराजमान हैं जिसको कोई कर्मोंके फंदोंमें पड़े हुए संसारी जीव नहीं प्राप्त हैं। आपने संसारमें आत्माको मलीन व निर्बल रखनेवाले चार घातीय कर्मोंका नाश कर डाला है। इसलिये न कोई आपमें अज्ञान है, न मोहादि कषाय भाव है, जिनमें प्रायः सर्व जगतके कर्मबद्ध प्राणी ग्रसित हैं। आप इसी कारण परमोच्च अर्हंत परमात्मा हैं। फिर आपका तेज ऐसा प्रभावशाली है कि आपकी दिव्यध्वनि जब प्रगट होती है उसमें ऐसा पदार्थोंका प्रकाश होता है जिससे सुननेवाले अनेक देव मानव व पशु अपनी २ भाषामें मतलब समझ जाते हैं और

पदार्थोंका सच्चा स्वरूप पाकर अपना अज्ञान व मोह मिटाते हैं, तथा धर्मामृतसे सिंचित हो परम तृप्त होजाते हैं। ऐसा आश्चर्यकारी कार्य अन्य अल्पज्ञानियोंके द्वारा होना अशक्य है। फिर आपका केवलज्ञानमई नेत्र ऐसा सदा प्रकाशमान रहता है जिसमें अनन्त तेज भरा हुआ है, जो सर्व ज्ञेयोंको त्रिकालवर्ती पर्यायोंके साथ एक साथ जानता है तौभी उसमें इतना सामर्थ्य है कि ऐसे अनन्त जगत हों तौभी उनका बोध होजावे। फिर आपका शासन ऐसा हितकारी व अमूल्य है कि उसपर विश्वास लानेसे व उसपर चलनेसे भव्य जीवोंका सर्व सांसारिक दुःख नाश होजाता है और परम स्वाधीन व आत्मानंदसे भरपूर मोक्षपद प्राप्त होजाता है। आप इसी कारण सच्चे तरण तारण तीर्थंकर हैं। आप स्वयं तरते हुए अनेक भव्य जीवोंको भव समुद्रसे तारनेवाले हैं।

पात्रकेशरी स्तोत्रमें केवलज्ञानकी महिमा बताई है—

तपः परमुपाश्रितस्य भवतोऽभवत् केवलं।
समस्तविषयं निरक्षमपुनश्च्युति स्वात्मजम् ॥
निरावरणमक्रमं व्यतिक्रान्तदयेतात्मकम्।
तदेव पुरुषार्थसारमभिसम्मतं योगिनाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! आपने उत्कृष्ट तप किया, शुक्लध्यान साधन किया जिससे आपको ऐसा केवलज्ञान जग गया जो सर्व जाननेयोग्यको जाननेवाला है, इंद्रियोंकी व मनकी सहायता रहित है, अविनाशी है, आत्माहीसे उत्पन्न है, आवरण रहित है, क्रम रहित एकदम सर्वको जाननेवाला है, व जो यथार्थ जैसाका तैसा पदार्थोंको जाननेवाला है। आपने जो यह मोक्षका उत्तम पुरुषार्थ सिद्ध कर लिया वही बात योगियोंको मान्य है।

भुजङ्गप्रयात छन्द।

तुही तीन भूमें परमपद प्रभू है, करे कार्य अदभुत परम तेज तू है।
जगत नेत्रधारी अनंत प्रकाशी, रहे नित सकल दुःखका तू विनाशी॥३९।

उत्थानिका—फिर प्रभु कैसे हैं सो कहते हैं—

स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात् पवित्रो भगवान्मनो मे।४०

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सः) वह चंद्रप्रभ भगवान् (भव्यकुमुद्वतीनां) भव्यजीवरूपी कुमुदोंको व कोकावेलियोंको विकसित करनेके लिये (चंद्रमा) मानों चंद्रमा हैं। (विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः) जिसने सर्व रागादि दोषरूपी मेघोंके कलङ्कके लेपको नष्ट करदिया है, (व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः) व जिनकी दिव्यध्वनिकी रचना चंद्रकिरणके समूहके समान सर्वत्र फैली है। ऐसे (पवित्रः) निर्मल (भगवान्) परम ऐश्वर्यवान् चंद्रप्रभु भगवान् (मे मनः) मुझ समन्तभद्रके मनको (पूयात्) कर्ममलसे पवित्र करो।

भावार्थ—यहांपर फिर आचार्यने श्री चंद्रप्रभको अद्भुत चंद्रमा मानके स्तुति की है। जगतका चंद्रमा तो मात्र कुमुदियोंको ही प्रफुल्लित करता है, परन्तु चन्द्रप्रभस्वामीके दर्शनसे सर्व ही भव्यजीव प्रसन्न हुए वे आनंदमें गदगद हो समवशरणमें विराजित हैं। उनका हृदय हर्षके मारे परम तृप्त होरहा है। जगतके चंद्रमाके ऊपर मेघोंका लेप आजाता है, तब प्रकाश ढक जाता है व कलंक छा जाता है। परन्तु प्रभुने कर्मोंके लेपको ऐसा दूर कर दिया है कि कभी भी कोई दोष न अज्ञानका न रागादिका आसक्ता है। श्री जिनेन्द्र सदा ही दोष व कलंक

रहित रहते हैं। चंद्रमाकी किरणें फैलती हैं, परन्तु उनसे कोई सारपना नहीं मिलता है। आप सच्चे चंद्रमा हैं। आपकी दिव्य-वाणीकी धारावाही रचना जब समवशरणमें किरणोंके समान फैलती हैं तब सर्व भव्यजीव वाणीको सुनकर अपना अनादि भ्रम मेटदेते हैं, मिथ्यात्वका अंधेरा जो अनादिकालसे पड़ा हुआ था वह दूर होजाता है चंद्र किरणें तो ऊपर२का कुछ अंधेरा हटाती हैं, गुप्त प्रदेशोंका अंधेरा नहीं जाता है। परन्तु आपकी वचनरूपी किर-णोंसे हृदयके भीतर छिपा हुआ अज्ञानका व माया मिथ्या निदा-नका शल्यरूप अंधेरा व अहंकार ममकाररूपी गाढ़ अंधेरा सर्व मिटजाता हैं। चंद्रमामें पवित्रता नहीं झलकती है। वह कलंक सहित है परन्तु श्री चंद्रप्रभ भगवान पूर्ण पवित्र हैं। सर्व कलंक रहित परम सर्वज्ञ व वीतराग हैं, सच्चे देव हैं, जीवन्मुक्तरूप परमात्मा हैं। चंद्रमा तो छिप जाता है, उसका प्रकाश व महात्म्य अखंड रूपसे नहीं रहता है। कभी घटता कभी बढ़ता कभी छिपता है। परन्तु आपका ऐश्वर्य व प्रताप सदा ही स्थिर रहता है, ऐसे श्री चंद्रप्रभ भगवान आप अपूर्व चन्द्रमा हैं, तब मैं समंतभद्र भी यही भावना भाता हूं कि मेरा मन सर्व रागादि दोषोंसे पवित्र हो जावे। आपकी वचनरूपी किरणें मेरे मन-मंदिरमें प्रवेश करके मेरा सब अज्ञान व रागादितम व कलंक मेट देवें और मैं स्वच्छ चिदा-त्मा आपके समान ही पवित्र होजाऊं।

ज्ञानलोचन स्तोत्रमें श्री वादिराजजी प्रार्थना करते हैं—

अनाद्यविद्यामयमूर्छितांगं, कामोदरक्रोधहुताशतप्तम्।
स्याद्वादपीयूषमहौषधेन, त्रायस्व मां मोहमहाहिदष्टम् ॥ ३१ ॥

भावार्थ–अनादिकालके अज्ञानरूपी रोगसे मेरा आत्मा मूर्छित होरहा है, व इच्छा मेरे भीतर भरी हुई है तथा क्रोधकी अग्निसे तप रहा हूं। मुझे मोहरूपी महान् सर्पसे काट रक्खा है। उसका विष चढ़ा हुआ है सो हे स्वामी! स्याद्वाद वाणीरूपी अमृतकी महान औषधि पिलाकर मेरी रक्षा करो।

भुजंगप्रयात छंद।

तुही चन्द्रमा भविकुमुदका विकाशी, किया नाश सब दोष मल मेवराशी।
प्रगट तत् वचनकी किरण माल व्यापी, करो मुझ पवित्रं तुही शुचि प्रतापं॥

(९) श्री पुष्पदंत तीर्थंकर स्तुतिः।

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम्।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः॥४१॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(सुविधे) हे सुविधि अर्थात् शोभनीक चारित्रके पालनेवाले श्री पुष्पदंतनाथ भगवान (त्वया) आपने (स्वधाम्ना) अपने केवलज्ञानरूपी तेजसे यथार्थ जानकर (तत्त्वं) जीवादि वस्तुओंके स्वभावको (एकांतदृष्टिप्रतिषेधि) एकांत दर्शनका निषेधक अर्थात् अनेकांत दर्शनका पोषक (तदतत् स्वभावम्) तत् तथा अतत् स्वरूप अर्थात् किसी अपेक्षासे किसी स्वरूप है दूसरी अपेक्षासे उस स्वरूप नहीं है ऐसा (प्रमाणसिद्धं) तथा जो प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध है (प्रणीतं) वर्णन किया है। (त्वदन्यैः) आपसे अन्य जो सर्वज्ञ वीतराग नहीं हैं उन्होंने (एतत्) इसप्रकार तत्वका (समालीढपदं न) स्वाद या अनुभव नहीं प्राप्त किया है।

भावार्थ–यहां श्री पुष्पदंत तीर्थंकरका दूसरा नाम सुविधि कहकर उसकी सार्थकता बताई है कि जैसा प्रभुका नाम है वैसे ही उनमें गुण है। सुविधि शब्द बताता है कि जिसमें सु अर्थात् शोभनीक विधि अर्थात् क्रिया अनुष्ठान या चारित्र हो तथा दूसरा अर्थ यह भी होसक्ता है कि जिसने शोभनीक व उत्तम व यथार्थ विधि अर्थात् मोक्षप्राप्तिकी विधिको या वस्तुके स्वरूपको बताया हो। इसी बातका विस्तार करते हुए स्वामी कहते हैं कि जिस तरह तत्त्वका वर्णन आपने किया है वही यथार्थ है। यदि कोई निष्पक्ष होकर उस तत्त्वकी परीक्षा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणरूपी तराजूसे करेगा तो उसको सिद्ध होजायगा कि आपका कथित तत्त्व ही यथार्थ है तथा आपके विरुद्ध जिन लोगोंने किसी प्रकारका तत्त्व कहा है वह यथार्थ नहीं है क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता है। आप सर्वज्ञ हैं इसलिये आपने अपने दिव्य व अनन्त ज्ञानके बलसे वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा जाना तथा वैसा कहा। परन्तु जो बिचारे सर्वज्ञ नहीं हैं अल्पज्ञ हैं, जो त्रिकालगोचर वस्तुकी पर्यायोंके ज्ञानसे अनभिज्ञ हैं उनसे तत्त्वका स्वरूप यथार्थ कहते न बने तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। आपका प्रतिपादित तत्त्व अनेकांत स्वरूप है। अर्थात् हरएक वस्तु अनेक धर्म या स्वभावोंको रखनेवाली है, वह एकांतरूप नहीं है। अर्थात् एक ही स्वभाववाली नहीं है। इसीसे जिनके मतमें वस्तु एक स्वभाववाली ही है। अर्थात् भाव स्वरूप ही है। या अभाव स्वरूप ही है नित्य ही है या अनित्य ही है, एक रूप ही है या अनेक स्वरूप ही है उनका दर्शन मानने योग्य नहीं भासता ..

परन्तु आपका दर्शन वस्तुके स्वरूपको जैसा है वैसा बताता है। अर्थात यह कहता है कि वस्तु एक ही समयमें किसी अपेक्षासे जब भाव स्वरूप है तब ही दूसरी अपेक्षासे अभाव स्वरूप है, जब किसी अपेक्षासे नित्य स्वरूप है तब दूसरी अपेक्षासे अनित्य स्वरूप है। किसी अपेक्षासे एक स्वरूप है तब दूसरी अपेक्षासे अनेक स्वरूप है इत्यादि अनेक धर्मरूप वस्तुको बताया है। सो ही प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणोंसे सिद्ध होता है इसीलिये आप ही मेरे द्वारा पूजनीय हैं। स्वामीने आप्तमीमांसामें स्वयं कहा है कि वस्तुमें अनेकधर्म होते हैं, उनके वर्णनमें एककी प्रधानता तब दूसरेकी गौणता होती है जैसा कहा है—

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषांतानां तदंगता ॥ २२ ॥

भावार्थ—हरएक धर्म या पदार्थ अनंत धर्म या स्वभावोंको हर समय रखनेवाला है। तथा हरएक धर्म या स्वभावमें भिन्न २ ही अर्थ हैं। एक स्वभाव दूसरे स्वभावसे भिन्न रूप है। इसीलिये जब उनमेंसे एक किसीको मुख्य करके वर्णन करेंगे तब ही दूसरे स्वभाव जिनका कथन एकसाथ नहीं होसक्ता गौण होजायंगे क्योंकि एक ही कालमें उनको एकसाथ कहनेकी शक्ति वचनमें नहीं है। तथापि वस्तुको अनेकांत स्वरूप ही हैं, वह एकांतरूप कदापि नहीं है।

पद्धरीछंद।

हे सुविधि! आपने कहा तत्त्व, जो दिव्यज्ञानसे तत् अतत्त्व।
एकांत हरण सुप्रमाणसिद्ध, नहिं जान सकैं तुमसे विरुद्ध ॥ ४१ ॥

उत्थानिका—ऐसा अनेकांत तत्त्व कैसा है उसे बताते हैं—

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्तथा प्रतीतेस्तव तत्कथंचित्।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात ॥४२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(तव) आपके मतमें (तदेव च स्यात) जीवादि वस्तु अपने स्वरूपसे है भी (तदेव च न स्यात) तथा परके स्वरूपसे नहीं भी है (तत् कथंचित तथा प्रतीतेः) ऐसा पदार्थ सर्वथा अस्ति नास्ति स्वरूप या सत या असत्‌रूप या भाव अभावरूप नहीं है, किन्तु किसी भिन्न २ अपेक्षासे है। स्वस्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप है। अर्थात् वस्तुमें अस्तिपना या भावपना या सतपना है उसी समय पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है। अर्थात् वस्तुमें नास्तिपना, या अभावपना या असत्‌पना है। ऐसा वस्तुका भाव अभावरूप स्वभाव प्रमाणसे प्रतीतिमें आरहा है। (विधेः च निषेधस्य) इस विधि और निषेधका या अस्तित्व नास्तित्वका (अत्यन्तं अन्यत्वम् न न च अनन्यता) पदार्थके साथ सर्वथा न तो भेदपना है और न सर्वथा अभेदपना है (शून्यदोषात) सर्वथा भेद या अभेद माननेसे वस्तुके शून्य या नाश होनेका दोष आजायगा। अस्तित्व नास्तित्व दोनों स्वभाव वस्तुके हैं, सो वस्तुमें दोनों हरसमय रहते हैं। यदि ऐसा माने कि अस्तित्वपना वस्तुसे अलग रहता है। तब अस्तित्वके विना वस्तु रह नहीं सक्ती-उस वस्तुका अभाव हो जायगा व अस्तित्व स्वभाव भी निराधार नहीं रह सक्ता। हरएक स्वभाव या गुण किसी वस्तुमें ही रहेगा, भिन्नता माननेसे अस्तित्वका अभाव होगा। और यदि नास्तित्वको बिलकुल वस्तुसे भिन्न माने तो सर्व वस्तु मिलकर एक होजायगी। नास्तित्व

धर्म वस्तुमें रहता है तब ही वस्तुका वस्तुपना झलकता है कि वस्तु परस्वरूप न होकर अपने स्वरूपसे है। तथा नास्तित्व धर्म भी आधार विना कहां रह सकेगा, उसका भी अभाव होजायगा। यदि ऐसा माने कि सर्वथा अस्तित्व व नास्तित्व धर्मका वस्तुमें अभेद ही है तब भी नहीं बनेगा। सर्वथा अस्तित्वका व नास्तित्वका अभेद माननेसे यह कहा भी न जासकेगा न समझा जासकेगा कि वस्तु है कि वस्तु नहीं है। तथा यदि पदार्थमें सर्वथा दोनोंका अभेद मानें तो दो विरोधी धर्म विना अपेक्षाके वस्तुका अभाव ही कर डालेंगे।

भावार्थ-यहां यह दिखलाया है कि वस्तु अनेकांत स्वरूप है। एकांत स्वरूप माननेसे बहुत दोष आयगा। हरएक वस्तुमें अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म किसी किसी अपेक्षासे हैं, एक अपेक्षासे कहना तो ठीक न होगा। जीव द्रव्य हैं क्योंकि जीवमें जीवका द्रव्य, जीवका क्षेत्र, जीवकी पर्याय, जीवका भाव जीवमें है तब ही उसमें अजीवका अभाव है अर्थात् जीव द्रव्यमें अजीवका द्रव्य, अजीवका क्षेत्र, अजीवकी पर्याय, अजीवका स्वरूप नहीं है। इस तरह जीवका अभाव अजीवमें, अजीवका अभाव जीवमें यथा जीवका भाव जीवमें व अजीवका भाव अजीवमें माननेसे ही जीव अजीव दोनों पदार्थ सिद्ध होते हैं। इसलिये स्याद्वाद वाणी कहती है कि स्यात् जीवः अस्ति अर्थात् किसी अपेक्षासे अर्थात् अपने इत्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा जीवमें अस्तिपना या जीवका जीवपना है तथा स्यात् नास्ति जीवः अर्थात् किसी अपेक्षासे अर्थात् अजीवकी अपेक्षासे जीवमें नास्तिपना है

अर्थात् अजीव जीवमें नहीं है। ऐसा ही वस्तुका यथार्थ स्वभाव है।

अब कहते हैं कि अस्तित्व स्वभावका जीवके साथ सर्वथा भेद मानोगे। अर्थात् अस्तित्वसे भिन्न जीव है तो यह दोष आयगा कि सत्ताके विना जीव है यह प्रतीति भी कैसे होगी। तथा सत्ता स्वभाव विना द्रव्यके आधारके कहां रह सकेगा? अर्थात् ऐसा माननेसे जीवका व सत्ताका दोनोंका ही अभाव होजायगा। सत्ता और जीव द्रव्यमें संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भेद है। परन्तु प्रदेशकी अपेक्षा भेद नहीं है। इसलिये सत्ताका कथंचित भेद कथंचित् अभेद मानना ही ठीक होगा। यदि नास्तित्व धर्म जीव द्रव्यसे सर्वथा भेद माने तो नास्तित्व धर्म छूट जानेसे उस जीवमें अजीवका अभाव नहीं सिद्ध होगा तब जीव अजीव एक होजांयगे। तथा विना आधारके नास्तित्व धर्म भी नहीं रह सकेगा।

अब यदि यह माने कि अस्तित्व धर्मका जीवके साथ सर्वथा अभेद है। तब स्वभाव व स्वभाववान विलकुल एक होनेसे स्वभाव या स्वभाववानका भेद कहा ही न जासकेगा। इसी तरह यदि नास्तित्व धर्म भी जीवके साथ एक होजायगा तब भी नास्तित्व स्वभावका और जीवका भेद नहीं कहा जायगा तथा जब अपेक्षा विना दोनों स्वभाव वस्तुमें रह जांयगे तब अस्तित्वमें नास्तित्व आनेसे कुछ भी वस्तु न रहेगी। वस्तुकी शून्यता होजायगी। जैसे हमने एक वाक्समें १०) रक्खे फिर १०) निकाल दिये तब वहां कुछ भी न रहा। न तो अस्तित्व नास्तित्वसे कभी एक होसक्के हैं क्योंकि दो भिन्न २ स्वभाव हैं और न पदार्थसे अस्तित्व व नास्तित्व सर्वथा एक होसक्ते हैं। स्वरूप यही मानना पडेगा

कि जीवादि द्रव्योंमें कथंचित् अस्तित्व है व कथंचित् नास्तित्व है। स्वस्वरूपकी अपेक्षा अस्तित्व है पर स्वरूपकी अपेक्षा नास्तित्व है, दोनों ही धर्म भिन्न२ अपेक्षासे हैं, ये दोनों धर्म धर्मीमें हैं, प्रदेशपनेकी अपेक्षासे जहां धर्मी है वहां ही यह दोनों धर्म हैं परन्तु नाम व लक्षणादिकी अपेक्षासे धर्म व धर्मीमें भेद है—

हरएक पदार्थमें विधि व निषेधपना अपेक्षासे है सो ही श्री समन्तभद्राचार्यने आप्तमीमांसामें कहा है।

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस किसी विशेष वस्तुको शब्दसे कहेंगे वह तब ही संभव है जब उसमें विधेय अर्थात् अस्तित्व व प्रतिषेधि अर्थात् नास्तित्व दोनों हों। वह वस्तु अपने स्वरूपसे अस्तित्व है, परस्वरूपसे नास्तित्व है अर्थात् जहां अस्तित्व है वहां नास्तित्व है, भिन्न२ अपेक्षासे है, सर्वथा नहीं। जैसे साध्यका धर्म वह हेतु भी है अहेतु भी है। अग्निपना साधनेमें धूमका हेतु हेतु है, वही धूमपना हेतु जलपनाके साधनेमें अहेतु है। उधर धूममें हेतुपना अग्निके लिये है तब ही अहेतुपना जलके लिये है।

वस्तुमें उसके स्वभावमें सर्वथा न तो भेद है न सर्वथा अभेद है। किसी अपेक्षासे भेद व अभेद दोनों हैं, ऐसा ही स्वामी आप्तमीमांसामें बताते हैं—

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥

भावार्थ—द्रव्य व गुणमें या स्वभावमें संज्ञा संख्याके भेदसे व अपने २ लक्षणके भेदसे व प्रयोजनके भेदसे परस्पर भेद है

परन्तु सर्वथा भेद नहीं है। क्योंकि जहां द्रव्य है वहीं गुण हैं व उसके स्वभाव हैं। दृष्टांतमें जीवमें ज्ञान गुण है जीवका नाम भिन्न है, ज्ञानका नाम भिन्न है यह तो नाम भेद हुआ, जीवकी संख्या अन्य प्रकार है ज्ञानकी संख्या अन्य प्रकार है, जीवका लक्षण चेतना अर्थात् दर्शन और ज्ञान उभयरूप है। ज्ञानका लक्षण मात्र जानना है। जीवका प्रयोजन सुख व शांति पाना है। ज्ञानका प्रयोजन मात्र जानना है व अज्ञानका मेटना है। इस तरह संज्ञा, संख्या, लक्षण व प्रयोजन इन चारकी अपेक्षा तो गुण व गुणीमें व स्वभाव व स्वभाववानमें भेद है परंतु प्रदेशकी अपेक्षा भेद नहीं है, क्योंकि जहां जीव है वहीं ज्ञान है। इसीलिये यह कहना ठीक है कि सत्ता व असत्ताका वस्तुके साथ कथंचित् भेद है व कथंचित् अभेद है सर्वथा भेद व सर्वथा अभेद नहीं है। इस तरह इस श्लोकमें एक तो यह सिद्ध किया कि वस्तुमें सत्ता या असत्ता दोनों स्वभाव रखते हैं। तथा इन स्वभावोंका वस्तुसे किसी अपेक्षा भेद है व किसी अपेक्षा अभेद है।

पद्धरी छन्द।

है अस्ति कथंचित् और नास्ति, भगवन् तुझ मतमें यह तथास्ति।
सत् असत्मई भेदरू अभेद, हैं वस्तु बीच नहिं शून्य वेद ॥४२॥

उत्थानिका—इस तरह भाव रूप अभाव स्वरूप होनेसे तत्त्व उस रूप है भी और उस स्वरूप नहीं भी है ऐसा दिखाकर अब कहते हैं कि नित्य व अनित्यपनेकी दृष्टिसे भी तत्त्व तत् अतत् स्वभाव है—

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(नित्यं) जीवादि वस्तु नित्य है, अविनाशी है ऐसी (तदेव इति प्रतीतेः) प्रतीति इसीलिये होती है कि यह वही है जो पहले थी। यह देवदत्त वही है जो पहले बालक था (न नित्यं) वही वस्तु नित्य नहीं है, क्षणिक है (अन्यत् प्रतिपत्तिसिद्धेः) यह बात इसलिये सिद्ध है कि यह अन्य है ऐसी भी प्रतीति होती है। यह देवदत्त अब युवान है पहले बालक था। बाल्यावस्था इसकी नष्ट होगई। तब आपके मतमें (तत् विरुद्धं न) एक ही वस्तुको एक ही कालमें नित्य व अनित्य कहना किसी तरह विरोधरूप नहीं है (बहिः अंतरंगनिमित्तनैमित्तकयोगतः) बाहरी कारण जो निमित्त कारण और अंतरंग कारण जो उपादान कारण इसके अनुसार ही जगतमें कार्य होता है उससे ऐसा ही सिद्ध होता है।

भावार्थ-अब बताते हैं कि जैसे यह जीव व अजीव कोई भी वस्तु हो वह अपने स्वरूपादिकी अपेक्षा अस्तिरूप है पर-स्वरूपादिकी अपेक्षा नास्तिरूप है, वैसे ही वह द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य स्वरूप है तथा पर्याय पलटनेकी अपेक्षा अनित्य स्वरूप है। नित्य व अनित्य दोनों ही स्वभाव वस्तुमें हरसमय पाये जाते हैं। ऐसा न हो तो कोई वस्तु जगतमें रहती हुई कोई कामकी नहीं होसकी है। जैसे सुवर्णकी मुद्रिका बनाई फिर तोड़कर कुण्डल बनवाया फिर तोड़कर वाली बनवाई। फिर तोड़कर कंठी बनवाई फिर तोड़कर कड़ा बनवाया। ऐसे उस एक ही सोनेकी भिन्न२ अवस्था हुईं व नाश हुईं। परन्तु सोना जो मूलद्रव्य था वह नाश नहीं हुआ।

काकी अवस्थामें था। यह प्रत्यभिज्ञान नामका मतिज्ञान हरएक बुद्धिमानको होता है। इसीसे सिद्ध है कि वस्तु नित्य स्वरूप है। द्रव्य वही रहा यद्यपि पर्याय पलटी। जब हमारी दृष्टि अवस्थाके फेरबदलपर जाती है तब यह प्रतीतिमें आता है कि यह अब कड़ा है पहले कंठी थी, उससे पहले वाली थी। अवस्था इसकी नाश होती गई पैदा होती गई। इसीसे इसमें अनित्यता भी है। यह बात सिद्ध है। द्रव्यका स्वभाव ही यह है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हो। हर समय हरएक द्रव्यमें पूर्व पर्यायका व्यय या नाश तथा उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति या उदय तथा दोनों आगे व पीछेकी पर्यायोंमें वही रहना यह ध्रुवपना बना ही रहता है। द्रव्य सदा ही परिणमनशील है। शुद्ध द्रव्योंमें शुद्ध सदृश पर्यायें व अशुद्ध द्रव्योंमें अशुद्ध विसदृश पर्यायें होती रहती हैं। कोई भी द्रव्य न सर्वथा नित्य ही रहता है न सर्वथा क्षणिक रहता है। किसी मानवके भावमें अहंकार था, जब वह नष्ट होकर उसकी जगह मृदु भाव या विनाशभाव आया तब अहंकारका नाश हुआ व मृदुताका जन्म हुआ परन्तु जिस भावमें हुआ वह वही है। जिस आत्मामें हुआ वह वही है। यदि कोई वस्तु बिलकुल सर्वथा नित्य ही हो तो वह पर्यायमें न पलटनेके कारण बेकार होजावे। कौन बाजारसे चावल खरीद कर लावे यदि उसकी भात पर्याय न बन सक्ती हो। और यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक ही हो तो जो वस्तु ठहर ही नहीं सक्ती, तुर्त ही बिलकुल नाश होजाती है, तो कौन बाजारसे चावल लावे? वे तो भात बनकर रह ही नहीं सक्के, वह तो नाश होजांयगे। इस तरह यदि एकांतरूप वस्तु हो तो वह तो रह

सक्ती है न उससे कोई काम ही लिया जासक्ता है। सो ऐसा नहीं है। उपादान कारण व निमित्त कारणसे बराबर काम जगतमें हुआ करता है। हरएक पर्याय मूल अपने उपादान कारणके अनुकूल होती है, उसमें निमित्त कारण दूसरा सहायक होता है। सुवर्णकी डलीसे वाली बनी है। इसमें उपादान कारण सुवर्ण है। वह जिस तरहका है वैसी ही वाली बनी है। उसके वालीकी सूरतमें आनेमें सहायक कारण भी हैं, जिन्होंके कारणसे वह डली वालीकी सूरतमें आई। उपादान कारण नित्यपनेको झलकाता है कि यह वही है। निमित्त कारणसे पर्यायका पलटना सिद्ध है। मोटे २ दृष्टांतोंमें निमित्त कारण प्रगट होता है, हरएक पदार्थकी पर्याय पलटनेमें कई निमित्त कारण होसक्ते हैं—सर्व विश्वके पदार्थोंकी पर्यायके पलटनेके लिये साधारण निमित्त कारण काल द्रव्य है। विशेष निमित्त और भी यथा संभव होते हैं। चावलको निमित्त मिला अग्नि, हवा, पानीका तब वे ही भातकी सूरतमें आगए। तब यही प्रतीतिमें आता है कि चावलपना नाश होगया भात बन गया, इसलिए चावलपना अनित्य है तथापि यह बराबर झलकता है कि चावल हीका भात हुआ। यदि चावलका द्रव्य नित्य न होता तो भातकी सूरतमें न आता। ऐसा नित्य व अनित्यपना एक ही समय हरएक वस्तुके भीतर मौजूद हैं, इसलिये वस्तु अनेकांत स्वरूप है। यही हे भगवन्! आपका दर्शन है तथा इसमें कोई विरोध नहीं आता है। स्वयं स्वामी आप्तमीमांसामें कहते हैं—

कार्योत्पादः क्षयो हेतुर्नियमाल्लक्षणात् पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत्॥ ५८॥

भावार्थ-वास्तवमें जब जब जो कार्य बनता है वह अपने कारणके क्षय विना नहीं बनता है यह नियम है। तब कारण कार्य पृथक् २ प्रगट होते हैं। परन्तु वे कारण व कार्य दोनों ही अपनी जाति आदिकी स्थिरताके कारणसे भिन्न नहीं है, वे ही हैं। जब हम मूल उपादान कारणके स्वभावपर दृष्टि डालते हैं तो वही हैं, ऐसा ध्रुवपना दिखता है। जब पर्यायपर दृष्टि डालते हैं तो भिन्नपना या अनित्यपना दिखता है। यदि अपेक्षाको न मानो तब नित्य व अनित्यपना आकाशके फूलके समान होजायगा। ऐसा सच्चा वस्तुका स्वभाव हे जिनेन्द्र! आपने ही बताया है।

पद्धरी छन्द।

यह है वह ही है नित्य सिद्ध, यह अन्य भया यों क्षणिक सिद्ध।
नहिं है विरुद्ध दोनों स्वभाव, अंतर बाहर साधन प्रभाव ॥४३॥

उत्थानिका-यद्यपि वस्तु अनेकांत स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है तथापि आगमसे तो एकांत स्वरूप ही सिद्ध होगी। इस शंकाका निराकरण करते हैं-

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ४४

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(अनेकं च एकं पदस्य वाच्यं) अनेक तथा एक पदका वाच्य अनेक व एकपना है। अर्थात् शब्द व पद वाचक हैं, उनसे जो पदार्थ प्रगट होता है वह वाच्य है। वस्तु एक तथा अनेकरूप है। ऐसा कहनेसे यह सिद्ध होता है कि वस्तु सामान्य विशेषरूप है (प्रकृत्या) यह शब्दोंके स्वभावसे ही अर्थका बोध होता है (वृक्षा इति प्रत्ययवत्) जैसे

वृक्ष शब्दके कहनेसे यह निश्चय होता है कि वृक्षोंमें वृक्षपना सामान्य है, तथापि विशेषपना भी है अर्थात वृक्ष बहुतसे हैं, वे बम्बूल, आम, अनार आदि अनेक विशेष प्रकारके हैं। (आकांक्षिणः) जो सामान्य और विशेषपनेमेंसे किसी एक धर्मको कहना चाहता है वह (स्यात इति निपातः वै) स्यात् ऐसा अवयाय पद जोड़के प्रगटपने कहता है। जिससे यह सिद्ध होता है कि किसी अपेक्षासे वस्तु एक रूप है ऐसा कहनेसे वस्तु अनेक रूप भी है, ऐसा भी सुननेवालेको गौणतासे ज्ञान होता है, मुख्यतासे एक स्वरूपका ज्ञान होता है। स्यात् शब्दका यह नियम है कि वह जिसको प्रधान करके बताता है उसका तो नाम लेता है तब दूसरे धर्मको गौणतासे बताता है (गुणानपेक्षे अनियमे अपवादः) यदि गौण धर्मकी अपेक्षा न हो ऐसा अनियमित हो तो बाधा रूप हो अर्थात अपेक्षा विना ज्ञान ठीक न हो। अपेक्षाके नियमसे सब ठीक होजाते हैं।

भावार्थ–इस श्लोकमें बताया गया है कि जैसा वस्तुका अनेकांत रूप स्वभाव है वैसा वचनोंसे व आगमसे भी सिद्ध है। जैसा आगमने कहा कि वस्तु एक तथा अनेक रूप है, तब इन पदोंसे बोध होगा कि जीवादि पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं। जीव द्रव्य अपेक्षा सामान्य है, व एक है, विशेष अपेक्षा विशेष है व अनेक रूप है। जीव चेतना लक्षणवाले हैं, ऐसा जीव सामान्यका बोध होते भी विशेषका भी संकेत होता है कि जीव विशेष२ रूप हैं कोई मानव है, कोई पशु है, कोई पक्षी है। अथवा जीव सामान्यसे जीव द्रव्यका बोध होता है। वही जीव अपने अनेक गुण व पर्यायोंकी

अपेक्षा अनेकरूप है, ऐसा बोध होता है। यहां वृक्षादिका दृष्टांत दिया है। वृक्ष शब्द जब वृक्ष सामान्यको बताता है तब वह यह भी झलकाता है कि वृक्ष विशेष भी होते हैं। आम, खजूर, संतरे व अनार आदिके। इससे यह बात यहां बताई है कि वस्तु एक व अनेकरूप है वा सामान्य विशेषरूप है, ऐसा ही आगम कहता है। शिष्यको समझानेके लिये जो प्रवीण पुरुष उद्यम करता है वह इस तरह कहता है—स्यात् एकं स्यात् अनेकं। स्यात् शब्द किसी अपेक्षा विशेषको बताता है कि सामान्यकी अपेक्षा वस्तु एकरूप है व विशेषकी अपेक्षा वस्तु अनेकरूप है। स्यात् शब्दके प्रयोगका ऐसा नियम है कि जिसका नाम लिया जावे उसको मुख्य करता है व जिसका नाम न लिया गया उसको गौण करता है। यदि ऐसा नियम न हो व गौणकी अपेक्षा न हो तब तो बाधा आवे। स्यात शब्द न जोड़ा जावे तब अपेक्षा विना भ्रम रहे कि किस अपेक्षासे एकरूप है व किस अपेक्षासे अनेकरूप है। स्यात् शब्द सब बाधाको मेट देता है। प्रवीण पुरुष आपसमें बात करते हुए स्यात् शब्द न भी बोलें तब भी परस्पर समझ जाते हैं कि इस अपेक्षासे यह वाक्य कहा गया है। जैसे—यह कहा जावे कि जीव अविनाशी है। तब प्रवीण श्रोता समझ जाते हैं कि स्यात् जीव अविनाशी है। अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षासे जीव अविनाशी है पर्यायकी अपेक्षासे नहीं है, और जब कहा जाता है कि जीवन क्षणभङ्गुर है तब भी विवेकी यही समझते हैं कि पर्यायकी अपेक्षा जीवन क्षणभङ्गुर है, द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं। ऐसा ही स्वामीने आप्तमीमांसामें कहा है:—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥ १०९ ॥

भावार्थ–विधि या निषेध वाक्य कहनेसे अर्थ विशेषका नियम किया जाता है। जैसे 'स्यात् अस्ति घटः' यह वाक्य बताता है कि किसी अपेक्षासे घटमें घटका अस्तित्व है। यह स्यात् गौणतासे घटमें परकी अपेक्षा नास्तित्वका भी बोध कराता है। इसी तरह "स्यात् नास्ति घटः" मुख्यतासे घटमें नास्तित्वका बोध व गौणतासे अस्तित्वका बोध कराता है। वस्तु सामान्य विशेषरूप है वा अस्ति नास्तिरूप है। इसके विरुद्ध यदि सर्वथा वस्तुको एक रूप या अनेक रूप कहें तो वस्तुका वस्तुपना ठीक न प्रगट हो। इसलिये हे प्रभु! आपका अनेकांत स्वरूप आगमद्वारा भी सुगमतासे प्रतिपादित होता है।

पद्धरी छन्द।

पद एकानेक स्ववाच्य तास, जिम वृक्ष स्वतः करते विकास।
यह शब्द स्यात् गुण मुख्यकार, नियमित नहिं होवे बाध्यकार॥४४॥

उत्थानिका–इस तरह पदका अर्थ कहकर अब वाक्यका अर्थ कैसा करना चाहिये सो कहते हैं–

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम्।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम्॥४५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(इदं हि वाक्यं) जैसे शब्दसे प्रतीति होती है वैसे ही वाक्य भी (गुणप्रधानार्थं) गौण व मुख्यके प्रयोजनको बताता है। स्यात् शब्दसे अलंकृत वाक्य होता है इसलिये वह जिस बातको स्पष्ट कहता है उसे मुख्य करता है

जिसे उस समय वक्ता नहीं कहता है उसका गौणपने ज्ञान श्रोताको होजाता है। (ते जिनस्य) आप जिनेन्द्रसे (द्विषताम्) जो विरोध रखनेवाले दर्शन हैं उनको (तत् अपथ्यम्) यह आपका एकांत खंडन व अनेकांत मंडन रूप वाक्य इष्ट नहीं है अर्थात् वे न समझकर उल्टा विरोध करते हैं (ततः) इसी कारणसे कि आपका वाक्य यथार्थ वस्तु स्वभावको झलकानेवाला है (तव साधोः पादपद्मम्) आप मोक्षके साधक श्री पुष्पदंत भगवान्‌के चरण-कमल (जगदीश्वराणां) जगतके ऐश्वर्यधारी इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र आदिसे (अभिवन्द्यं) बार २ वंदने योग्य हैं (मम अपि) और मुझ समंतभद्रसे भी इसीलिये वन्दनीय हैं।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि जैसे पहले श्लोकमें वृक्ष शब्द सामान्य व विशेष दोनों ही वस्तुके स्वभावका द्योतक है वैसे ही आपकी स्याद्वादवाणीके जो वाक्य हैं वे भी अनेक धर्म-स्वरूप पदार्थको बतानेवाले हैं। जैसे यह कहा जाय कि 'स्यात् वस्तु नित्यं।' यह वाक्य बताता है कि किसी अपेक्षासे अर्थात् सामान्य गुणोंकी व द्रव्यकी प्रतीतिकी दृष्टिसे पदार्थ अविनाशी रहता है उसी समय वह वाक्य यह भी बुद्धिमानके भीतर ज्ञान कराता है कि पर्याय पलटनेकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है। यदि पक्षपात छोड़कर देखा जायगा तो वस्तु नित्य व अनित्यरूप हरएक समयमें झलकेगी। न तो वह सर्वथा नित्य है न वह सर्वथा अनित्य है। यही आपका सच्चा दर्शन है व ऐसा ही आपके वाक्योंसे प्रगट है। इसीलिये आपका वचन परम माननीय है। जो दर्शन वस्तुको एकांतरूप ही मानते हैं अर्थात् कोई सर्वथा नित्य व कोई सर्वथा अनित्य क

कोई मात्र सामान्य व कोई मात्र विशेषरूप इत्यादि रूप ही कहते हैं उनको यह स्याद्वाद मत पथ्य नहीं होता है। वे सहन नहीं करके उल्टा विरोध करते हैं और यह कहते हैं कि यह तो संशय वाद है। व उसीको नित्य व उसीको अनित्य कहना विरोधरूप है। वे यथार्थ दृष्टिसे देखते नहीं। यदि देखें तो उनको अपना एकांतमत छोड़ना पड़े। इस एकांतके मोहसे अनेकांतको ठीकर समझनेकी कोशिश तो करते नहीं उल्टा विरोध करते हैं। तथापि श्री समंतभद्र आचार्य कहते हैं कि आपके अपूर्व वाक्योंसे ही मोहित होकर आपको जगतके नायक इन्द्रादिदेव, नमस्कार करते हैं। और मैं भी इसी-लिये आपको नमन करता हूं। धन्य हैं स्वामी! आप ही यथार्थ वक्ता हैं। श्रीवादिराज मुनि जिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं–

कुतस्त्यो विरोधादिदोषावकाशो, ध्वनिः स्यादिति स्याद्दशो यत्प्रकाशः।
इतीत्थं वदन्ति प्रमाणादरिद्रं भजेहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रं ॥ ५ ॥

भावार्थ–मैं जगतके प्राणियोंके रक्षक श्री जिनेन्द्र भगवानका भजन करता हूं जिनकी ध्वनिसे स्याद्वाद नयके द्वारा वस्तुका प्रकाश है, उसमें कोई विरोध संशय आदि दोषोंकी जरा भी जगह नहीं है। जिनका वचन प्रमाणभूत है। उसमें यथार्थ प्रमाणका दलिद्र नहीं है।

पद्धरीछंद।

गुण मुख्य कथक तव वाक्य सार, नहिं पचत उन्हें जो द्वेष धार।
लखि आप्त तुम्हें इन्द्रादिदेव, पदकमलनमें मैं करहुं सेव ॥ ४५ ॥

(१०) श्री शीतलनाथ स्तुतिः।

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमांबुगर्भाः शिशिरा विपश्चितां४६

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-हे भगवन्! (ते मुनेः) आप प्रत्यक्षज्ञानी श्री शीतलनाथ भगवानकी (शमाम्बुगर्भाः) वीतरागमई जलसे भरी हुई व (अनघवाक्यरश्मयः) पाप रहित निर्दोष वचनरूपी किरणें (विपश्चितां) भेदज्ञानी जीवोंको (यथा शिशिराः) जैसी शीतल या सुख शांति देनेवाली होती हैं वैसी (चंदनचन्द्र-रश्मयः) चंदन तथा चंद्रमाकी किरणें (शीतलाः न) संसारताप हरण करनेवाली व सुख शांति देनेवाली नहीं हैं (न गांगम् अम्भः) न गंगाका पानी शीतलता देता है (न च हारयष्टयः) और न मोतियोंकी मालाएं ही शीतलता देसक्ती हैं।

भावार्थ-यहां भी कविने यही बताया है कि हे श्री शीतलनाथ भगवान्! आपका नाम भी यथार्थ अर्थको झलकानेवाला है। आप यथार्थमें स्वयं शीतल हो और दूसरोंको भी शीतल करनेवाले हो। आपने अनादिकालसे होते हुए मोह व अज्ञानके तापको जड़मूलसे दूर करके परम वीतरागता प्राप्त कर ली है। आपका आत्मा परम शीतल होगया है। साथमें अनंत सुखकी प्रगटता होगई है जिससे कभी आपके पास दुःख, शोक, खेद, भय, चिंता, क्रोधादि विभाव भाव या कोई प्रकारकी इच्छा आदि विकार कभी फटकते ही नहीं हैं। आपके भीतर जैसे शीतलता भरी हुई है उसको जो आपके सम्यग्ज्ञान मई निर्दोष व अखंडित व प्रमा-

णीक तथा मोक्षमार्ग प्रदर्शक वचन निकलते हैं उनमें भी ऐसी शीतलता होती है कि जो सुननेवाले भव्य जीव विवेकी हैं व विचारवान हैं व तत्त्वके समझनेकी शक्ति रखते हैं, उनको ऐसा विदित होता है कि मानो परम अमृतकी वर्षासे वे सिंचन होरहे हैं। वाणीके सुनते २ उनके हृदयका संसारताप-तृष्णाका दाह सब शांत होजाता है। वे ऐसी अपूर्व शीतलताको पालेते हैं कि वैसी शीतलता उनको वह चंदन नहीं देता है जिसको वे अपने शरीरपर मलते हैं, न चंद्रमाकी किरणें देती हैं जो रात्रिको उनके ऊपर पड़ती हैं, और न गंगा नदीका जल ही देसक्ता है और न मोतियोंकी मालाएं ही देसक्ती हैं। इन सब दृष्टांतोंको देकर बताया है कि जगतमें जितने भी शीतल जड़मई पदार्थ हैं वे मात्र शरीरके ऊपरका ताप भले ही हरलें व ठण्डक देवें, परन्तु उनमें आत्माके भीतरका आताप हरण करनेकी शक्ति नहीं है, न आत्मीक सुख शांति देनेकी ताकत है। यह शक्ति तो आपके वचनरूपी किरणोंमें ही है। इसीसे आप वास्तवमें अपूर्व चंद्रमा हैं। आपके समान शीतल पदार्थ कोई नहीं है। इसीसे आप सच्चे ही शीतलनाथ हैं।

वास्तवमें सच्चे आप्तका यही स्वरूप है। आप्तस्वरूपमें कहा है—

येनजितं भवकारणसर्वं मोहमलं कलिकाममलं च।
येन कृतं भवमोक्षसुतीर्थं सोऽस्तु सुखाकर तीर्थं सुकर्ता ॥६१॥

भावार्थ—जिसने संसारके कारणीभूत सर्व मोह मलको व मलीन काम रूपी मल आदि दोषोंको जीत लिया है व जिसने संसारसे छुड़ानेवाले सच्चे तीर्थका प्रतिपादन किया है वही सुखकी खान धर्मरूपी तीर्थोंके यथार्थ कर्ता तीर्थंकर होते हैं—

छन्द स्रग्विनी।

तव अनघ वाक्य किरणें, विशद ज्ञानपति।
शांत जल पूरिता, शम करा सुष्टुमति॥
है तथा शम न चन्दन, किरण चन्द्रमा।
नाहिं गंगा जलं, हार मोती शमा॥ ४६॥

उत्थानिका–जिस भगवानकी ऐसी वचन किरणें हैं उन्होंने क्या किया था सो कहते हैं–

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहं।४७।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(यथा) जैसे (भिषक्) वैद्य (मंत्रगुणैः) मंत्रोंके उच्चारण व जपन व स्मरणके गुणोंसे (विषदाह-मोहितं) सर्पके विषसे संतापित होकर मूर्छाको प्राप्त (स्वविग्रहं) अपने शरीरको विषरहित कर देता है वैसे (त्वं) आपने (सुखा-भिलाषानलदाहमूर्छितं) इंद्रिय विषय सुखकी तृष्णा रूपी अग्निकी जलनसे मोहित व हेय या उपादेयके विवेकसे शून्य (निजं मनं) अपने मनको (ज्ञानमयामृताम्बुभिः) आत्मज्ञानमई अमृतके समान जलकी वर्षासे (व्यदिध्यपः) शांत कर दिया।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि श्री शीतलनाथ भगवानके वचनोंमें अपूर्व शीतलता होनेका कारण यह था कि प्रभुका आत्मा प्रभुके प्रयत्नसे ही उन्नतिशील बना था। इस संसारमें जैसे और जीव भ्रमण कर रहे हैं वैसे प्रभुका आत्मा भी भ्रमण कर रहा था। और मिथ्यात्वके विषसे मूर्छित था। मिथ्यात्व ऐसा भयानक विष है कि जिससे मूर्छित हुआ प्राणी रात्रि दिन संसारके इंद्रिय-जनित सुखकी इच्छाकी दाहसे जलता रहता है। उस दाहकी

शांतिके लिये जिस शरीरमें जबतक रहता है तबतक प्रयत्न किया करता रहता है। इच्छित पदार्थोंका भोग भी कर पाता है तब भी तृष्णाकी आगको न बुझाकर उल्टा बढ़ा लेता है। अंतमें चाहकी दाहमें ही जलता हुआ मरता है। और रौद्रध्यानसे नर्कगतिमें पहुंच जाता है कभी आर्त परिणाम होते हैं। वर्तमान स्त्री पुत्रादि धनादिके छूटते हुए भाव शोकित हो जाते हैं तब मरकर पशुगतिमें चला जाता है। कदाचित् विषय वांछाके ही अभिप्रायसे पुण्यबंधके लोभसे कठिन कठिन तपस्या भी करता है व मुनि धर्मका आचरण भी पालता है। आत्मज्ञान व आत्मानंद शून्य द्रव्यलिंगमें मग्न रहता है। उससे निदान करता हुआ कभी देव या मानव भी होजाता है, परन्तु वहां भी मिथ्यात्वका संस्कार नहीं छूटता हुआ जीवको सदा ही विषयसुखकी तृष्णामें ही जलाया करता है। इस तरह आपका जीव इस संसारमें चारों गतिमें भ्रमण करता हुआ महान् कष्ट भोग रहा था। तब आपने किसी समय इस मिथ्यात्वके विषके हटानेकी औषधि प्राप्त करली।

अर्थात् आत्मानुभव रूपी निश्चय सम्यग्दर्शनका लाभ कर लिया जिसमें सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र भी गर्भित है। इस स्वात्मज्ञानके अनुभवसे जो आत्मानंदका लाभ हुआ, जो अपूर्व ज्ञानामृतकी धारा वही उसका पान करते हुए आपने उस मिथ्यात्वके विषको सर्वथा निकालके फेंक दिया। आप क्षायिक सम्यक्ती होगए। परम तत्त्वज्ञानी महात्मा होगए। आप उसीतरह स्वस्थ होगए जिस तरह कोई प्रवीण मंत्र ज्ञाता वैद्य अपने शरीरपर चढ़े हुए सर्पके विषको विष निवारक मंत्रोंके प्रयोगसे उतारकर स्वस्थ होजाता है।

सार समुच्चयमें कहा है:-

मिथ्यात्वं परमं बीजं, संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं, मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

भावार्थ-मिथ्यात्व ही इस दुःखमय संसारका भारी बीज है। इसीसे जो मोक्षका सुख चाहता है उसे उचित है कि इसे त्याग देवें। जो सम्यक्तका धारी है वह निश्चयसे निर्वाण पावेगा, मिथ्यादृष्टि जीवका संसारमें सदा ही भ्रमण रहेगा।

छन्द स्रग्विनी।

अक्ष सुख चाहकी आगसे तप्त मन, ज्ञान अमृत सुजल सींच कीना शमन।
वैद्य जिम मंत्र गुणसे करे शांत तन, सर्व विषकी जलनसे हुआ चेयतन।४७।

उत्थानिका-कोई शंका करता है कि जिस तरह श्री शीतलनाथ भगवानने सत्य मोक्षमार्गपर चलकर अपने मनके सर्व संतापको शांत किया वैसे सर्व लोग भी क्यों नहीं शांतिका लाभ करते हैं-

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ।४८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(प्रजाः) जगतकी साधारण प्रजा (स्वजीविते) अपने इस जीवनको बनाए रखनेकी (च कामसुखे) और इन्द्रियोंके सुख भोगनेकी (तृष्णया) तृष्णासे पीड़ित होकर (दिवा) दिनमें तो (श्रमार्ताः) नाना प्रकार परिश्रम करके थक जाती हैं व (निशि) रात्रि होनेपर (शेरते) सोजाती हैं। परन्तु (आर्य) हे श्री शीतलनाथ तीर्थंकर ! (त्वम्) आप तो (नक्तं दिवसं रात दिन ( )

होकर (आत्मविशुद्धवर्त्मनि) आत्माको शुद्ध करनेवाले मोक्षमार्गमें (अजागरः एव) जागते ही रहे।

भावार्थ—शिष्यकी शंकाका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि जगतके साधारण मानव दिनरात आकुलता और तृष्णामें फंसे हुए शांतिके मार्गका कभी सेवन ही नहीं करते हैं। उनके भीतर यह तृष्णा सदा ही बनी रहती है, कि हमारा यह जीवन सदा चलता रहे, हमको कोई खानपानका कष्ट न हो तथा हम पांचों इन्द्रियोंके अनेक प्रकार इच्छित भोगोंको भोगते रहें। इस भावसे दिनभर पैसा कमानेके यत्नमें लगे रहते हैं। सवेरा होते ही कोई शस्त्र कर्मकी आजीविकामें, कोई लिखनेके काममें, कोई कृषि काममें, कोई व्यापारमें, कोई नाना प्रकारकी कारीगरी करनेमें, कोई ग्राम जाकर पैसा लाभ करनेमें, कोई सेवा करनेमें लगजाते हैं इसतरह सारे दिन घोर परिश्रम करके थक जाते हैं। जब रात्रि होती है तब थके मांदे होकर सोजाते हैं। प्रयोजन यह है कि जगतके मानव प्रमाद ही में अपने जीवनके सर्व समयको विता देते हैं। शिशुवयमें तो खेलकूदमें लग जाते हैं। कुमारवयमें पेटके लिये उद्योग हुनर चाकरी आदि सीखनेमें तन्मय रहते हैं। युवावयमें दिनरात पैसा कमाकर विषयभोग करनेमें व निद्रा लेनेमें विताते हैं। वृद्धवयमें निर्बल शिथिल हो दवाई दरमत करते हुए जीनेकी तृष्णामें घबड़ाए हुए दिन निकाल देते हैं। कभी भी अपने आत्मस्वरूपमें रमण करनेके लिये उद्यम नहीं करते हैं। यदि कदाचित गृहस्थ व त्यागीका धर्म भी पालते हैं तो पुण्य बंधके लिये व अपना लौकिक इष्टप्रयोजन सिद्ध करनेके लिये आत्मक

तिके मार्गको न तो पहचानते हैं न उसके लिये थोड़ी देर भी प्रयत्न करते हैं। इस तरह मिथ्यादृष्टि जन अपना जीवन मोक्षमार्गसे विमुख चलकर यों ही बिता देते हैं। परन्तु हे परम भव्य श्री शांतिनाथ भगवन्! आपने तो प्रमादको बिलकुल हटा दिया, दिनरात आप तो आत्माके शुद्ध करनेवाले मोक्षमार्गमें ही जागते रहे। दिनमें भी आत्मध्यान किया, व तत्व विचार किया, मौन सहित रहे। मात्र आहारके लिये भी मौन सहित गए व जो कुछ मिला संतोषसे लेकर लौट आए। फिर तत्त्व विचारमें ही मगन रहे। रात्रिको भी आत्मध्यानमें ही विताया। आपने तो रात्रि दिन आत्मानुभवरूप मोक्षमार्गमें व उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्गमें चलकर घोर परिश्रम किया। कभी भी बेखबर न हुए। इसीसे मोक्षमार्गको साधते हुए भी सुख शांतिका लाभ किया, और जब घातिक कर्मका नाशकर आप अरहंत परमात्मा हुए तब पूर्ण शांति व अनंत सुखमें सदाके लिये मगन होगए। आपके जो सच्चे सम्यग्दृष्टी भक्त हैं वे भी आपका अनुकरण करके सुख शांतिको पालेते हैं। कोई साधुपदमें रहकर उद्यम करते हैं कोई गृहस्थमें ही रहकर आत्मानुभवके उद्देश्यसे ही जीवन विताते हैं। धर्मसाधनके लिये समय निकालते हुए ही अर्थ व काम पुरुषार्थमें न्यायपूर्वक वर्तते हैं। वास्तवमें हरएक मानवको कभी भी आत्मकार्यमें प्रमादी न होना चाहिये। सार समुच्चयमें कहा है—

चिरं गतस्य संसारे बहुयोनिसमाकुले।
प्राप्ता सुदुर्लभा बोधिः शासने जिनभाषिते ॥ २९७ ॥
अधुना तां समासाद्य संसारच्छेदकारिणीम्।
प्रमादो नोचितः कर्त्तुं निमेषमपि धीः। ।२९ ।

भावार्थ—अनेक योनियोंसे भरे हुए इस संसारमें अनादिसे भ्रमण करते हुए जिनेन्द्र भाषित धर्मका ज्ञान मिलना बहुत कठिनतासे होता है। अब उस संसार नाशक मार्गको पाकर बुद्धिमानको एक क्षण भी प्रमाद करना उचित नहीं है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि॥ ३१४॥

भावार्थ—इसलिये आत्माको नित्य ही निर्मल ज्ञानरूपी जलसे स्नान कराना चाहिये, जिससे यह जीव जन्म जन्मांतरमें पवित्रताको प्राप्त करले।

स्रग्विणी छन्द।

भोगकी चाह अर चाह जीवन करे, लोक दिन श्रम करे रात्रिको सोरहे।
हे प्रभु आप तो रात्रि दिन जागिया, मोक्षके मार्गको हर्षयुत साधिया॥४८

उत्थानिका—तृष्णासे ठगाए हुए प्राणी और क्या २ करते हैं सो कहते हैं—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं शमधीरवारुणत्॥४९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(केचन तपस्विनः) कोई आत्मश्रद्धान रहित तपस्वी जन (अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया) पुत्रादि, धनादि व परलोकके सुखकी तृष्णासे पीड़ित होकर (कर्म कुर्वते) धर्म आदि व तप आदि कर्म करते हैं (पुनः) परन्तु (भवान्) आप (शमधीः) शांत बुद्धि रखनेवाले वीतरागीने तो (जन्मजराजिहासया) अनादि कालसे चले आए हुए जन्म जरा

प्रवृत्तिको (अवारुणत) रोक दिया और मात्र स्वात्मानुभवरूप रत्नत्रय भोगमें तन्मय होगए।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टी अज्ञान जीव जो धर्मका अनुष्ठान भी करते हैं तो उसमें यही इच्छा रखते हैं कि इसके फलसे पुत्रकी प्राप्ति होजावे, धनका लाभ होजावे व परलोकमें स्वर्गादिके सुख प्राप्त हो जावें। इसलिये उन अज्ञानियोंका धार्मिक क्रियाकांड व उनका किया हुआ नानाप्रकार कायका क्लेशमात्र संसारका बढ़ानेवाला व आकुलताको देनेवाला तथा आत्मिक शीतलतासे शून्य संतोषमय ही होता है। परन्तु धन्य हैं श्री शीतलनाथ भगवान। आपने तो इस जन्म जरा मरण रूप संसारका संहार करनेका ही बीड़ा उठाया और परिणामोंमें परम निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रतापसे उत्कृष्ट शांत भावको धारण किया व कषायोंको और नानाप्रकार क्रियाकांडके सावद्यरूप मन वचन कायकी क्रियाको ही रोक दिया अर्थात् अपने उपयोगको मन वचन कायकी प्रवृत्तिसे निरोध कर उसे एक आत्मामें ही तन्मय कर दिया और इसी पुरुषार्थसे संसारके कारणीभूत कर्मोंका नाश किया और अनंत सुखसे पूर्ण वीतरागताका लाभ कर लिया। वास्तवमें जो आत्माके हितकर्ता होते हैं वे एक आत्मध्यानका ही पुरुषार्थ करते हैं। आत्मध्यान ही परमानन्दका दाता है। सारसमुच्चयमें कहा है—

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात्।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ॥ २२६ ॥

भावार्थ—आर्त व रौद्रध्यानके त्याग करनेसे व धर्म तथा शुक्लध्यानके आश्रय करनेसे यह जीव अनन्त व अविनाशी आनंदमई निर्वाणको पालेता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥ २३५ ॥

भावार्थ–जो ममता रहित होकर अपने ही आत्मामें रमण करते हैं, उनको संसारवासका छेदक परम उत्कृष्ट सुख सदा अनुभवमें आता है।

स्रग्विणी छन्द ।

पुत्र धन और परलोककी चाहकर, मूढजन तप करें आपको दाहकर।
आपने तो जरा जन्मके नाश हित, सर्व किरिया तजी शांतिमय भावहित॥

उत्थानिका–भगवानके तुल्य अन्य अज्ञानीजन भी होसक्ते हैं उसके लिये समाधानमें कहते हैं–

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(जिन शीतल) हे श्री शीतलनाथ जिनेन्द्र ! (क्व) कहां तो (त्वम्) आप (उत्तमज्योतिः) परमोत्कृष्ट ज्ञानके धारी तथा (निर्वृतः) परम सुखी और (क्व) कहां (ते परे) आपसे भिन्न दूसरे (बुद्धिलवोद्धवक्षताः) थोड़ीसी बुद्धिके गर्वसे नाश होनेवाले । वहुत बड़ा अन्तर है । (ततः) इसीलिये (स्वनिःश्रेयसभावनापरैः) अपने मोक्षसुखकी प्राप्तिकी भावनामें तत्पर (बुधप्रवेकैः) ज्ञानी गणधरादि साधुजन व सम्यग्दृष्टि मानव (ईड्यसे) आपको ही पूजते हैं व आपकी ही स्तुति करते हैं व आपका ही ध्यान करते हैं।

भावार्थ–यहां यह बतलाया है कि पूजने योग्य वही होसक्ता है जो सर्वज्ञ हो तथा जो पूर्ण वीतरागी व आनंदमई हो। जो

रागद्वेषसे रहित होगा उसीका आत्मा वीतराग होकरके मोहसे स्वच्छ होगा, तब उसके ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका तथा अंतराय कर्मका नाश होजाता है तब ही वह पूर्ण व अनंत व अविनाशी सहज स्वभावरूप केवल ज्ञानको प्राप्त होजाता है तथा वही पूर्ण सुखी भी होजाता है। वही अरहंत अवस्थामें शरीरसहित होनेसे अपनी वाणीका प्रकाश कर सक्ता है। उसकी वाणीमें जो पदार्थोंका प्रकाश होता है वह यथार्थ ही होगा, क्योंकि जो सब द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको व उनके सब गुणोंको जानेगा वह कभी असत्य नहीं कह सक्ता है। तथा वीतरागी होगा वह निःस्वार्थी होगा वह जानकर कभी अन्यथा न कहेगा। इसीलिये श्री अरहंतका उपदेश हुआ कि मोक्षमार्ग यथार्थ है व जीवोंको परमानन्दका दाता व उनको शुद्ध करनेवाला है। यहां स्वामी कहते हैं कि कहां तो ऐसे श्री शीतलनाथ भगवान हैं, कहां उनसे विरुद्ध वे जो अल्प ज्ञानधारी होकर अपनी कल्पनासे धर्मका स्वरूप बताते हैं और वह प्रमाणमें नहीं उतरता है न उससे एक बुद्धिवान विचारशीलको संतोष होता है, तब निष्पक्ष विचारशील बड़े बड़े भेदज्ञानी पुरुष गणधरादि व अन्य साधु व अन्य तत्त्वज्ञान प्रेमी गृहस्थ किसतरह संतोष पासक्ते हैं व किसतरह आपको छोडकर दूसरेको यथार्थ व कल्याणकारी वक्ता मानसक्ते हैं? अर्थात् कभी भी नहीं मान सक्ते। इसलिये स्वामी कहते हैं कि जैसे महान गणधरादि पुरुषोंने आपकी स्तुति की है वैसे मैं भी आपकी ही स्तुति करता हूं। आपके विना मुझे अन्य वक्तामें संतोष नहीं होता है। श्री अमितगतिआचार्य सुभाषितरत्नसंदोहमें आप्तका स्वरूप बताते हैं—

वांच्छत्यङ्गी समस्तं सुखमनवरतं कर्मविध्वंसतस्त-
च्चारित्रात्तस्यात्प्रबोधाद् भवति तदमलं स श्रुतादाप्ततस्तत्,
निर्दोषात्मा सदोषा जगति निगदिता द्वेषरागादयोऽत्र ।
ज्ञात्वा मुक्त्यै सदोषान् विकलितविपदे नाश्रयन्त्यस्ततन्द्राः ॥६४२॥

भावार्थ-हरएक संसारी प्राणी पूर्ण सुखको चाहता है। वह पूर्ण सुख कर्मोंके नाशसे ही होता है। कर्मोंका नाश चारित्र पालनसे होगा। सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञानसे होगा। वह सम्यग्ज्ञान निर्मल श्रुत अर्थात् शास्त्रसे होगा। शास्त्रका यथार्थ प्रकाश आप्तसे होगा। आप्त दोष रहित होना चाहिये। वे दोष जगतमें राग द्वेष मोहादिक कहे गए हैं। ऐसा जानकर जो पुरुषार्थी व अप्रमादी जीव हैं उनको उचित है कि वे सर्व दुःखोंसे सहित मुक्तिकी प्राप्तिके लिये रागादि दोष रहित देवोंका आश्रय न करें किन्तु वीतरागी प्रभुका ही शरण लेवें।

श्रृग्विणी छन्द।

आप ही श्रेष्ठ ज्ञानी महा हो सुखी, आपसे जो परे बुद्धि लव मद दुखी।
याहिते मोक्षकी भावना जे करें, संतजन नाथ शीतल तुम्हें उर धरें॥५०॥



(११) श्री श्रेयांशजिन स्तुतिः।

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथावीतघनो विवस्वान्।५१।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(भवान्) आप (श्रेयान् जिनः) श्रेयांसनाथ जिनेन्द्र (अजेयवाक्यः) बाधा रहित व प्रमाणीक तथा माननीय ध्वनिको प्रकाश करनेवाले हैं। आप (इमाः प्रजाः) इन भव्यजीवोंको (श्रेयसि वर्त्मनि) मोक्षमार्गमें (श्रेयः) कल्याणमय धर्मको (शासत) उपदेश करते हुए (अस्मिन् भुवनत्रये) इस तीन लोकमें (एकः) एक अपूर्व ही (चकासे) शोभते हुए (यथा) जिस तरह (वीतघनाः) बादलोंसे रहित (विवस्वान्) सूर्य्य विश्वमें एक अदभुत रूपसे प्रकाशित होता है।

भावार्थ-यहां भी श्रेयांसनाथकी स्तुति करते हुए उनके नामके अनुसार ही गुणोंका वर्णन कर रहे हैं। प्रभुने विषय कषाय व कर्म सब जीत लिये, इससे जिन नाम सार्थक किया तथा अपने आपको परमात्मपदमें स्थापित करके अपना परम कल्याण किया, इससे श्रेय नामको स्थापित किया, इतना ही नहीं आपने जगतके भव्य प्राणियोंको जो आपके समवसरणकी शरणमें आए ऐसा कल्याणकारी मोक्षमार्गका उपदेश दिया जिससे वे भी उसपर बाधारहित चलकर परमात्म पदको प्राप्त कर सके। आपका उपदेश ऐसा बाधा रहित हुआ कि किसी प्रमाणमें व युक्तिमें शक्ति नहीं है कि उसका खंडन कर सके व उसमें दोष निकाल सके। क्योंकि आप तो सर्वज्ञ वीतराग हैं। जैसे जगतमें वह सूर्य जिसके ऊपरसे मेघोंका आवरण हट जाता है एक अकेला ही बड़े ही तेजको प्रकाश करता

हुआ सर्व प्रजाको ऐसा मार्ग बताता है कि जिससे बुद्धिमान लोग अपना काम सुगमतासे करते हैं। आंखवाले प्राणी मार्ग देखकर चलते फिरते हैं। खाई खंदक कूएं बावडीमें गिरते नहीं हैं। सर्व जगतका बड़ा हित होता है वैसे ही आपके जब चार घातिया कर्मोंका आवरण हट गया तब आप बाहरमें कोटिसूर्यसे भी अधिक तेजको धरे हुए व अंतरंगमें अत्यन्त निर्मल व अपूर्व केवलज्ञानकी दीप्तिको धारण करते हुए विना किसी सहायताके स्वयं प्रत्यक्ष सब कुछ जानते हुए तथा दूसरोंको अपने दिव्य वचनोंसे मोक्ष-मार्ग बताकर उनका परम हित करते हुए—जैसे सूर्यके प्रकाश विना मानव अंधकारमें कष्ट पाते हैं वैसे आपके यथार्थ मोक्षमार्गके उप-देश विना जगतके प्राणी कुमार्गसे बचकर सुमार्ग पर नहीं चल सक्ते हैं और संसारमें भ्रमण कर दुःख उठाते हैं। धन्य हैं प्रभु! आप ही सच्चे श्रेय या श्रेयांश जिन हैं। आप्तस्वरूपमें अरहंतकी स्तुतिमें कहा है—

शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥ २४॥
सुप्रभातं सदा यस्य केवलज्ञानरश्मिना।
लोकालोकप्रकाशेन सोऽस्तु भव्यदिवाकरः॥ ४२॥

भावार्थ—अरहंत भगवान ही सच्चे शिव हैं, क्योंकि उन्होंने अविनाशी व शांतिमय व परम कल्याणरूप व सुखमई निर्वाणरूप मुक्तिपदको प्राप्त कर लिया है तथा वे ही सच्चे सूर्य हैं जिनके लोक अलोकको प्रकाश करनेवाले केवलज्ञानकी किरणोंके फैलनेसे अज्ञानका अन्धकार मिट गया और सम्यग्ज्ञानका प्रभात होगया।

छन्द मालिनी।

जिनवर हितकारी वाक्य निर्बाधधारी।
जगत जन सुहितकर मोक्षमारग प्रचारी।
जिम मेघ रहित हो सूर्य एकी प्रकाशे।
तिम तुम या जगमें एक अद्भुत प्रकाशे॥

उत्थानिका—भगवानने कैसा उपदेश दिया सो कहते हैं—

विधिर्विपक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम्।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते॥५२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(ते) आपके दर्शनमें (विधिः) स्व स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिपना (विपक्तप्रतिषेधरूपः) पर स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिपना धर्मके साथ जुड़ा हुआ है ऐसा जो पदार्थोंका अस्ति नास्तिरूप एक कालमें झलकनेवाला ज्ञान है सो (प्रमाणं) प्रमाणका विषय होनेसे प्रमाण कहलाता है। (अत्र) इन दोनों अस्तित्व व नास्तित्व धर्मोंमेंसे (अन्यतरत्) किसी एकको वक्ताके अभिप्रायसे (प्रधानं) मुख्य करनेवाला (अपरः गुणः) और दूसरेको गौण या अप्रधान करनेवाला (नयः) एक देश व एक ही स्वभावको कहनेवाला नय है। वह नय (मुख्य नियामहेतुः) इन अस्तित्व व नास्तित्व दोनों धर्मोंमेंसे किसी एकको मुख्य करके बतानेके नियमका साधक है। (सः दृष्टांत-समर्थनः) और वह नय दृष्टांतका समर्थन करनेवाला होता है अर्थात् जो धर्म वक्ता दूसरेको दिखाना चाहता है उसका स्वरूप ठीक २ दर्शानेवाला है। या जो दृष्टांत दिया जाय उसे प्राप्त करता है।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि आपका धर्मोपदेश व तत्वोपदेश प्रमाण और नयके द्वारा जगतके जीवोंसे समझा जाता है। वस्तु अस्ति नास्तिरूप है या विधि निषेधरूप है। कोई पदार्थ कभी भी इन दोनों धर्मोंसे शून्य नहीं होसक्ता है। जहां अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे वस्तुका अस्तित्व है वहां परके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे पर वस्तुका नास्तित्व है। इन दोनों धर्मोंको एक साथ बतानेवाला प्रमाण है। यद्यपि दोनों धर्म एक साथ ही वस्तुमें हैं परंतु शिष्यको एक एक धर्म सुगमतासे समझानेके लिये जो मार्ग शब्द द्वारा ग्रहण किया जाता है वह नय है। नयका यह स्वरूप है कि वह एक धर्मको मुख्यतासे बताता है तब दूसरेको गौण कर देता है। सुननेवाले शिष्यको भलेप्रकार भासित होजावे इसलिये जब वह वक्ता अलग अलग करके एक एक धर्मको समझाता है। वह कहेगा "स्यात् अस्ति" तब समझनेवाला समझ जायगा कि किसी अपेक्षासे अस्तिपना वस्तुमें है, अर्थात् स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा अस्तिपना है। यहां स्यात् यह बताता है कि इसमें और भी धर्म हैं। जब वक्ता फिर कहता है कि 'स्यात् नास्ति' तब शिष्य समझता है कि वस्तु परद्रव्यसे कालभावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। 'स्यात्' शब्द बताता है कि सर्वथा नास्तिरूप नहीं है उसमें अस्तिपना भी है। शिष्यको दृढ करनेके लिये फिर वक्ता कहता है "स्यात् अस्ति नास्ति।" किसी अपेक्षासे इसमें दोनों ही धर्म हैं, अस्ति भी है नास्ति भी है। हैं तो दोनों धर्म एक कालमें परन्तु शब्दोंमें शक्ति नहीं है इसलिये वक्ता कहता है " स्यात् अवक्तव्यं " किसी अपेक्षासे

अर्थात् शब्दोंमें दोनों ही धर्मोंको एक काल कहनेकी शक्ति नहीं है इस अपेक्षासे वस्तु अवक्तव्य भी है तथापि वस्तुमें दोनों ही धर्म तो हैं। इसे फिर भी दृढ़ करनेके लिये अवक्तव्यके तीन भेद करके समझाता है "स्यात अस्ति अवक्तव्यं च" "स्यात् नास्ति अवक्तव्यं च" "स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यं च" यद्यपि एक समयमें कहनेकी शक्ति न होनेसे वस्तु अवक्तव्य है तथापि अस्ति स्वभाव सहित जरूर हैं या नास्ति स्वरूप सहित जरूर है या अस्ति नास्ति स्वभाव सहित जरूर है। उसीको स्याद्वाद नय या सप्तभंगी नय कहते हैं। इससे नय एक एक धर्मके स्वरूपको भलेप्रकार समर्थन कर देता है। नय वह द्वार मात्र है जिससे एक एक धर्मको भिन्न२ करके समझाया जासके। शिष्य जब नयोंके द्वारा समझ लेता है तब उसका ज्ञान भी प्रमाणरूप होजाता है। वह अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों धर्मोंको एक काल ही रखनेवाला पदार्थ है, ऐसा ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

पंचाध्यायीमें कहा है—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः॥ ६७९॥

भावार्थ-नय भी ज्ञान विशेष है, प्रमाण भी ज्ञान विशेष है। दोनोंमें विषय विशेषकी अपेक्षासे भेद है। वास्तवमें ज्ञानकी अपेक्षासे दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योन्यतमः।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥६८०॥

"—प्रमाण और नयमें विशेष भेद इस प्रकार है।

द्रव्यके अनंत गुणोंमेंसे कोईसा एक विवक्षित अंश नयका विषय है। वह अंश तथा और भी सब अंश अर्थात् अनंत गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है। यह नय दृष्टान्तका समर्थन करनेवाला है। जैसा किसीने कहा घट है तो यह समर्थन करता है कि अपने स्वरूप चतुष्टयसे घट है। परस्वरूप चतुष्टयसे नहीं है।

छन्द मालिनी।

है विधिषेध वस्तू और प्रतिषध रूपं, जो जाने युगपत् है प्रमाण स्वरूपं।
कोई धर मुख्यं अन्यको गौण करता, नय अंश प्रकाशी पुष्ट दृष्टांत करता॥

उत्थानिका—ऐसा नयका स्वरूप जो दृष्टांतका समर्थक हो किसके मतमें है उसे कहते हैं—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते।
तथारिमित्रानुभयादिशक्तिर्द्वयावधिः कार्य्यकरं हि वस्तु ॥५३॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(ते) हे श्रेयांशनाथ भगवान्! आपके मतमें (निरात्मकः न) वस्तु अनेक धर्मोंसे रहित नहीं है। वस्तुमें अनेक स्वभाव होते हैं उनमेंसे (विवक्षितः) जिसको कहनेकी इच्छा होती है। वह (मुख्यः इति इष्यते) मुख्य करके नयके द्वारा कहा जाता है तथा (अविवक्षः अन्यः गुणः) जिसके प्रधान करके कहनेकी इच्छा नहीं होती है उसको गौण या अप्रधान कर दिया जाता है (तथा) वस्तु तो दोनों ही स्थानोंको रखनेवाली होती है (अरिमित्रानुभयादि शक्तिः) इसका दृष्टांत देते हैं कि एक देवदत्त है वह एक ही समयमें किसीका शत्रु होनेसे शत्रुपना व किसीका मित्र होनेसे मित्रपना व किसीका शत्रु या मित्र कोई न होनेसे उदासीनपना इत्यादि अनेक स्वभा-

चोंको रखनेवाला है इनमेंसे किसी एक बातको एक समयमें प्रयोजनवश कहा जायगा जैसे यह रामचंद्रका शत्रु है, यह दुर्गादत्तका मित्र है। हमारा तो न यह शत्रु है न मित्र है। (वस्तु द्वयावधेः कार्यकरं हि) हरएक पदार्थ दो विरोधि स्वभावोंको रखता है तब ही वह कार्यकारी है व प्रयोजन सिद्ध कर सकता है।

भावार्थ-यहांपर दिखलाया है कि हरएक वस्तु एक कालमें अनेक स्वभावोंको रखनेवाली होती है, वस्तु स्व चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है, पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है, द्रव्यार्थिक नयसे नित्य है, पर्यायार्थिक नयसे अनित्य है। अभेद नयसे एक है भेद नयसे अनेक है इत्यादि। तब अनेक धर्म स्वरूप जानना प्रमाणका विषय है। उसी वस्तुको एक एक स्वभाव करके समझानेके लिये नय काम देता है। यह नय जब नित्यपनेको मुख्य करके समझायगा तब अनित्यपना गौण होजायगा। जब अनित्यपनेको समझायगा तब नित्यपना गौण होजायगा। तथापि वस्तु तो नित्य व अनित्य दोनों स्वभाव रखती है। यदि वस्तुको ऐसा नहीं माने तो वह कुछ काम ही नहीं कर सक्ती है। यदि सर्वथा नित्य माने तो अवस्था न बदलनेसे कोई काम नहीं बनाएगी। यदि सर्वथा अनित्य माने तो एकदम नष्ट होजायगी, ठहर ही न सकेगी, तब उससे काम ही क्या लिया जायगा। वस्तुमें अनेक स्वभाव होसकते हैं उसका दृष्टान्त बिलकुल प्रगट है। एक देवदत्त खड़ा है। सामनेसे १०-२० आदमी आरहे हैं उनमेंसे जो उसका शत्रु है वह देवदत्तको शत्रुकी दृष्टिसे शत्रु देखता है। जो देवदत्तका उपकारी है वह उसे मित्रकी दृष्टिसे मित्र देखता है। जिनका कोई संबंध नहीं है वे

उसको उदासीन भावसे उसी समय देखते हैं। देवदत्तमें शत्रु, मित्र, व अनुपम रूपपना एक ही कालमें है यह प्रमाणका विषय है। नय एक एकको एक कालमें प्रकाश करेगा। जब उसे शत्रु-पना दिखलाना होगा तब अन्य दोनों धर्मोंको गौण करके कहना होगा कि यह रामचंद्रका शत्रु है। जब मित्रपना दिखलाना होगा तब कहेगा यह दुर्गादत्तका मित्र है इत्यादि। आप्तमीमांसामें स्वामी नयका स्वरूप बताते हैं–

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः॥ १०६॥

भावार्थ–यह नय जिस किसी एक धर्मको सिद्ध करता है उसे ही उसी ही धर्मकी अपेक्षा विना किसी विरोधके सिद्ध करता है तथा स्याद्वादरूप श्रुतज्ञानसे प्रगट किये हुए पदार्थके एक एक अंशको या स्वभावको दिखलानेवाला नय है–अनेक स्वभावोंको बतानेवाला प्रमाण है, एक स्वभावको झलकानेवाला नय है।

छन्द मालिनी।

वक्ता इच्छासे मुख्य इक धर्म होता।
तब अन्य विवक्षा विन गौणता माहि सोता॥
अरिमित्र उभयविन एक जन शक्ति रखता।
है तुझ मत द्वैतं कार्य तब अर्थ करता॥५३॥

उत्थानिका–शिष्य कहता है कि जब दृष्टान्तका समर्थन करनेवाला है यह कहना ठीक नहीं है। दृष्टान्तसे कोई प्रयो-जन नहीं निकलता, इसका समाधान करते हैं–

दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्तनियामदृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे॥ ५४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(उभयोः विवादे) वादी तथा प्रतिवादी दोनोंके बीचमें किसी बातकी सिद्धिमें झगड़ा होनेपर (दृष्टांतसिद्धौ) दृष्टांतका निर्णय हो जानेपर (साध्यं प्रसिद्धचेत्) साध्यकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् जब दृष्टांत वादी प्रतिवादी दोनोंको मान्य होता है तब वादी जिसे सिद्ध करना चाहता है उसे प्रतिवादी मान लेता है (यत् सर्वथा एकांतनियामदृष्टं) जिनका मत सर्वथा एक धर्मरूप ही वस्तुको माननेवाला है उनके मतमें (तु तादृक् न अस्ति) तो वैसा सिद्ध होना कठिन है। उनको दृष्टांत समर्थन नहीं कर सकेगा। परन्तु (त्वदीयदृष्टिः अशेषे विभवति) आपका अनेकांत मत सर्व ही बातोंको प्रगट कर सक्ता है अर्थात् आपके मतको मानते हुए हेतु व दृष्टांत सर्व बन सकेगा।

भावार्थ-यहांपर यह बताया है कि जब वादी किसी बातको किसी नयसे प्रतिवादीको सिद्ध करना चाहता है तब ऐसा दृष्टांत भी देता है जिससे प्रतिवादीको मान्य होजावे। तथा यह दृष्टांत ऐसा होता है जिसको दोनों ही मानते हैं। जैसे यह कहा गया कि इस शरीरमें जीव है, क्योंकि यहां इंद्रियां जान रही हैं। जहां२ जीव नहीं होता है वहां२ जाननेका काम नहीं होता है। जैसे काठका पुतला। क्योंकि काठका पुतला नहीं जानता है इसलिये जीव रहित जड़ है तथा जहां देखना स्वाद लेना आदि क्रियाएं होरही हैं वह जीव सहित है जैसे हम तुम। यहां काठके पुतलेका दृष्टांत वादी प्रतिवादीको मान्य है कि वह जड़ है। यही उदाहरण जीवकी सिद्धि करनेके लिये साधक पड़ा। यह उदाहरण तब ही बन सक्ता जब काठके पुतलेमें भाव तथा अभाव दो स्वभाव माने गए।

काठके पुतलेमें जड़त्वका भाव है तब ही जीवत्वका अभाव है। यदि भाव व अभाव न मानकर मात्र एकांत ही माना जावे तो कभी दृष्टांत दिया ही नहीं जासकता। हरएक दृष्टांत किसी साधनमें सहायक है तब ही दूसरेके लिए बाधक है। जैसे कहा कि पर्वतपर अग्नि है क्योंकि धुआं दिख रहा है, जैसे रसोई घरमें अग्नि। यह दृष्टांत दोनोंको मान्य है व अनुभव है कि रसोईघरमें धुआं जब होता है तब अग्नि अवश्य होती है। तथा यह दृष्टांत जब पर्वतपर अग्नि सिद्ध करनेके लिए साधन है तब सरोवरमें जल है इसके सिद्ध करनेके लिए साधन नहीं है। जो मत वस्तुमें एक ही धर्म मानते हैं उन मतोंसे वस्तुकी सिद्धि नहीं होसक्ती है, दृष्टांत भी नहीं बन सक्ता है; क्योंकि वस्तु अनेक धर्मरूप है ही। हे श्रेयांसनाथ! आपका मत ही यथार्थ वस्तुको सिद्ध कर सक्ता है। यदि कोई वस्तुको अद्वैत ही माने, एकरूप ही माने, भेद वास्तविक न माने तो वह अपने पक्षको सिद्ध ही नहीं कर सक्ता। जैसा आप्तमीमांसामें कहा है:—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

भावार्थ—अद्वैतकी सिद्धि जब किसी साधनसे करने लगेंगे तब ही अद्वैत नहीं रहेगा। क्योंकि साधन व साध्यका द्वैत सामने आजायगा। यदि साधनके विना ही सिद्धि करोगे—साधन नहीं कहोगे तो वचन मात्रसे द्वैतहीको क्यों न मान लिया जावे? इसलिये वस्तुका स्वभाव एकरूप माननेसे ही कुछ काम न चलेगा, वस्तु द्वैत व अद्वैत दोनों रूप है। सत्ता सामान्यकी अपेक्षा वस्तु

अद्वैतरूप व एकरूप है वही वस्तु द्रव्यादि भेद, गुण पर्यायभेद, इत्यादिकी अपेक्षा अनेकरूप व द्वैतरूप है। विना अनेकांतके सत्यका प्रतिपादन ही नहीं बन सक्ता।

मालिनी छन्द ।

जब होय विवादं सिद्ध दृष्टांत चलता ।
वह करता सिद्धी जब अनेकांत पलता ॥
एकांतं मतोंमें साधना होय नाहीं ।
तब मत है साचा सर्व सधता तहां ही ॥५४॥

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि एकांतका निषेध होनेपर ही अनेकांतकी सिद्धि होसक्ती है कि हरएक वस्तु अनेक धर्मोंसे प्राप्त है। परन्तु एकांतका निषेध कैसे किया जायगा? इसका समाधान करते हैं:—

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य ।
असिस्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः ॥५५॥

अन्वयार्थ सहित भाषाटीका—(एकांतदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिः) वस्तु सर्वथा भाव रूप ही है या अभावरूप ही है, नित्यरूप ही है या अनित्यरूप ही है इत्यादि अभिप्रायको रखनेवाला जो एकांतमत उसका निषेध होजाना या उसके निषेधकी सिद्धि (न्यायेषुभिः) न्यायके वाणोंसे हो जाती है। अर्थात् अनेकांतनयके प्रतिपादनसे एकांतका निषेध होजाता है। हे प्रभु! आपका ज्ञान प्रमाण है वही सच्चा ज्ञान है। इसी अनेकांतमई आतमपदार्थका अनुभवरूप ज्ञानके वाणोंसे आपने (मोहरिपुं निरस्य) मोहरूपी शत्रुको नाश करके और फिर ज्ञानावरणादि तीन अन्य घातियाका संहार

करके (कैवल्यविभुतिसम्राट् असि स्म) आप केवलज्ञानरूपी विभूतिके धर्म चक्रधारी तीर्थंकर सम्राट हो गए (ततः) इसी कारणसे (त्वम्) आप (मे स्तवार्हः) मेरे द्वारा स्तुति करने योग्य (अर्हन् असि) अर्हंत हो ।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि अनेकांत मत ही एकांतके निषेधके लिये बाण है। जब अनेकांत नयसे अर्थात् स्याद्वादसे ही अनेकांत स्वरूप वस्तुका साधन होता है तथा एकांतसे हो नहीं सक्ता तब अनेकांत ही एकांतमतका निराकरण करनेवाला है। यदि कोई वस्तुको सर्वथा भावरूप ही कहे तो उसका खण्डन अनेकांत कर देता है कि वस्तु अपने निज स्वरूपसे तो भावरूप है वही पर स्वरूपकी अपेक्षा अभावरूप भी है। यदि वस्तुमें परका अभाव न माना जायगा तो अपना सद्भाव भी नहीं माना जासक्ता। कहा है–

"अस्तित्वं प्रतिषेधेन अविनाभाव्येकधर्मणि ।"

अर्थात्–एक पदार्थमें अस्तित्व व नास्तित्व दोनों स्वभाव अवश्यमेव वास करते हैं। हरएक वस्तु सर्वथा नित्य मानी जावे या सर्वथा अनित्य मानी जावे तो सिद्ध नहीं होती। वस्तु नित्य अनित्य दोनोंरूप अपने गुण पर्यायोंकी अपेक्षासे है ऐसा ही सिद्ध होता है। बस, अनेकांतकी सिद्धिने ही एकांतमतका निराकरण कर दिया। हे प्रभु ! आपहीका ऐसा सच्चा मत है। आपने इसीतरह आत्मा व अनात्माका सच्चा स्वरूप निर्णय किया और इसी निर्णयरूप प्रमाण ज्ञानसे अर्थात् निज आत्माका यथार्थ अनुभव करनेसे जो आत्मज्ञानके बाण चलाए उन्हींसे सबसे पहले मोहनीय कर्मका क्षयकर डाला। फिर क्षीण मोहमें अंतर्मुहूर्त स्थिति करके शेष तीन घातिया

कर्मोंका भी क्षय कर डाला और आप केवलज्ञानी अरहंत परमात्मा होगए। जबतक आत्माका अनेकांतरूपसे यथार्थ ज्ञान नहीं होगा तबतक उसका यथार्थ ध्यान नहीं होगा। और यथार्थ ध्यान हुए विना गुणस्थानोंके द्वारा आत्माकी उन्नति न होगी।

वास्तवमें केवलज्ञानके लिये श्रुतज्ञान ही साधन है। भाव श्रुतज्ञान ही स्वात्मानुभव है। यही बाण मोहका नाश करनेवाला है। क्योंकि आपने स्वयं सत्य मोक्षमार्ग पाया और उससे अपना उद्धार किया। इसलिये मैं भी आपकी तरह जब अपना उद्धार करना चाहता हूं तब मुझे आपकी ही शरण ग्रहण करके आप हीका गुणानुवाद करना चाहिये। जिससे मैं भी सच्चे आत्मध्यानरूपी बाणोंसे मोहका नाश करके परमात्मा होसकूं। ज्ञानलोचनस्तोत्रमें कहते हैं—

अद्वैतवादौघनिषेधकारी, एकांतविश्वासविलासहारी।
मीमांसकस्त्वं सुगतो गुरुश्च, हिरण्यगर्भः कपिलो जिनोऽपि ॥२॥

भावार्थ—आप ही यथार्थ अद्वैतवादोंके समूहको निषेध करनेवाले हैं। एकांत श्रद्धानके विलासको हरनेवाले हैं। इसलिये आप ही सच्चे मीमांसक हैं, सुगत हैं, गुरु हैं तथा हिरण्यगर्भ हैं, कपिल हैं तथा जिन हैं। अर्थात् पूज्यनीयपना आपहीमें सिद्ध होता है; क्योंकि आप ही अनेकांतमय पर्यायके प्रकाशक हैं।

छन्द मालिनी।

एकांत मतोंके चूर्ण करता तिहारे, न्यायमई बाणं मोहारिपु जिन संहारे।
तुम ही तीर्थंकर केवल ऐश्वर्य धारी ताते तेरी ही, भक्ति करनी विचारी॥



(१२) श्री वासुपूज्य स्तुतिः।

शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः।
मयापि पूज्योऽल्पधियामुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ५६

सान्वयार्थ भाषाटीका-(मुनीन्द्र) हे गणधरदेवादि मुनियोंके स्वामी! (त्वं) आप (वासुपूज्यः) वसुपूज्य क्षत्री राजाके पुत्र बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी (शिवासु अभ्युदयक्रियासु) शोभनीक गर्भ जन्म तप आदि कल्याणकोंकी क्रियाओंमें (पूज्यः) पुजे गए हो (त्रिदशेन्द्रपूज्यः) और इन्द्रादि देव व बड़े २ महान सम्राटोंसे पूज्यनीय हो तब (मया अल्पधिया) मुझ तुच्छ बुद्धि समंतभद्रसे भी (पूज्यः) पूज्यनीक हो (दीपार्चिषा) दीपककी ज्योतिसे (किं) क्या (तपनः) सूर्य (पूज्यः न) पुजा नहीं जाता है।

भावार्थ—यहां भी श्री वासुपूज्यके नामका सार्थकपना दिखाया है कि जगतमें ऐसा कोई पुण्यात्मा, जिसके गर्भ जन्म तप ज्ञान व यिर्वाण कल्याणकोंमें [इन्द्रादि देवोंने महान उत्सव किये हों आप ही एक तीर्थंकर देव हैं। आपको बड़े बड़े गणदेव आदि साधु देवोंके इन्द्र मानवोंके स्वामी राजा आदि सर्व ही परम पूज्यनीय समझकर पुजते हैं। इसीलिये कि आप अलौकिक परमात्मा या अरहंत पदको पहुंच गए हो। आप सर्व दोषोंसे रहित सर्वज्ञ वीतराग होगए हैं। श्री समंतभद्राचार्य कहते हैं कि मैंने भी आपको ही पुज्यनीय जाना है, क्योंकि आप ही सूर्यके समान परम प्रतापी केवलज्ञानमई अमिट प्रकाशके धारी हैं। तथापि

मेरी पूजा जगतमें हास्यका हेतु होसक्ती है; क्योंकि में तो बहुत ही अल्पबुद्धि हूं, में किस तरह आपका गुण स्तवन करके पूजा कर सक्ता हूं, तथापि भक्तिके वश करता ही हूं। जैसे रूढ़िमें लोग सूर्यको देवता मानके पूजते हैं तब दीपक लाकर उससे आरती उतारते हैं। जो दीपककी लौ अति तुच्छ होती है, जरासी पवनकी प्रेरणासे बुझ जाती है वह भी जब सूर्यकी भक्ति कर सक्ती है तब मैं आपकी भक्ति करलूं तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

वास्तवमें श्री तीर्थंकर अरहंतदेव ही पूज्यनीय हैं। जैसा पात्रकेसरि स्तोत्रमें कहा है—

न लुब्ध इति गम्यसे सकलसंगसन्यासतो।
न चापि तव मूढ़ता विगतदोषवाम्यद्भवान्॥
अनेकविधरक्षणादसुभृतां न च द्वेपिता।
निरायुधतयाऽपि च अपगतं तथा ते भयम्॥१२॥

भावार्थ–हे भगवन्! आप ही पूज्यनीय हैं क्योंकि आपने सर्व परिग्रहका त्याग करदिया है। इसलिये आपको कभी किसी ही पर-वस्तुमें लोभ या राग नहीं होसक्ता है। तथा आपके वचन पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित हैं इसलिये आपमें अज्ञानता बिलकुल नहीं है। तथा आपने अनेक प्रकारसे मन वचन कायसे पूर्णपने जगतके प्राणियोंकी रक्षा की है, आपसे किसीको कष्ट नहीं पहुंचता है इसलिये आपमें द्वेषपना बिलकुल नहीं है। न आपको किसी तरहका भय है, क्योंकि आपके पास कोई शस्त्र नहीं है। इसलिये आपमें ही सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशोपनाके लक्षण मिलते हैं जो एक देवमें होने चाहिये।

छन्द।

तुम्हीं कल्याण पंचमें पूज्यनीक देव हो,
शक्र राज पूज्यनीक वासुपूज्य देव हो।
मैं भि अल्पधी मुनीन्द्र पूज आपकी करूं,
भानुके प्रपूज काज दीपकी शिखा धरूं ॥

उत्थानिका–भगवानकी पूजासे भगवानको क्या लाभ होगा? इस शंकाका उत्तर आचार्य देते हैं–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवांतवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(नाथ) हे प्रभु (वीतरागे त्वयि) आप वीतराग हैं इसलिये आपकी (पूजया) पूजा करनेसे आपको (अर्थः न) कोई प्रयोजन नहीं है। (विवांत-वैरे) आप वैर रहित हैं इसलिये (निन्दया न) आपकी निन्दा करनेसे भी आपको कोई प्रयोजन नहीं है (तथापि) तो भी (ते पुण्यगुणस्मृतिः) आपके पवित्र गुणोंका स्मरण (नः) हमारे (चित्तं) मनको (दुरितांजनेभ्यः) पापरूपी मैलोंसे (पुनातु) पवित्र कर ही देता है।

भावार्थ–यहां यह बात दिखलाई है कि जब हे वासुपूज्य-स्वामी! आप बिलकुल राग द्वेष शून्य हैं तब हम यदि आपकी पूजा करें तो आप कुछ भी प्रसन्न होकर हमको कुछ नहीं देंगे, फिर हम आपकी पूजा ही क्यों करें व महान पुरुष भी आपकी क्यों पूजा करते हैं? इसका समाधान यह है कि वास्तवमें प्रभु तो वीत-राग हैं, उनको कोई मतलब नहीं है कि कोई भक्ति करो, या

पूजन करो या स्तवन करो। हमारी भक्ति इनके आत्मामें हमारे प्रति रागभाव उत्पन्न नहीं करा सक्ती है और यदि कदाचित् कोई आपसे विमुख होकर आपकी निन्दा करे तो आपमें उसपर द्वेषभाव नहीं उत्पन्न होसक्ता। क्योंकि आपने क्रोधादि कषायोंका तो नाश ही कर दिया है। फिर स्तुति कर्ता व निंदाकर्ताको क्या फल होगा? तो इसका उत्तर यह है कि जो भगवानके पवित्र गुणोंका स्मरण करेगा उसका भाव पवित्र होजायगा, वीतरागीके स्तवनसे वीतराग होजायगा। तब रागद्वेष मिटानेसे पापोंका क्षय होगा व अतिशयरूप पुण्यका बंध होगा, जो साताकारी संयोगोंमें प्राप्त करेगा। तथा जो निंदा करेगा उसका भाव द्वेषसे पूर्ण होकर बुरा होजायगा वह अपने भावोंसे पापका बंध कर लेगा। आप तो न किसीपर राग करते हैं न द्वेष करते हैं। तथापि आपके भक्त तो मोक्षमार्गपर चलकर भवसागरसे पार होजाते हैं व जो आपकी निंदा करते हैं वे स्वयं पाप बांधकर भवसागरमें गोता लगाते रहते हैं। इसलिये आपकी पूजा तो मेरे लिये परम हितकारी ही है। जैसे शास्त्र स्वयं कुछ ज्ञान नहीं देते, परन्तु पढ़नेवाला प्रेमी उसमेंसे ज्ञानका विकास कर ही लेता है। इसी तरह आपका दर्शन पूजा स्तवन भक्तका परम हित करता है, उसे पवित्र बना देता है। यही भाव पात्रकेसरिस्तोत्रमें झलकाया है:—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि ।
क्षिपस्य कुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ॥
न चेश! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यद् भवान्।
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो आपकी स्तुति करते हैं उनपर आप प्रसन्न हुए विना ही उनको अनुपम सुख देते हैं व जो आपकी निंदा करते हैं उनपर क्रोध न करते हुए आप उन्हें दुर्गतिमें पटक देते हैं। हे भगवन्! तौभी आपके परमेष्टी पदमें कोई विरोध नहीं आता है। क्योंकि आप वीतराग स्वभावमें लवलीन रहते हैं। न क्रोध करते हैं न प्रसन्न होते हैं। वे स्तुतिकर्ता व निंदाकर्ता स्वयं ही अपने परिणामोंसे अच्छा या बुरा फल पालेते हैं।

छन्द।

वीतराग हो तुम्हें, न हर्ष भक्ति करनके;
वीत द्वेष हो तुम्हीं, न क्रोध शत्रु होवके।
सार गुण तथापि हम कहें महान भावते;
हो पवित्र चित्त हम हटें मलीन भावते ॥ ५७ ॥

उत्थानिका—अब शंका करते हैं कि आपको जो अष्ट-द्रव्यका आरम्भ करके पूजते हैं उनको तो अवश्य कुछ पापका बंध होता ही होगा इसका समाधान करते हैं—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥५८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(त्वा पूज्यं जिनं) आप पूजने योग्य जिन भगवानकी (अर्चयतः) पूजा करते हुए (जनस्य) किसी भक्तजनको (बहुपुण्यराशौ) बहुत पुण्यका ढेर प्राप्त होता है उसमें (सावद्यलेशः) आरम्भ जनित पापका कुछ अंश (दोषाय अलं न) भक्तको दोषी नहीं बना सक्ता है (शीतशिवाम्बुराशौ) जिस समुद्रमें ठंडा व सुखदाई जल भरा है उसमें (विषस्यकणिका)

विपकी एक कणी (दूपिका न) जलको विषमई नहीं कर सक्ती है।'

भावार्थ-हे जिनेन्द्र! जो भक्तजन आपकी द्रव्य पूजा करते हैं अर्थात् भावोंको जोड़नेके लिये सुन्दर पूजाके उपकरण व जल चंदनादि सामग्री एकत्र करते हैं व गा वजाकर तन्मय होकर आपकी स्तुति करते हैं, तब इन पूजा सम्बंधी आरम्भ करते हुए जो कुछ एकेंद्रियादि जीवोंकी हिंसा होती है वह इतनी अल्प है कि नाम मात्र है। परन्तु उस आरम्भके द्वारा जो पूजा करते हुए भावोंकी विशुद्धि होती है व उससे जो समय समय महान् पुण्यका बन्ध होता है वह तो एक समुद्रके समान होता है। जहां कोटिगुणा लाभ हो व कुछ हानि हो तो बुद्धिमानोंको वह कार्य गुणरूप ही भासता है दोषरूप नहीं। वे अटूट लाभके लिये कुछ हानि सह करके भी वर्तन करते हैं। पूजाके आरम्भमें यत्नाचारसे व दया-भावसे वर्तन करते हुए त्रस जंतुओंकी हिंसाका तो अल्प भी पाप नहीं होता है। सचित्त जलको अचित्त करते हुए व जलसे सामग्री धोते हुए आरम्भ जनित एकेंद्रियोंकी हिंसाका अत्यन्त अल्प पाप बंधता है। वह इतना कम है जैसे शीत मिष्ट जलके समुद्रमें यदि एक विपकी कणी डाली जावे तो वह उस जलको विषमई नहीं कर सकती है-उसमें समा जायगी। इसी तरह वह अति अल्प पाप महापुण्य बंधके सामने कुछ भी गिनतीमें नहीं है। जो लोग गृहस्थ होकर भी आरम्भी अहिंसाके भयसे द्रव्य पूजा नहीं करते हैं वे अपना महान् अलाभ करते हैं क्योंकि मात्र भाव पूजामें मन अधिक कालतक जुड़ नहीं सक्ता है। जैसे विना वाजेका साथ हुए गवैयेका मन देरतक गानेमें नहीं जुड़ सक्ता है

इसी तरह विना द्रव्यादि सामग्रीका आलम्बन हुए मन देर तक भक्तिमें नहीं लग सक्ता है। तब वह समय जो द्रव्य पूजाके द्वारा भक्ति करनेमें जाता वह घरमें व दुकानादिमें जाकर विशेष आरम्भ जनित कार्योंमें लग जाता है। तब अधिक पापका बंध होता है उसी समयको यदि वह द्रव्य पूजामें लगाता तो अत्यन्त अल्प पापके साथ बहुत अधिक पुण्यका लाभ करता। गृहस्थका जितना व्यवहार धर्म है वह आरम्भी हिंसासे खाली नहीं है। तथापि वह हिंसा हिंसाके हेतुसे नहीं है, मात्र विशेष किसी प्रयोजनके लिये है जो प्रयोजन उस आरम्भके विना होना अशक्य है। जैसे धर्मसाधन, सामायिकपाठ, स्वाध्याय, पूजा भक्ति करनेके लिये मंदिर व उपाश्रय व धर्मशाला बनाना व सरस्वती भवन तैयार कराना व पाठशालाका मकान बनवाना व मकानमें बैठनेको पाटा, चौकी, फर्श, चटाई, आसन लाना विछाना, व शास्त्र रखनेको चौकी बनवाना, शास्त्र लिखना लिखाना, मुद्रित कराना आदि२ ये सब आरम्भ हैं। उनमें कुछ न कुछ आरंभी हिंसा होती है। परन्तु धर्म साधन विशेष होता है, परिणामोंकी उज्वलताका विशेष कारण होता है। इसलिये हरएक बुद्धिमानको करना ही उचित है। गृहस्थका मन इतना वैराग्यमय नहीं है कि वह मात्र साधुके समान सामायिक करके देरतक परिणामोंको उज्वल रख सके। उसे चंचल मनको रोकनेके लिये पूजा, पाठ, स्वाध्याय व सामायिक सर्व ही कार्य बताए गए हैं जिससे विशेष लाभ हो। गृहस्थ व्यापारी होता है, जैसे व्यापारमें थोड़ा पैसा खर्च करके विशेष लाभ उठाया जाता है वैसे गृहस्थधर्ममें थोड़ा आरम्भ करके

भी विशेष लाभ उठाया जाता है। जो थोड़ी हानिके भयसे विशेष लाभ नहीं लेते हैं उनको मूर्ख व कायर व आलसी कहा जाता है। इसलिये श्री जिनेन्द्रकी द्रव्य पूजा भक्तोंके भावोंको उन्नतिरूप करनेमें अत्यन्त सहायक है। इसलिये दोषरूप नहीं है। किन्तु परम गुणकारी है। जिनको एकेंद्रियोंकी आरम्भ जनित हिंसाका त्याग नहीं है वे ही पूजाकी सामग्रीका निमित्त मिलाते हैं। आरम्भ जनित हिंसाके सर्वथा त्यागी हैं वे बहुत उदासीन रहते हैं। वे व्यापारादिके भी त्यागी होते हैं। वे मात्र भाव पूजासे ही अपने परिणामोंको ऊँचा बना सक्ते हैं। यहां आचार्यके कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तजनोंकी द्रव्य पूजा उनके लिये गुणकारी है। अतएव कर्तव्य है। श्री अमितगति महाराज सुभाषितरत्नसंदोहमें गृहस्थका धर्म बताते हैं---

विचित्रशिखराधारं विचित्रध्वजमण्डितम्।
विधातव्यं जिनेन्द्राणां मंदिरं मंदिरोपमम्॥ ८७३॥
यावत्तिष्ठति जैनेन्द्रमन्दिरं धरणीतले।
धर्मस्थितिः कृता तावज्जैनसौधविधायिना॥ ८७५॥
यः करोति जिनेन्द्राणां पूजनं स्तवनं नरः।
स पूजामाप्य निःशेषां लभते शाश्वतीं श्रियम्॥ ८७७॥

भावार्थ—विचित्र शिखर सहित ध्वजा मंडित परम सुन्दर मंदिर श्री जिनेन्द्रके विराजमान करनेके लिये बनवाना चाहिये। जबतक पृथ्वीमें जिन मंदिर रहेगा तबतक मंदिरके बनवानेवालेने धर्मका मानों झंडा ही गाड़ दिया है। जिन मंदिरमें जो कोई भक्तजन अभिषेक व पूजन करता है वह स्वयं पूजाका पात्र होकर परम्परा अविनाशी लक्ष्मीको पालेता है।

छन्द।

पूजनीक देव आप पूजते सुचावसे।
बांधते महान पुण्य जन विशुद्ध भावसे॥
अल्प अघ न दोपकर यथा न विष कणा करे।
शीत शुचि समुद्र नित्य शुद्ध ही रहा करे॥ ५८॥

उत्थानिका—शंकाकार कहते हैं कि मुनियोंके पास तो सामग्री होती नहीं है वे जिनेन्द्रकी पूजा कैसे करेंगे? इसका समाधान करते हैं—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते॥५९॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(यत् बाह्यं वस्तु) जो बाहरी अक्षत पुष्पादि पदार्थ है वह (गुणदोषसूतेः) पुण्य तथा पाप भावकी उत्पत्तिका (निमित्तं) निमित्त कारण है। (अध्यात्मवृत्तस्य) जो अंतरंग अपने शुभ व अशुभ भावोंमें वर्त रहा है उसके (अभ्यंतरमूलहेतोः) पुण्य पाप बंधके अंतरंग मूल शुभ व अशुभ भावरूपी कारणके लिये (तत् अंगभूतं) वह बाहरी पदार्थ मात्र सहकारी कारण है। (अभ्यंतरं केवलं अपि ते अलं) आपके मतमें तो वास्तवमें अंतरंग शुभ व अशुभ भाव मात्र ही पुण्य व पाप बंध करनेको समर्थ है।

भावार्थ—यहां यह दिखलाया है कि जीवोंके अंतरंग परिणाम ही पुण्य तथा पाप बंधके मुख्य या मूलकारण हैं। तथा बाहरी पदार्थ शुभ व अशुभ परिणामोंके होनेमें मात्र सहकारी कारण है। बंध तो भावोंसे ही होगा। गृहस्थोंका मन अति चंचल

होता है । इसलिये उनके मनको अन्य बाहरी कार्योंसे रोकनेके लिये यह आवश्यक है कि बाहरी पदार्थोंका आलम्बन हो । निमित्त बड़ा बलवान होता है । जहां जैसा बाहरी निमित्त होता है वैसा परिणाम होजाता है तथा एक कार्यके लिये अनेक निमित्तोंकी आवश्यक्ता होती है । गृहस्थके मनमें भक्ति उत्पन्न करनेके लिये जिनमंदिरका स्थान, ध्यानमई प्रतिमा, व जल चंदनादि आठ द्रव्य, पूजाके उपकरण व गाने बजानेका सामान इत्यादि वे सर्व पदार्थ सहकारी कारण हैं, इनके होते हुए यदि पूजा करनेवाला उपयोगको लगावे तो भक्तिका भाव जागृत कर सक्ता है व बढ़ा सक्ता है । और महान पुण्यका लाभ कर सक्ता है परन्तु जिसका उपयोग ही पूजाकी तरफ नहीं है उसके लिये बाहरी पदार्थ मात्र पुण्य बंधका कारण न होगा । जिसके चित्तमें यह झुकाया है कि मैं अपने भावोंको उज्वल करूं, उसके भावोंको चढ़ानेके लिये जल चंदनादि द्रव्य बड़े उपयोगी सहकारी पड़ते हैं । इनके निमित्तसे भिन्न २ भावनाओंको भाता हुआ गृहस्थ पूजा करके भावोंकी निर्मलता प्राप्त कर सक्ता है । जब वह जलादि चढ़ाता है तब यह भावना करता है कि जन्म जरा मरण रोगके निवारण हेतु जल चढ़ाता हूं, भवके आतापको दूर करनेके लिये चंदन चढ़ाता हूं । अक्षय गुणोंकी प्राप्तिके लिये अक्षत चढ़ाता हूं इत्यादि । पूजा करनेके प्रारम्भमें जो भावमें भक्तिभाव थोड़ा होता है वह सामग्री चढ़ाकर व देरतक पूजामें जुड़ जानेसे बहुत बढ़ जाता है । यद्यपि परिणामोंके पलटनेके लिये व भावोंको विशुद्ध करनेके लिये बाहरी वस्तु निमित्त कारण है तथापि आगमका दर्शन तो यही है कि प्रधान हेतु अंतरंग

कारण है। इसलिये मुनियोंको जल चंदनादि सामग्रीके विना भी यह शक्ति है कि वे आपकी भक्ति कर सकें। क्योंकि उनका मन अन्य कार्यमें--धनादि व परिग्रहादिकी चितामें नहीं रहता है। वे तो निरंतर ध्यानाशक्त हैं। उनके लिये तो एकांतवास, परिग्रह त्याग व तीव्र वैराग्यका सामान यही सब बाहरी निमित्त हैं जिनसे उनका परिणाम श्री जिनेन्द्रकी भक्तिमें तल्लीन होजाता है। उनके लिये द्रव्यपूजाकी जरूरत नहीं है परन्तु गृहस्थोंको इसलिये जरूरत है कि उनके लिये अनेक उल्टे पापरूप आकर्षण हैं जिनसे बचनेके लिये बाहरी सामग्री आदिका निमित्त भावोंके बढ़ानेमें प्रबल निमित्त कारण है। श्री जिनेन्द्रका दर्शन भिन्न २ अपेक्षासे ही कहा गया व समझा गया परम कल्याणकारी होता है।

आत्मानुशासनमें श्री गुणभद्राचार्य कहते हैं-

परिणाममेवकारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात् पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ॥२३॥

भावार्थ-परिणामको ही मुख्यतासे पुण्य तथा पाप बंधका कारण आचार्योंने कहा है इसलिये पापभावका नाश व पुण्यभावका लाभ करना उचित है।

छन्द।

वस्तु बाह्य है निमित्त पुण्य पाप भावका,
है सहाय मूलभूत अन्तरंग भावका।
वर्तता स्वभावमें उसे सहायकार है,
मात्र अन्तरंग हेतु कर्म बंधकार है ॥ ५९ ॥

उत्थानिका-यह सब भिन्न२ अपेक्षासे कथन जैन मतमें ही घटता है ऐसा कहते हैं-

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(ते) आपके मतमें (इयं) यह (बाह्येतरोपाधिसमग्रता) बाहरी और अंतरंग कारणकी पूर्णता (कार्येषु) कार्योंके संपादन करनेमें (द्रव्यगतः स्वभावः) द्रव्यमें प्राप्त हुआ स्वभाव है (पुंसां) संसारी जीवोंके लिये (मोक्षविधिः च) मोक्षका उपाय भी (अन्यथा नैव) बाहरी और अंतरंग दोनों साधनोंके सिवाय अन्य रूपसे नहीं होसक्ता । (तेन) इसीलिये (त्वं) आप (ऋषिः) परम ऋद्धिसे संपन्न परम प्रभु (बुधानाम्) गणधर देव आदि बुद्धिमानोंके लिये (अभिवंद्यः) नमस्कार करनेके योग्य हैं ।

भावार्थ–श्री समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे वासुपूज्य भगवान ! आपने यथार्थ वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा बताया है इसीलिये गणधरदेव आदि बड़े २ महान साधु व विद्वान आपको ही मन, वचन, कायसे नमस्कार करते हैं ।

आपने यह बहुत ही यथार्थ बताया है कि हरएक द्रव्यसे कार्य तब ही बन सक्ता है जब बाहरी व अंतरंग कारण हों अर्थात् जब निमित्त व उपादान दोनों कारणोंकी पूर्णता हो । यही हरएक द्रव्यके द्वारा काम होनेका वस्तुस्वभाव है । मिट्टीमें घट बननेकी शक्ति है, मिट्टी घटके लिये उपादान या अंतरंग कारण है तब चाक आदि बाहरी सहायकोंकी पूर्णता निमित्त कारण है । दोनों कारणोंके विना घट नहीं बन सक्ता है । कपड़ा शुद्ध करना है, उपादान कारण स्वयं कपड़ा है, निमित्त कारण मसाला व मलनेवाला

है। दोनों कारण होनेपर ही कपड़ा स्वच्छ होगा। कपड़ेमें उजले होनेकी शक्ति है तब ही निमित्तकारण मदद देदेता है। कोयलेमें उजले होनेकी शक्ति नहीं है। इसलिये उनके लिये बाहरी मसाला निरर्थक होगा। तथा बाहरी मसाला न हो मात्र मैला कपड़ा हो तौभी वह कपड़ा साफ नहीं होसक्ता है। उपादान व निमित्तके बिना कोई परिणमन या पर्याय या काम होही नहीं सक्ता, इसलिये तो आपके जैन सिद्धांतमें यह बताया है कि जीव व पुद्गलोंके मुख्य चार कार्योंमें चार मुख्य द्रव्य सहकारी कारण हैं। उनके हलनचलनमें धर्म द्रव्य, उनकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य, उनके अवकाश पानेमें आकाश द्रव्य, उनके पर्याय पलटनेमें कालद्रव्य निमित्त हैं।

जब ऐसा नियम है कि दो कारणोंके बिना कार्य नहीं होता है तब मोक्षप्राप्तिके लिये भी दोनों ही कारणोंकी आवश्यकता है सो ही आपने बताया है कि अंतरंग कारण तो परिणाम हैं, शुद्ध भाव हैं, उनकी प्राप्तिके लिये वे सर्व कारण निमित्त हैं जो शुद्ध भावमें साधक हैं अर्थात् शुद्ध भावमें बाधक परिग्रह व आरम्भकी चिंता है व इन्द्रिय विषयका सम्बन्ध है व गृहस्थका वास है। इसीलिये आपने बताया है कि जो सर्व परिग्रह त्यागकर व एकांतवासकर चिंता छोड़कर वैराग्यके निमित्तोंमें रहकर अभ्यास करेगा उस ही के कर्म संहारक शुक्लध्यान उत्पन्न होगा। गृहस्थोंके लिये भाव शुद्धिमें निमित्त कारण श्रीजिनेन्द्रकी मूर्तिका दर्शन व अष्टद्रव्यसे पूजन बड़ा भारी प्रबल निमित्त कारण है। जब भक्तिका निमित्त गृहस्थी मिलाएगा और साथमें अपने भावोंको जोड़ेगा तो उसे अवश्य शुद्धभाव या यथ संभव विशुद्धभावकी प्राप्ति होगी।

वीतराग सर्वज्ञकी पूजा एक ज्ञानवान भक्तके हृदयमें वीतरागता मिश्रित शुभभावको उत्पन्न करती है। इसीसे जितने अंश वीतरागता होती है उतने अंश कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। जितने अंश शुभ रागभाव होता है उतने अंश महान पुण्यका बंध होजाता है। अतएव अपने भावोंकी शुद्धिके लिये निमित्त कारणोंका सम्बन्ध अवश्य मिलाना योग्य है। यह आपका यथार्थ मत निर्बाध सिद्ध होता है। जो सिद्धांत एकांत हैं उनके मतमें उपादान व निमित्त कारणोंकी सार्थकता नहीं बनती है, किन्तु अनेकांतमें ही बनती है। यदि वस्तुको मात्र भावरूप ही माना जाय तो उसकी पर्याय जो पहले अभावरूप थी वह न उत्पन्न होनी चाहिये। यदि सर्वथा अभावरूप माना जाय तो शून्यताका प्रसंग आता है किन्तु भावाभावरूप माननेसे ही काम चलता है कि द्रव्यकी अपेक्षा वस्तु सदासे भावरूप है, पर्यायके बदलनेकी अपेक्षा या अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा वस्तु अभावरूप है। वस्तुको सर्वथा नित्य माननेसे भी कार्य नहीं होसक्ता सर्वथा अनित्य माननेसे भी नहीं होसक्ता। जो दर्शन वस्तुको उभयरूप मानता है वहीं कार्य होसक्ता है। द्रव्यका स्थिर रहते हुए पर्यायका पलटना ही कार्य है। द्रव्य जब नित्य हुआ तब पर्याय अनित्य हुई। जीव नित्य है, तब ही वह संसारीसे सिद्ध होसक्ता है तथा संसार अवस्था अनित्य है तब ही वह बदलकर सिद्ध अवस्था होजाती है। इसतरह पदार्थको जो अनेक धर्म रूप मानता है ऐसा जो हे वासुपूज्य भगवान! आपका सिद्धांत है उसीमें द्रव्यका यथार्थ स्वभाव कथित है व उसीमें ही मोक्षका मार्ग बन सक्ता है, अतएव आप ही बुद्धिमानोंके द्वारा वंदनीय है।

ऐसा ही स्वामीने आप्तमीमांसामें दिखलाया है-

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः ।
बंधमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥ ४० ॥

भावार्थ-जिनके आप स्वामी नहीं हैं अर्थात् जो अनेकांतको न मानकर मात्र एकांतको ही मानते हैं उनके मतमें पुण्य बंध करनेवाली व पाप बंध करानेवाली क्रिया नहीं होसक्ती है। जब क्रिया नहीं होसक्ती तब उसका फल परलोक व सुख व दुःख नहीं बन सक्ता है, न वहां कर्मोंका बंध सिद्ध होगा न वहां मोक्ष होगा; क्योंकि सर्वथा नित्य माननेसे वस्तुमें परिवर्तन तो होगा ही नहीं तब ये सब कार्य न बनेंगे। यदि सर्वथा अनित्य मानेंगे तब भी कुछ कार्य न होगा। जो पाप करेगा वह तो नाश ही हो जायगा तब फल कौन भोगेगा? इत्यादि।

छन्द।

बाह्य अंतरंग हेतु पूर्णता लहाय है।
कार्यसिद्ध तहां होय द्रव्यशक्ति पाय है॥
और भांति मोक्षमार्ग होय ना भवीनिको।
आप ही सुबंदनीक गुणी ऋशीनिको॥ ६०॥



(१३) श्री विमलनाथ स्तुतिः।

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः॥६१॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यः एव नित्यक्षणिकादयः नयाः) जो यह नित्य अनित्य सत् असत् आदि एकांतरूप दृष्टियें हैं वे (मिथोनपेक्षाः) परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा न रखती हुई अर्थात् सर्वथा एकांत व स्वतंत्र रहती हुई (स्वपरप्रणाशिनः) अपनेको व दूसरोंको नाश करनेवाली हैं। अथवा न कहनेवालेका भला करनेवाली हैं न समझनेवालेका भला करनेवाली हैं। परन्तु (ते मुनेः विमलस्य) आप प्रत्यक्षज्ञानी व सर्वदोषरहित विमलनाथ भगवानके दर्शनमें (ते एव) वे ही नित्य अनित्य आदि दृष्टियें (परस्परेक्षाः) एक दूसरेकी अपेक्षा रखती हुई (स्वपरोपकारिणः) अपना व दूसरोंका उपकार करती हुई (तत्त्वं) तत्व स्वरूप या यथार्थ हैं।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि दुर्नय मिथ्या होते हैं व सुनय सत्य होते हैं। नय उसे ही कहते हैं जो किसी अपेक्षासे वस्तुके एक स्वभावको झलकावे तब ही उसमें अन्य स्वभाव हैं इसका सर्वथा निषेध न करे। जैसे यह कहा कि "स्यात् नित्यं" इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी अपेक्षासे वस्तु नित्य है तब अन्य अपेक्षासे अन्य रूप भी है। हरएक नयका कथन अपेक्षा सहित होता है। यदि सर्वथा ही एकांतसे नयवादको स्वतंत्र मान लिया जावे अर्थात् सर्वथा नित्य ही वस्तु है अथवा सर्वथा अनित्य

ही वस्तु है, तब न नित्यकी सिद्धि है और न अनित्यकी सिद्धि है, दोनोंका ही नाश है; क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही एक ही नित्य व अनित्यरूप है। जो वस्तुको नित्य ही मान लेते हैं उनका भी नाश ही होगा; क्योंकि वे संसारसे मुक्त नहीं होसक्ते। तथा जो अनित्य ही मानते हैं उनका भी नाश होगा; क्योंकि वे रहेंगे ही नहीं। तथा जिनको वे ऐसा उपदेश करते हैं उनका भी विगाड़ ही होगा। परन्तु ऐ विमलनाथ भगवान! आपका सिद्धांत ऐसा प्रौढ़ है कि उसके अनुसार नयोंका स्वरूप माननेसे सबका कल्याण होता है। हरएक नय दूसरे नयकी अपेक्षा रखता है। जहां नित्यपना है वहां अनित्यपना अवश्य है। नित्य अनित्यकी अपेक्षा रखता है अनित्य नित्यकी अपेक्षा रखता है। ये दोनों सर्वथा स्वतंत्र बन ही नहीं सक्के। क्योंकि दोनों ही विरोधी धर्मको रखनेवाला पदार्थ है। पर्यायकी पलटनकी अपेक्षा वस्तु अनित्य है ऐसा मान लेनेसे नित्य व अनित्य दोनों धर्मोंकी सत्ता सिद्ध होती है। अपेक्षा न मानो व सर्वथा नित्य ही मानो या सर्वथा अनित्य ही मानो तो दोनों ही स्वभावोंका खण्डन होजाता है। परन्तु अपेक्षा सहित माननेसे दोनो ही धर्म बाधा रहित टिकते हैं। तथा जो भिन्न २ अपेक्षासे दोनो धर्म मानते हैं उनका भी हित होता है। वे स्वयं मोक्षमार्ग साधन कर सक्के हैं तथा जिनको समझाया जाता है वे भी ठीक समझकर अपना हित कर सक्के हैं। इसलिये विमलनाथ! आपका हित तो मल रहित निर्दोष है। इसी बातको स्वामीने आप्तमीमांसामें बताया है–

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तुद्वयहेतुतः ।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥३३॥
सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथक् द्रव्यादिभेदतः ।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥ ३४ ॥

भावार्थ–एकत्व व अनेकत्व ये दो स्वभाव परस्पर अपेक्षा विना सिद्ध नहीं होसक्ते, दोनों ही वस्तु धर्म न रहेंगे यदि सर्वथा माने जावे। क्योंकि वस्तु सामान्य विशेषरूप है। यदि विशेष नहीं है तो सामान्य कहां रहेगा और यदि सामान्य नहीं है तो विशेष कहां रहेगा। आमके वृक्षमें वृक्षपना सामान्य आमकी विशेषता सहित है इसीतरह आमकी विशेषतामें वृक्षपना सामान्य है। एक ही वस्तु समान धर्म रखनेसे सामान्य है वही विशेष धर्म रखनेसे विशेष है। हरएक द्रव्य सदा बना रहता है यही उसकी सत्ता सामान्य है तथा हरएक द्रव्य पर्याय सहित या विशेष सहित होता है यही उसका भिन्न२ पना व अनेकपना या विशेषपना है, जैसे साधन साध्य आदिसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। सत्ताकी समानता सर्व विश्वमें होनेसे सर्व विश्व एकरूप है वही द्रव्यकी गुणकी पर्यायकी भिन्नतासे अनेकरूप है। जैसे जो असाधारण साधन होता है वह साध्यसे भेदरूप भी है व अभेदरूप भी है। जीव उपयोग लक्षण है। यहां उपयोग साधन जीवमें ही मिलता है इसलिये अभेद है। परन्तु नाम व लक्षणकी अपेक्षा भेद है। जीवमें उपयोगके सिवाय और भी गुण हैं, उपयोग उनमेंसे एक गुण है। इसलिये परस्पर अपेक्षा सहित भिन्न २ नय परम हितकारी है। अन्यथा भ्रमरूप है कुतत्व हैं कार्यकारी नहीं है–अनेकांत स्वरूप सिद्धांत ही हितकारी है ।

भुजंगप्रयात छन्द।

नित्यत्व अनित्यत्व नयवाद सारा, अपेक्षा विना आपपर नाशकारा।
अपेक्षा सहित है स्वपर कार्यकारी, विमलनाथ तुम तत्त्व ही अर्थकारी॥

उत्थानिका—यदि नित्यपना अनित्यपनाकी अपेक्षा रक्खेगा व अनित्यपना नित्यपनेकी अपेक्षा करेगा तब सर्व नय सर्वकी अपेक्षा करेंगे। तब अमुक नयके द्वारा समझने योग्य पदार्थ अमुक है इस अवस्थाका लोप होजायगा। उसका समाधान करते हैं—

यथैकशः कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम्।
तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पतः॥६२

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यथा) जैसे (एकशः कारकम्) एक एक कारण उपादान कारण या सहकारी कारण (अर्थसिद्धये) किसी कार्यकी उत्पत्तिके लिये (शेषं स्वसहायकारकम् समीक्ष्य) अपने सिवाय दूसरेको अपना सहकारी कारणकी अपेक्षा मानके वर्तता है। अर्थात् उपादान कारणको अपने योग्य सहकारी कारणोंकी व सहकारी कारणोंको अपने योग्य उपादान कारणकी आवश्यक्ता है (तथैव) तैसे ही (सामान्यविशेषमातृका नयाः) सामान्य धर्मतया विशेष धर्मको प्रगट करनेवाले नय भी (गुणमुख्यकल्पतः) एकको मुख्य दूसरेको गौण कहनेकी अपेक्षासे (तव इष्टा) आपके मतमें माननीय हैं।

भावार्थ—शिष्यकी शंकाका समाधान यह है कि जहां जिस वस्तुमें जो धर्म संभव हैं उन्हींको बतानेवाले नय हैं। नयोंकी प्रवृत्ति विना नियमके स्वछन्द नहीं होती है। यहां दृष्टांत दिया है कि हरएक कार्यकी उन्नतिके लिये उपादान व निमित्त दो कारणोंकी

आवश्यक्ता होती है। मात्र एक अकेलेसे काम नहीं होसक्ता है। यदि मात्र सुवर्ण ही हो और सहायक कारण न हो तो भी कड़ा कुण्डल आदि नहीं बन सक्ता और जो मात्र सहायक कारण मसाला व शस्त्र आदि हों परन्तु उपादान कारण सुवर्ण न हो तब भी सुवर्णका कड़ा कुण्डल नहीं बन सक्ता है। इसलिये उपादानको निमित्तकी व निमित्तको उपादानकी जरूरत है। जैसे यह व्यवस्था नियमित है वैसे ही नयोंका कथन है। वस्तुमें सामान्य धर्म द्रव्यकी अपेक्षासे हैं वहीं विशेषधर्म पर्यायकी अपेक्षासे हैं, वस्तु तो सामान्य विशेषात्मक है। एकको मुख्य दूसरेको गौण करके समझाया जाता है तब ही नयकी आवश्यक्ता पड़ती है। दोनो धर्मोंको एक साथ न कहा जा सक्ता न समझाया जा सक्ता है। जब सामान्यको समझाते तब विशेष गौण होजाता है। जब विशेषको समझाते तब सामान्य गौण होजाता है। वस्तु जैसी नियमरूप स्वभावसे है वैसा ही बतलाना नयोंका काम है। ऐसा आपका सिद्धांत हे विमलनाथ भगवान! परम हितकारी है। ऐसा ही स्वामीने आप्तमीमांसामें बताया है—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकांततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥

भावार्थ—नित्य अनित्य आदि अनेक धर्म यदि मिथ्या हों तो मिथ्या धर्मोंका समूह भी मिथ्या हो। परन्तु आपके मतमें मिथ्यैकान्तताका दोष नहीं होता है; क्योंकि जो नयोंका कथन विना अपेक्षा हो तो मिथ्यामई एकांतका दोष आवे। अर्थात तब ही वस्तु एकांशी ही सर्वथा सिद्ध हो जो कि बात असत्य है, परन्तु

यदि नयोंका कथन अपेक्षा सहित हो तो वह बिलकुल वस्तु-स्वरूप है व यथार्थ है तथा वे नय अवश्य प्रयोजन भूत हैं। अर्थात् अनेक स्वभावमई पदार्थको सिद्ध करनेवाले हैं। स्यात् शब्दका प्रयोग न हो या कथंचित्‌का भाव न हो और सर्वथा सामान्य रूप ही या सर्वथा विशेष रूप ही पदार्थको माना जाय तो सर्व ही कथन मिथ्या होजावे। क्योंकि वस्तु तो सामान्य विशेषरूप है।

भुजंगप्रयात छन्द।

यथा एक कारण नहीं कार्य करता, सहायक उपादानसे कार्य करता।
तथा नय कथन मुख्य गौणं करत हैं, विशेष वा सामान्य सिद्धी करत है।

उत्थानिका-यहां कोई शंका करते हैं कि सामान्य व विशेष धर्मोंकी सिद्धि किसी प्रमाणसे नहीं होती है तब नय किसतरह उन धर्मोंको बतानेवाले होंगे? उसीका समाधान करते हैं-

परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव।
समग्रतास्ति स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥६३॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(तव) आपके मतमें (परस्परेक्षान्वयभेदलिंगतः) परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षासे जो सामान्य तथा विशेषका ज्ञान होता है इसीसे ही (प्रसिद्धसामान्यविशेषयोः) भले प्रकार सिद्ध होनेवाले सामान्य तथा विशेषधर्मोंकी (समग्रता) पूर्णता या वर्तमानता एक वस्तुमें (अस्ति) है (यथा) जैसे (भुवि) इस जगतमें (बुद्धिलक्षणम्) ज्ञानस्वरूप (प्रमाणं) जो प्रमाण है वह (स्वपरावभासकं) अपने और परको दोनोंको झलकानेवाला है।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि हरएक वस्तुमें सामान्य

तथा विशेष दोनों ही स्वभाव एक ही समयमें विद्यमान हैं। यह बात ज्ञानसे सिद्ध होती है। जब हम यह जानते हैं कि यह वही है जो पहले थी तब तो इस अभेदपनेके ज्ञानसे यह वस्तु सामान्य है, वही है, द्रव्यरूप दूसरी नहीं है ऐसा सिद्ध होता है। और जब हम यह जानते हैं कि यह दूसरी दशामें दिखती है, इसकी पर्याय पहले कुछ और थी अब कुछ और होगई है, तब इस भेद-पनेके ज्ञानसे यह सिद्ध होता है कि यह वस्तु विशेषरूप है, पर्यायस्वरूप है। इस तरह सामान्य तथा विशेष दोनों ही स्वभाव एक ही वस्तुमें हरएक समय सिद्ध होते हैं परन्तु ये दोनो धर्म एक दूसरेकी अपेक्षासे ही कहे जाते हैं। अर्थात् जहां सामान्य धर्म होगा वहां विशेषकी अपेक्षा रहेगी, जहां विशेष होगा वहां सामान्यकी अपेक्षा रहेगी। इन दोनों धर्मोंके परम मैत्री है, कभी पदार्थसे अलग हो ही नहीं सक्के। यह वस्तुस्वभाव है। 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं' द्रव्यका गुण व पर्यायपना स्वभाव ही है– गुण सहभावी रहता है इसलिये सामान्य है। पर्याय क्रमवर्ती होती है इसलिये विशेष है। दोनोमेंसे एकको न मानेंगे तो वस्तुकी सिद्धि ही नहीं होसक्की है। दोनो धर्मोंका एक जगह रहना विरो-धरूप नहीं है। जैसे हमारे ज्ञानमें जब कोई मतिज्ञान झलकता है अर्थात् घटज्ञान व पटज्ञान होता है तब यही अनुभव होता है कि मैं घटको जानता हूं। अर्थात् वह मतिज्ञान अपनेको भी जान रहा है और परको भी जान रहा है। अर्थात् हरएक प्रमाणज्ञान स्व और पर दोनोंको प्रकाश करनेवाला होता है। प्रमाणका लक्षण ही परीक्षामुखमें यही कहा है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं ।

वही प्रमाण है जो ज्ञान अपनेको और अपूर्व व अनिश्चित पदार्थको भी निश्चित करे।

जैसे दीपक स्वपर प्रकाशक है वैसे ज्ञान भी स्वपर प्रकाशक है। जैसे ज्ञानमें स्व और पर दोनोंको जाननेकी शक्ति एक साथ रह सक्ती है विरोध नहीं आता है वैसे हरएक वस्तुमें सामान्य तथा विशेष धर्म रहते हैं, विरोध नहीं आता।

पंचाध्यायीमें कहा है—

स विभक्तो द्विविधः स्यात् सामान्यात्मा विशेषरूपश्च ।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात् स्वभावोऽथ गुणो हि परभावः ॥ २७ ॥

भावार्थ—पदार्थ दो प्रकारका है—सामान्य तथा विशेषरूप, उनमेंसे जिसको कहनेकी मुख्यता होगी वह मुख्य होजायगा। और जिसकी अपेक्षा न होगी वह भाव गौण होजायगा।

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥ २८२ ॥

भावार्थ—वही सत पदार्थ सत्ताकी सामान्यतासे विना भेदके एकरूप ही सदा झलकता है, उसीमें जब द्रव्य गुण पर्याय आदिके भेद किये जाते हैं तब वही विशेषरूप कहा जाता है। वस्तु सामान्य विशेषरूप भिन्न२ अपेक्षासे है और वैसा ही उसका स्वरूप झलकता है।

अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक् ।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥ ५९० ॥

भावार्थ—नय विना अपेक्षाके मिथ्या होते हैं वे ही अपेक्षा सहित सत्य होते हैं। वस्तुमें सामान्य और विशेषका अविना-

भावीपना है। जहां सामान्य धर्म है, वहां विशेष है जहां विशेष है वहां सामान्य है। उन दोनोंकी सिद्धि भिन्न २ अपेक्षासे होती है।

भुजंगप्रयात छन्द।

हरएक वस्तु सामान्य और विशेषं, अपेक्षा कृत भेद अभेदं सुलेखं।
यथा ज्ञान जगमें वही है प्रमाणं, लखे एकदम आपपर तुम बखानं ॥६३॥

उत्थानिका–शिष्य शंका करता है कि विशेष्य तथा विशेषण किसे कहते हैं। आचार्य समाधान करते हैं—

विशेषवाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम्॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–यहां यह बताते हैं कि वस्तुमें सामान्य तथा विशेष दो धर्म मौजूद हैं। जब सामान्य वाच्य होगा तब विशेष धर्म उसका विशेषण होगा। जब विशेष वाच्य होगा तब सामान्य विशेषण होगा। दोनोंका रहना एक वस्तुमें अवश्य होगा। (यतः यत् विशेष्यं च विनियम्यते) जिससे जिस विशेष्यका नियम किया जाता है वह (वचः) वचन (विशेष्यवाच्यस्य) विशेष्य जो वाच्य है अर्थात् जिसको खास करके बताना है उसका (विशेषणं) विशेषण होता है। (तयोः च सामान्यं अतिप्रसज्यते) विशेषण तथा विशेष्य दोनोंमें ही सामान्यपनेका अतिप्रसंग आजायगा, तो उसका उत्तर यह है कि नहीं आयगा (स्यात् इति विवक्षितात्) स्यात् या कथंचित्की अपेक्षासे (अन्यवर्जनम्) दूसरे अविवक्षित् अर्थात् जिसको कहनेकी अपेक्षा नहीं है उसका निषेध होजायगा (ते) यह आपका मत है।

भावार्थ—यहांपर दृष्टांतसे समझना चाहिये कि जैसे हमने सर्पको देखा और कहा कि यह सांप है, तब यह वचन और पदार्थोंसे सर्पको भिन्न करता है व अपना ज्ञान कराता है। तब औरोंसे भिन्न करनेवाला जो भाव वह तो विशेष हुआ। तथा सर्पपना सांपमें सामान्य है। बहुतसे सांप सर्प होते हैं, इसलिये यहां सर्पपना विशेषण रहा। अर्थात् सर्पमें दूसरे पदार्थोंकी भिन्नता है। इसलिये विशेषपना है व सर्पपना बहुतसे सर्पोंमें है इसलिये सामान्यपना है। दोनों ही धर्म मौजूद हैं। यहां कहनेवालेका मतलब इस वाक्यमें कि 'सर्प है' यह था कि वह सर्पकी जातिविशेषको बतावे कि यह सर्प है और कुछ नहीं है। इसलिये यह विशेष हुआ। तब ही उसमें सामान्यपना भी है, क्योंकि सर्प अनेक होते हैं। यहां सामान्य विशेषण हुआ और विशेष्य विशेष हुआ। और जैसे हमने कहा कि यह सर्प काला है। यहां उसी सर्पमें कालापना बताया है और सफेद आदिपना नहीं बताया है इसलिये कालापना विशेष हुआ तथा सर्व सामान्य विशेषण हुआ कि सर्पोंमेंसे यह सर्प काला है। जहां कालापना विशेष है वहां सर्पपना सामान्य भी है। परन्तु कहनेवालेके मतमें कालापना विशेष्यको बताना है। तब सर्पपना सामान्य उसका विशेषण होगया कि कालापना वह जो इस सांपमें है यह अभिप्राय कहनेवालेका है। यहां फिर कोई कहेगा कि जो विशेष है वही सामान्य होगया व जो सामान्य था वह विशेष होगया तो उसका समाधान यह है कि कहनेवालेकी जो अपेक्षा होती है उससे कोई विरोध नहीं आसक्ता वह अपने वचनोंसे ही जिसे वह कहना चाहता है

नियमित कर देता है। स्यात शब्द इसलिये लगाया जाता है कि जिस अपेक्षासे कहा जाय उसी अपेक्षासे समझा जाय। यह सर्प काला है इसमें स्यात शब्द लगा हुआ है कि यह सर्प काला है इस अपेक्षासे कि इसका बाहरी देखनेवाला अंग काला है, इसके दांत भी काले ही हैं यह अभिप्राय नहीं होता है। वह साप सर्वथा काला है यह मतलब नहीं है। प्रयोजन कहनेका यही है कि अनेकांत मतमें निर्बाध सर्व वचन सिद्ध होसक्के हैं, एकांत मतमें नहीं होसक्के। जो वस्तुको सर्वथा सामान्य मानेंगे उनके मतमें व जो सर्वथा विशेष मानेंगे उनके मतमें कथन बनेहीगा नहीं— हरएक वस्तु सामान्य व विशेषरूप है। दोनों सामान्य तथा विशेष धर्म वस्तुमें हैं ऐसा माननेसे ही ठीक वस्तु समझमें आयगी। जब हमने कहा कि जीव है। यहां जीवपना बताना विशेष्य है कि यह जीव है अन्य कोई नहीं है। तब इससे यह भी प्रगट है कि जीव-पना जीवोंमें सामान्य धर्म है। अर्थात् जीवमें जीवपना और अजीव पदार्थोंकी अपेक्षा विशेष है, परन्तु अन्य जीवोंकी अपेक्षा सामान्य है। अथवा जीव है इस वाक्यमें अस्तित्वपना सामान्य है तथा जीवपना विशेष है। अर्थात् जगतमें अनेक पदार्थोंकी सत्ता है। उनमेंसे जिसमें जीवपना है वह पदार्थ विशेष है। या हमने कहा कि यह जीव मानव है। इस वाक्यमें मानवपना बताना विशेष है तब जीवपना सामान्य विशेषण है कि अनेक जीवोंमें यह जीव मनुष्य है। यहां भी स्यात् शब्द जुड़ा हुआ है चाहे कहें या न कहें। यह जीव मनुष्य है। यह वचन सर्वथा कहनेसे मिथ्या होगा, यह सदाकाल मनुष्य नहीं रहना है। परन्तु इस समय इसका

शरीर मनुष्याकार है या यह मनुष्यपनेकी चेष्टा कर रहा है इसलिये यह मनुष्य है। यह जीव है यहां भी स्यात् शब्द है कि यह जीवपनेकी अपेक्षासे जीव है अजीवपनेकी अपेक्षासे नहीं है। इस-तरह हरएक वाक्य किसी अपेक्षासे कहा जाता है, उस वाक्यमें जिस किसी धर्मको मुख्य किया जाता है वह वाच्य होकर विशेष होजाता है दूसरा धर्म जो उस वस्तुमें है वह विशेषणरूप रहता है। वस्तु सामान्य विशेषरूप ही है ऐसा अभिप्राय अनेकांत मतका है सो ही यहां प्रकट किया है।

स्वामीने आप्तमीमांसामें भी वचनका यह लक्षण बताया है—

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः।
आह च स्वार्थसामान्यं, तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

भावार्थ—वचनका स्वभाव यह है कि वह जिस कथनको मुख्य करना चाहता है उसको तो स्पष्ट कहता है और दूसरे भावको जो उससे विरुद्ध हो उसको निराकरण करनेमें स्वच्छंद रहता है। जैसे कहा कि घट है, इस वचनने घटका अस्तित्व तो बताया तब यह पटादि नहीं है यह भी बताया। अर्थात् वचन स्व वाच्यको बताता है पर-वाच्यका निषेध करता है, इसलिये वचन अनेकांत होता है। यदि कोई कहे कि वचन सामान्यको ही बताता है किसी विशेषको नहीं बताता है तो ऐसा कहना आकाश-के पुष्पके समान होगा; क्योंकि विशेषके विना समान्य है ही नहीं न ऐसा वचन ही हो सक्ता है। पदार्थ सामान्य विशेषरूप है।

(नोट) इस श्लोकका भाव जैसा समझमें आया वैसा लिखा है भाव बहुत गंभीर है, यदि कुछ अन्यथा समझा हो तो

विद्वज्जन विचार करके व मूल श्लोकको व उसकी संस्कृत टीकाको विचार करके ठीक करलें व मुझे क्षमा करें।)

भुजंगप्रयात छन्द।

वचन है विशेषण उसी वाच्यकाही, जिसे वह नियमसे कहे अन्य नाही।
विशेषण विशेष्य न हो अति प्रसंग, जहां स्यात् पद हो न हो अन्य संग॥

उत्थानिका—स्यात् शब्दका फल बताते हैं—

नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणिता हितैषिणः।

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यतः) क्योंकि (तव) आपके द्वारा बताई हुई (स्यात्पदसत्यलांछिताः नयाः) स्यात् पद मई सत्य लक्षणसे चिन्हित जो नय हैं वे (रसोपविद्धाः लोहधातवः इव) रससे पूर्ण लोह धातुके समान (अभिप्रेतगुणाः भवंति) अभिप्रायको सिद्ध करनेवाली हैं (ततः) इसलिये (हितैषिणः आर्याः) आत्महितको चाहनेवाले गणधरादि देव (भवन्तं प्रणतः) आपको ही नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जैसे लोहा रसादिसे मिलनेपर या रसादि द्वारा सिद्ध किये जानेपर सुवर्णरूप होजाता है वैसे आपके द्वारा हे विमलनाथ! बताये हुये अनेक नय या भिन्न २ अपेक्षासे हरएक धर्मका कथन मोक्षहितैषी जीवको मोक्षसाधनमें पदार्थोंका सत्यस्वरूप निर्णय करानेके लिये बड़ा ही उपयोगी पड़ता है। आपका नय द्वारा कथन इसीलिये उपयोगी है कि उसमें स्यात् पदका सत्य चिन्ह लगा हुआ है। स्यात् पद बताता है कि वस्तु किसी अपेक्षासे इसरूप है, सर्वथा इसरूप नहीं है। यदि स्यात्पद नहीं

होवे तो बिना अपेक्षाके यह नय प्राणीको निश्चय व एकांतमार्ग बतानेवाला होकर उसका अहित ही करें। जैसे बिना रसादिके मिले लोहा लोहा ही रहेगा—कभी सोना नहीं बन सक्ता, वैसे बिना स्यात्-पदके नयवाद मात्र वचन विलाप ही रहेगा, कभी भी सत्य वस्तुके स्वरूपको नहीं बता सक्ता है। वस्तुका स्वरूप ही अनेकांत है, उसीको द्योतित करनेवाला यह स्याद्वाद है। इसको न लगाया जावे तो वस्तु एक धर्मरूप ही ठहरती है, जो वस्तुका स्व-रूप नहीं है। जैसे वस्तु स्यात् नित्यं, वस्तु स्यात् अनित्यं, इन दो नयरूप वाक्योंने यह सिद्ध कर दिया कि वस्तु द्रव्यार्थिकनयसे नित्य है तब वही वस्तु पर्यायार्थिकनयसे अनित्य है या सामान्यकी अपेक्षा नित्य है, विशेषकी अपेक्षा अनित्य है। यही वस्तुका स्वरूप है। यदि स्यात्को निकाल डालें और कहें कि वस्तु नित्य ही है या अनित्य ही है। अर्थात् या तो यह कहें कि वस्तु सर्वथा नित्य ही है या यह कहें कि वस्तु अनित्य ही है तो दोनों ही एकांत असत्य ठहरेंगे, क्योंकि ऐसा वस्तुका स्वरूप नहीं है। वस्तु सदा बनी रहकर भी काम किया करती है—परिणमन किया करती है। इसलिये वह नित्य व अनित्य उभयस्वरूप है। हे विमलनाथ भग-वान्! आप स्वयं विमल हैं, दोषरहित हैं, तब आपका कहा हुआ पदार्थका स्वरूप व उसके प्रतिपादनका स्याद्वादमय मार्ग दोनों ही परम माननीय, प्रमाणसिद्ध व आत्महितकारी हैं। जब हम आपनेको नित्य मानेंगे तब ही मोक्षका उपाय कर सकेंगे। उसी समय यदि हम संसार पर्यायका नाश मानेंगे तो ही हम इसके नाशका उपाय कर सकेंगे। मोक्ष अवस्थामें भी हम सदा बने रहेंगे। हम नित्य

रहेंगे ऐसा मानेंगे तब ही हम मोक्षका उपाय करेंगे। तथा हम मोक्षमें भी अकार्यकारी न होंगे। हम वहां नित्य अपने स्वभाव-पर्यायमें परिणमन करते रहकर नवीन २ अद्भुत आत्मानंदका भोग करेंगे अर्थात् स्वभाव पर्यायकी अपेक्षा अनित्य रहेंगे तब ही हम मोक्षपाना हितकर समझेंगे। इसतरह यथार्थ वस्तु स्वभावके समझलेनेसे ही मोक्षका प्रयत्न बन सकेगा व हम मोक्ष पा सकेंगे। इसलिये आपके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वादनयका सिद्धांत परम कल्याणरूप है ऐसा ही समझकर बड़े २ महान ऋषि आपको ही मन वचन कायसे सदा नमस्कार करते हैं।

स्याद्वाद ही अनेकांत साधक है ऐसा आत्ममीमांसामें भी कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकांतत्यागात् किं वृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥ १०४॥

भावार्थ-यह स्याद्वाद ही सर्वथा एकांतको हटानेवाला है कि भिन्न २ अपेक्षासे वस्तुको बतानेवाला है। यही सात प्रकारसे कहा जाता है इसीसे हेय उपादेयका ज्ञान होता है। यही मुख्य गौण कथनसे सत्यका ग्रहण व असत्यका त्याग करनेवाला है।

भुजंगप्रयात छंद।

यथा लोह रसबद्ध हो कार्यकारी,
तथा स्यात् सुचिह्नित सुनय कार्यकारी।
कहा आपने सत्य वस्तु स्वरूपं,
मुमुक्षू भविक वन्दते आप रूपं॥ ६५॥

(१४) अथ अनन्तनाथ स्तुतिः ।

अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततो भूर्भगवाननन्तजित्॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यतः) क्योंकि (त्वया) आपने (चिरं) अनादिकालसे (हृदि) अंतःकरणमें (विषंगवान्) सम्बंध किये हुए व (अनन्तदोषाशयविग्रहः) अनन्त राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंके अभिप्रायको रखनेवाले चित्तरूपी शरीरधारी (मोहमयः ग्रहः) मिथ्यात्वमई पिशाचको (तत्त्वरुचौ प्रसीदता) तत्त्व रुचिमें या सम्यग्दर्शनमें प्रसन्नताके लाभसे (जितः) जीतलिया (ततः) इसीलिये (अनंतजित् भगवान प्रभुः) आप अनंत जो मिथ्यात्व उसको जीतनेवाले सच्चे अनंतनाथ भगवान होगए।

भावार्थ-यहां भी कविने नामद्वारा भाव व प्रकाश करके श्री अनंतनाथ १४ वें तीर्थंकरकी स्तुति की है। जिसका अन्त न हो जो अनंतकालसे चला आया हो उसे मिथ्यात्व कहते हैं यह पिशाचके समान इस संसारी आत्माके भीतर बैठा हुआ है। इसका नाम अनंत इसलिये भी है कि अनंत प्रकारकी शक्तिको रखनेवाले अनेक तरहके रागद्वेष मोह भावोंका प्रचार उस मिथ्यात्वके कारण होता है। यह पिशाच जब भीतर रहता है तब इंद्रिय विषय व कषायोंकी पुष्टिपर ही दृष्टि रहती है। सांसारिक क्षणिक व अतृप्तिकारी सुख ही सुख भासता है। आत्मीक सच्चे सुखका पता ही नहीं होता। तब जैसे पिशाच गृसित प्राणी उन्मत्तवत् न करने योग्य चेष्टाएं करता है वैसे यह मोही जीव अन्याय मिथ्यात्व व अभक्ष्य सेवनमें लिप्त रहता है। शरीरके भीतर मोह करके स्त्री

पुत्रादि व सम्पत्तिके सम्बंधको ही अपना ऐश्वर्य मानता है। उनके वियोगसे अपनेको दलिद्री व दुःखी कल्पना करता है। रात दिन विषयभोगकी तृष्णामें जलता रहता है। ढूंढ़२ कर पांचों इंद्रियोंके विषयोंको सेवनेके लिये वारवार भागता है। जैसे मृग वनमें पानीके लिये भ्रमसे भटकता रहता है, परन्तु अपनी प्यासको शमन न करके उल्टा बढ़ा लेता है और अन्तमें तड़फ तड़फकर मर जाता है, इसी तरह यह मोही जीव विषयभोगकी तृष्णाको विषयभोग करते हुए भी शमन नहीं करके उल्टा बढ़ा लेता है, एकदिन मरण कर जाता है। तीव्र रागद्वेष मोहसे पाप कर्म बांधकर दुर्गति लाभ करता है। वहां भी तृष्णा आतापसे ही जलता हुआ जीवन विताता है। इस तरह अनन्तकालसे इस मिथ्यात्वरूपी पिशाचने हे अनंतनाथ ! आपकी आत्माको भी सता रक्खा था। परन्तु आप बड़े वीर थे, आपने सच्चे स्वपर तत्त्वको पहचाना, अपने आत्माको मोह पिशाचसे भिन्न जाना, और यह अनुभव कर लिया कि यह आत्मा तो अनंतज्ञान सुख वीर्यका धनी स्वभावसे परमात्मारूप ही है। इस स्वानुभवसे आपने अपने भीतर जो आत्मिक आनंद प्राप्त किया उसके बलसे आपने इस मिथ्यात्वको जीत लिया। वास्तवमें जब सम्यग्दर्शनका प्रकाश होता है तब उसके साथ ही स्वानुभव होता है। और तब ही आत्मिक आनन्दका अपूर्व स्वाद आता है। आपने तो उस मोह पिशाचको ऐसा भगा दिया और परम निर्मल क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया कि फिर वह कभी आपके पास आ नहीं सका। आप बहिरात्मासे महात्मा या अंतरात्मा होगए, आपने अनंत नामधारी मिथ्यात्वको जीत लिया। इसीलिये आप सच्चे अनंतनाथ होगए।

पंचाध्यायीमें कहा है–

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः।
प्रशांते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥३८५॥

भावार्थ–दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है तथा चित्त ठिकाने नहीं रहता है, तब भ्रम बुद्धि होजाती है, सत्यको असत्य व असत्यको सत्य मानता रहता है। जब उस दर्शन मोहका क्षय होजाता है तब मूर्छाका भी नाश होजाता है और यह जीव अनंतकालसे चले आए रोगसे छूटकर निरोगी होजाता है।

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

भावार्थ–सम्यग्दृष्टिके भीतर वह आत्मानुभव जो आत्माका ही ज्ञानविशेष है सम्यक्तके साथ ही जागृत होजाता है। इन दोनोंका अविनाभाव संबंध है। जहां सम्यक्त है वहीं आत्मानुभूति होगी, जहां आत्मानुभूति होगी वहीं सम्यक्त होगा। सम्यक्तके होते ही शुद्ध आत्माका स्वाद आ जाता है। और तब उसकी इंद्रिय सुखकी भावना मिट जाती है। जिसने यथार्थ सुखको पाया है वह क्षणिक इन्द्रियसुखमें सुखपनेकी बुद्धि कैसे कर सक्ता है?

तदत्यक्षसुखं मोहान् मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ५७५ ॥

भावार्थ–उस अतींद्रिय आतमीक सुखको मोहके कारण मिथ्यादृष्टी नहीं चाहता है, क्योंकि दर्शन मोहके पाकसे ऐसी शक्ति ही नहीं पैदा होती है, वह तो वैषयिक सुखको ही सुख मानता है, सम्यक्तके होते ही बुद्धि पलट जाती है।

पद्धरी छन्द।

चिर चितवासी मोही पिशाच, तन जिस अनंत दोषादि राच।
तुम जीत लिया निज रुचि प्रसाद, भगवन् अनन्त जिन् शंथ वाद ॥६६

उत्थानिका—उसको जीतकर फिर आपने क्या किया ?

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित्।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥६७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(भवान्) आपने (प्रमाथिनां) आत्माके स्वभावको कलुषित करनेवाले (कषायनाम्नां द्विषतां नाम) कषाय नाम वैरियोंके नाम मात्रको (अशेषयन्) नाश कर डाला और साथ ही (विशोषणं) आत्माको सुखानेवाले व संतोषित करनेवाले (मन्मथदुर्मदामयं) कामदेवके खोटे मदरूपी रोगको (समाधिभैषज्यगुणैः) आत्मध्यान रूपी औषधिके गुणोंसे (व्यलीनयत्) शमन कर डाला—बिलकुल लोप कर डाला। इस तरह वीतरागी होकर आप (अशेषवित्) सर्वज्ञ परमात्मा होगए।

भावार्थ—इस श्लोकमें दिखलाया है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी होकरके आपने संतोष नहीं मान लिया। सम्यक्त होनेके पीछे भी कामदेवका दर्प रहता है जिसके कारण लाचार होकर सम्यग्दृष्टीको भी ब्रह्मघाती अब्रह्ममें फंसना पड़ता है। यह कामका दर्प आत्माके शांत ब्रह्मभावको सुखाता है—उसको अशांत कर देता है। तथा क्रोध मान माया लोभ ये चार वैसे भी पीछा नहीं छोड़ते। ये चारों वैरी आत्मभावको सदा मैला करते हुए सम्यग्दृष्टी आत्माको भी अपने स्वात्मानुभवमें बाधक होजाते हैं। उनके कारण सम्यक्तीको भी राज्यपाट करना पड़ता है। परिग्रहका संचय करना पड़ता है।

अभिमानवश शत्रुओंका विजय करना पड़ता है। युद्धके लिये भी उद्यत होना पड़ता है। लौकिक कार्यमें साधकोंसे राग करना पड़ता और बाधकोंसे द्वेष करना पड़ता है। इसीलिये तीर्थंकर सरीखे क्षायिक सम्यग्दृष्टी जीव भी जबतक काम भावका तथा अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम गृहस्थावस्था ही में रहकर आत्मध्यानके प्रतापसे नहीं कर पाते तब तक दीर्घकाल तक भी गृहमें धर्म अर्थ व काम पुरुषार्थको साधते। जब आत्मध्यानके प्रतापसे अब्रह्म भावको व गृहमें फंसानेवाली कषायको जीत लिया जाता है तब गृहस्थका त्यागकर साधुका निर्ग्रंथपद धारण किया जाता है जिससे कि कामभाव व कषायभावके मूलक मोहनीय कर्मका जड़मूलसे नाश किया जाय। गृहवासमें वह उपाय पूर्णपने नहीं होसक्ता। हे प्रभु! आपने भी ऐसा ही किया। बहुत समयतक गृहमें रहे फिर नग्न दिगम्बर साधु होकर एकाग्र हो धर्मध्यानं व शुक्लध्यानका ऐसा दृढ़ अभ्यास किया कि उस ध्यानकी वह्निसे मोहका क्षय कर डाला। जब विषय कषाय भावके उत्पन्न करानेवाली जड़ सर्वथा कट गई और आप क्षीणमोहगुणस्थानमें एकत्ववितर्क शुक्लध्यानमें लीन हुए फिर तो आपने एक अंतमुहूर्तकी आंचसे ही ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अंतराय कर्मको नाश कर डाला और एकदमसे केवल ज्ञानसूर्यका प्रकाश कर डाला। फिर तो आप सर्वज्ञ परमात्मा अर्हन् पुज्यनीक क्षुधातृषादि अठारह दोषरहित शरीरमें रहते हुए भी अर्हंत परमात्मा होगए। धन्य हैं प्रभु! आपने अपने पुरुषार्थसे ही आत्माका कल्याण किया।

वास्तवमें जबतक अपनी स्वाधीनता पूर्णपने प्राप्त न हो

तबतक पुरुषार्थीको पुरुषार्थ करना ही चाहिये। मात्र शत्रुके पह-चाननेसे काम नहीं चलता, उसका जड़मूलसे नाश करे बिना उससे रक्षा नहीं हो सकती। आप इसीलिये केवल श्रद्धावान होकर ही नहीं बैठ रहे किंतु चारित्रका पुरुषार्थ जारी रक्खा, तब ही आप सफल हुए इसीलिये स्वामी ही ने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें कहा है कि सम्यक्तके पीछे भी चारित्रको पालना ही चाहिये। कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ ४७॥

भावार्थ—दर्शन मोहरूपी अन्धकारके चले जानेपर तथा सम्यग्दर्शनका लाभ होजाने पर व सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर साधुजन रागद्वेषको नाश करनेके लिये चारित्रको पालते हैं। वही चारित्र पुरुषार्थ है। अमृतचंद्र स्वामीने पुरुषार्थसिद्ध्युपायं ग्रन्थमें कहा है कि—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वं।
यत्र स्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥ १५॥

भावार्थ—विपरीत अभिप्रायको हटाकर व भले प्रकार अपने आत्मस्वरूपका निश्चय कर जो अपने स्वरूपसे चलायमान न होना अर्थात् उसीमें स्थिर होना सो ही पुरुषार्थकी सिद्धिका अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

पद्धरी छन्द।

कलुषत्रकारी रिपु चव कषाय, मन्मथमद रोग जु तापदाय।
निज ध्यान औषधी गुण प्रयोग, नाशे हूवे सववित् सयोग॥६७॥

उत्थानिका—कामदेवके रोग होनेपर भोगादिकी इच्छा होना संभव है तब निराकुल ध्यान कैसे किया जायगा और जब ध्यान

निराकूल स्थिर न होगा तब काम रोगका नाश कैसे हो सकेगा इस प्रश्नका समाधान करते हैं—

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृण्णासरिदार्यशोषिता।
असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा परं ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥९८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(आर्य) हे साधु (त्वया) आपने (परिश्रमाम्बुः) खेदरूपी जलसे भरी हुई व (भयवीचिमालिनी) भयकी तरंगोंकी मालाको रखनेवाली ऐसी (स्वतृण्णासरित्) अपने भीतर जो तृष्णारूपी नदी थी उसको (असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा) अंतरंग बहिरंग सर्व परिग्रहका सन्यास रूप ज्येष्ठ आषाढ़के सूर्यकी किरणोंके तेजसे (शोषिता) सुखा डाला (ततः) इसी कारणसे (तावकम्) आपको (परं) उत्कृष्ट (निर्वृतिधाम) अनंत ज्ञानादि रूप मोक्षमई तेज प्राप्त होगया।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि इन्द्रिय विषयोंकी इच्छा-रूपी नदी या तृष्णारूपी नदी जो संसारी जीवोंके भीतर बहा करती है उसमें खेदरूपी जल सदा भरा रहता है-जैसे खारी जलकी भरी नदीका जल तृप्तकारी नहीं होता है, प्यासको बुझाता नहीं है, खेदको उत्पन्न करता है वैसे यह तृष्णा भोगोंके भोगनेसे तृप्ति नहीं लाती है, उल्टा खेद व आकुलताको अधिक उत्पन्न कर देती है। इष्ट विषयकी पुनः पुनः प्राप्तिका खेद रहता है तथा वियोग हो जानेपर खेद बढ़ता है, जबतक प्राप्त नहीं होता है आकुलता रहती है, प्राप्त हुए पीछे फिर वियोग होनेपर खेद होता है। भोगते२ तृष्णा बढ़ जाती है तब नए२ विषयोंके लिये महान प्रयास करना पड़ता है। तृष्णाके वशीभूत हो घोर परिश्रम भी

करना पड़ता है। अनेक प्रकारके आरंभोंमें व देश परदेशमें गमनमें उपयुक्त होना पड़ता है इसी लिये कहा है कि जहां तृष्णा है वहां सदा ही परिश्रम है व खेद है व चिंता है तथा जैसे नदीमें तरंगें उठा करती हैं वैसे तृष्णारूपी नदीमें भयकी तरंगें सदा रहती हैं। इष्ट पदार्थोंको कोई बिगाड़े नहीं, कोई रोगादि न हो, मरण न हो, चोर चोरी न कर लेजाय, मरणके पीछे नरकादि न हो, कोई अकस्मात न होजाय इत्यादि इहलोक परलोकादि सात तरहके भयसे निरंतर अंतरंग पीड़ित रहता है। ऐसे खेद व भयसे भरी हुई तृष्णारूपी नदीको अपने वीतरागतामई तीव्र ध्यानरूपी तेजसे सुखा डाला जैसे ज्येठ आषाढ़के मासमें सूर्यकी किरणें बहुत तेज होतीं उनसे बड़ी बड़ी नदियोंका जल सूख जाता है इसीतरह अपने आतमध्यान रूपी सूर्यकी किरणोंका तेज फैलाया जिससे तृष्णाको जला डाला। तृष्णाकी उत्पत्तिका कारण परिग्रह है। इसलिये आपने सन्यास धारण करके अंतरंग बहिरंग दोनों ही प्रकारके परिग्रहका त्याग कर दिया। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि नो कषाय ये १४ प्रकार अंतरंग परिग्रह व क्षेत्र मकान वस्त्रादि १० प्रकार बाहरी परिग्रहका त्याग कर दिया, सर्व पर वस्तुसे ममता हटाई। आत्मीक आनंदका श्रद्धान किया। इंद्रिय सुख दुःख रूप है ऐसी आस्था जमाई। अपने आत्माके ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणोंको ही अपना धन जाना। अपनी आत्मानुभूति तियाको ही रमने योग्य अपनी अर्द्धांगिनी माना। जगत्में परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है ऐसा परम त्यागभाव धारण किया और एकांतमें निवासकर धर्मध्यान व शुक्लध्यानकी उत्कृष्टताको

पाकर तृष्णाके मूलभूत मोहनीय कर्मको और फिर ज्ञानवरणादि कर्मको संहार कर डाला और परम उत्कृष्ट केवलज्ञानादिका तेज प्राप्त कर लिया, जो तेज मोक्षावस्थामें सदा ही बना रहता है। परिग्रह ही आकुलताका मूल है। आपने परिग्रहको त्याग कर ही ध्यान किया इसीलिये निराकुल ध्यानके द्वारा तृष्णाका अंश मात्र भी बाकी नहीं रक्खा। ज्ञानार्णवजीमें संग त्यागको तृष्णाके जीतनेके लिये आवश्यक बताया है—

अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रंथिर्दृढी भवेत ।
विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शांतये ॥ २० ॥

भावार्थ—परमाणु मात्र भी परिग्रहकी मूर्छासे मोहकी गांठ दृढ़ होजाती है। जब तृष्णा बढ़ती है तो उसकी शांति समस्त जगतके पदार्थोंसे भी नहीं होसक्ती। इसलिये साधुपदमें परिग्रहका त्याग आवश्यक कहा है।

सर्वसंगपरित्यागः कीर्त्यते श्रीजिनागमे ।
यस्तमेवान्यथा ब्रूते स हीनः स्वान्यघातकः ॥ २२ ॥

भावार्थ—श्री जिनागममें सर्व परिग्रहका त्याग बताया गया है। जो इससे विरुद्ध कहे कि परिग्रह सहित भी ध्यानकी उत्तमता होसकेगी वह हीन भाव वाला अपना व परका घात करनेवाला है। इसलिये संयमी ऐसा होता है—

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा ।
सर्वत्राप्रतिबद्धः स्यात्संयमी संगवर्जितः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो संयमी परिग्रह त्यागी है वह चाहे निर्जन वनमें रहे चाहे जनसमुदायमें आवे व सातामें रहे या असातामें रहे वह सर्वत्र मोहसे बद्ध नहीं होता है। आपने परिग्रहका त्याग कर

दिया इसीलिये आपने तृष्णाका विजय किया यह अभिप्राय है।

पद्धरी छन्द।

है खेद अम्बु भयगण तरंग, ऐसी सरिता तृष्णा अभंग।
सोखी अभंग रविकर प्रताप, हो मोक्ष तेज जिनराज आप ॥६८॥

उत्थानिका-शंकाकार कहता है कि भगवानको जो स्तुति करते हैं उनको वे लक्ष्मी देते हैं, जो निंदा करते हैं उनको दलिद्र देते हैं तब जिनराजमें और फलदाता व कर्तारूप ईश्वरमें क्या अंतर रहा ? उसका समाधान करते हैं-

सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषन्न त्वयि प्रत्ययवत्प्रलीयते।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥६९॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(प्रभो) हे जिनेन्द्र (त्वयि सुहृत्) आपमें जो भक्तिवान होता है अर्थात् परम प्रेमसे जो आपके गुणोंको स्मरण करता है वह (श्रीसुभगत्वम्) लक्ष्मीके वल्लभपनेको अर्थात् अनेक ऐश्वर्य संपदाको (अश्नुते) प्राप्त करता है (त्वयि द्विषन्) व जो आपसे द्वेष करता है, आपकी निन्दा करता है ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव (प्रत्ययवत्) व्याकरणके नियमानुसार प्रत्ययके लोपके समान (प्रलीयते) नाशको प्राप्त होजाता है-दुर्गतिमें दुःख उठाता है। (भवान्) आप तो (तयोः अपि) उन दोनोंपर भी (उदासीनतमः) अत्यन्त ही उदासीन रहते हैं। आप तो जरा भी उनपर राग व द्वेष नहीं करते हैं (इदं तव ईहितम्) यह आपकी चेष्टा (परं चित्रं) बड़ी ही आश्चर्यकारी है।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि वीतराग सर्वज्ञ भगवान अपने आत्मीक आनंदमें मगन रहते हैं, उनका आत्मा स्वरूपकी स्थितिसे

किंचित भी विचलित नहीं होता है। जगतमें अनेक भव्यजीव तो आपकी बड़ी ही भक्ति करते हैं—खूब पूजा करते हैं और यह देखनेमें आता है कि वे लक्ष्मीवान व ऐश्वर्यवान होजाते हैं तथा जो कोई अज्ञानी आपको नहीं पहचानते हैं वे आपकी निन्दा भी करते हैं उनको जगतमें क्लेश हुआ ऐसा जाननेमें आता है। आप तो भक्तपर प्रसन्न होते नहीं, निंदा करनेवाले पर अप्रसन्न होते नहीं फिर यह क्या कारण है जो गुणानुवाद गाते हैं वे सुखी होते हैं व जो निंदा करते हैं वे दुःखी होते हैं। इसका मर्म यह है जैसा कि श्री जिनेन्द्र भगवानने बताया है। अपने अपने भावोंके अनुसार संसारी जीव पुण्य तथा पाप बांधते हैं। जब भक्ति रूप शुभोपयोग होता है तब पुण्यकर्मका मुख्यतासे बंध होता है, जब सच्चे धर्म व धर्मके नायक व धर्मके आदर्शसे द्वेष होता है तब परिणाममें अशुभोपयोग होजाता है—उससे पापका बंध होता है। यह वैज्ञानिक नियम है कि जब गर्मी होगी तब पानीका भाफ अवश्य बन जायगा। वैसे ही जब जीवके भीतर अशुद्ध भाव होंगे तब कर्मका बंध अवश्य होगा, चाहे कोई चाहे या न चाहे। इसी-तरह जब कर्मोंका उदय बाहरी निमित्तोंके अनुकूल आता है तब सुख व दुःखकी सामग्रीका संबंध प्राप्त होजाता है। इसी तरह जैसे भोजन व औषधि व रोगिष्ट पदार्थ उदरमें स्वयं पक करके निरोगता व सरोगताका फल दिखलाते हैं या मादक पदार्थ भीतर जाकर ध्यानको बावला कर देते हैं इसी तरह कर्म स्वयं पककर उदय आते हैं तब सुख तथा दुःख मोहके कारणसे अनुभवमें आता है। यह वस्तु स्वभाव है। खेती करनेसे स्वयं पकती है,

पाप पुण्य बंधनेके पीछे स्वयं पककर फल दिखलाते हैं। इस तरह संसारी जीव आप ही कर्ता तथा भोक्ता हो रहे हैं। भगवान जिनेन्द्र पूर्ण वीतराग हैं वे न किसीको सुख देते हैं न दुःख देते हैं तथापि उनकी भक्ति करनेसे हम अपना परम लाभ उठा लेते हैं। प्रभु मात्र उदासीन रहते हैं, हम उनको अपनी सेवाके कार्यमें निमित्त मान लेते हैं तथा वे बड़े भारी प्रबल निमित्त होजाते हैं जिससे हम परम पुण्यका बंध कर लेते हैं। उसीके फलसे यहां व परलोकमें ऐश्वर्यका लाभ करते हैं। कोई ईश्वर परमात्मा हमको सुख तथा दुःख देता नहीं है। ऐसा यदि मानोंगे कि कोई ईश्वर सुख देता है तो वह ईश्वर बड़ा प्रपंची हो जायगा तथा वह रागीद्वेषी होकर संसारी आत्माके समान हो जायगा। सो जो कोई वीतराग नित्यानंदमई परमात्मा होता है वह बिलकुल समभावमें रहता है। कोई प्रशंसा करो तो प्रसन्न नहीं होता, कोई निन्दा करो तो अप-सन्न नहीं होता। आप तो ऐसे ही परम उदासीन परमात्मा हैं। तथापि हम तो अपना हित आपसे कर ही लेते हैं। यही एक आश्चर्यकारी बात बाहरसे मालूम पड़ती है परन्तु वस्तुस्वभावकी अपेक्षासे यह एक साधारण नियम है। जैसे शास्त्र पढ़के हम स्वयं ज्ञान कर लेते वैसे जिनेन्द्रकी पूजन करके व उनकी स्तुति करके हम स्वयं पुण्य बांधकर या वीतराग आत्मीक भाव बढ़ाकर अपना परम हित कर लेते हैं।

श्री नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें कहा है—

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
अनंतशक्तिरात्मा यं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य मुक्तये ॥ १९७ ॥

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद् ध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥

भावार्थ—जो पुरुष उपदेश पाकर समाधान चित्त हो आत्माका ध्यान करते हैं उनको यह अनंत शक्तिवाला आत्मा मुक्ति व भुक्ति दोनों देता है। अर्हंत या सिद्धका स्वरूप ध्यानमें लेकर जो ध्यान करते हैं, यदि वे तद्भव मोक्षगामी हुए तो वे कर्म काटकर मोक्ष चले जाते हैं और यदि ऐसे न हुए तो महान पुण्य अपने विशुद्ध भावोंसे बांध लेते हैं जिससे उनको जगतके भीतर इन्द्र व चक्रवर्ती आदिके भोग प्राप्त होजाते हैं। जो सच्चे प्रेमसे ध्यान करते हैं उनके ज्ञानकी वृद्धि होती है। उनको पुण्यके बंध होनेसे आगामी लक्ष्मी, दीर्घ आयु, आरोग्य, संतोष, बलवानपना, शरीरसुंदरता, धैर्य व और भी जो जो अच्छी२ वस्तुएं हैं सो सब मिल जाती हैं। परिणामोंकी अपूर्व महिमा है। यह जीव अपने ही परिणामोंसे अपना बुरा कर लेता है व अपने परिणामोंसे अपना भला कर लेता है—परपदार्थ मात्र निमित्त कारण है—

पद्धरी छन्द।

तुम प्रेम करें वे धन लहंत, तुम द्वेष करें हो नाशवंत ।
तुम दोनों पर हो वीतराग, तुम धारत हो अद्भुत सुहाग ॥६९॥

उत्थानिका—यदि भगवान उदासीन होकर भी स्तुति किये जानेपर स्तुतिकर्ताको विशेष फल प्राप्तिमें कारण हैं तब हम क्या भगवानका महात्म्य वर्णन कर सक्ते हैं—

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(महामुने) हे महामुनि (त्वम् ईदृशः तादृशः) आप ऐसे हैं वैसे हैं (इति अयं) यह जो कुछ (अल्पमतेः मम प्रलापलेशः) मुझ अल्प बुद्धिका कथन है वह (अशेषमाहात्म्यम्) आपके संपूर्ण महात्म्यको (अनीरयन् अपि) न कह सक्ता हुआ भी (अमृतांबुधेः संपर्श इव) अमृतमई समुद्रके स्पर्श मात्रसे जैसे सुख होता है वैसे (शिवाय) मोक्ष सुख देनेमें निमित्त है।

भावार्थ-जैसे अमृतसे भरे हुए समुद्रके स्पर्शन मात्र हीसे प्राणीको सुख होता है उसमें अवगाहन होनेकी तो बात ही क्या है, उसीतरह मैं अल्प बुद्धि हूं, आपके सर्वगुणोंका यथावत् ज्ञान करनेको असमर्थ हूं तौभी जो कुछ मैं टूटे फूटे शब्दोंमें आपके गुणानुवादका एक अंश मात्र करता हूं उससे मुझे तो कल्याण ही होगा। यह मैं उसीतरह प्रतीति रखता हूं। क्योंकि आपने ही बताया है कि मुख्य श्रद्धा व रुचि है। मैं तुच्छ ज्ञानी होकर आपमें जो अपनी गाढ़ श्रद्धा रखता हूं कि आप ही सच्चे पूज्य परमात्मा हैं, आप ही वीतराग सर्वज्ञ हैं, आप परम उदासीन हैं तथापि जो आपकी श्रद्धा करते हैं उनके परिणाम निर्मल होजाते हैं ऐसा जानकर मैं आपकी भक्तिमें लगा हुआ हूं। मुझे विश्वास है कि हे महामुनि! आपकी भक्ति मोक्षमार्गमें प्रेरित करनेवाली है, आपकी भक्ति संसार समुद्रमें तारनेके लिये नौकाके समान है। आपकी भक्ति भक्तवंतको तुर्त ही आनंदको देनेवाली है। आपकी भक्ति आत्मामें अपूर्व साहस बढ़ानेवाली है। आपकी भक्ति पापके मैलको काटनेवाली है। इसतरह विश्वास करके मैं आपकी भक्ति

करता हूं। वास्तवमें आप तो गुणके समुद्र हैं, आपकी महिमा तो वचन अगोचर है। जो आपके समान ही प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं वे ही आपकी महिमाको जान सक्ते हैं या चार ज्ञानधारी गणधर मुनि कुछ एक अंश मात्र पता पासक्ते हैं। मैं तो अल्पमति व श्रुतज्ञानका धारी हूं। मैं कैसे आपके गुणोंका अंश भी समझ सक्ता हूं? ज्ञान न होते हुए भी मुझे विश्वास है कि आपकी स्तुति मेरे आत्माके लिये परम सुखदाई होगी। इस तरह परम विद्वान परम श्रद्धावान परम अनेकांतवित् स्वामी समंतभद्र आचार्यने अपनी योग्यताका परिचय देकर अपनी ही महिमा प्रगट की है।

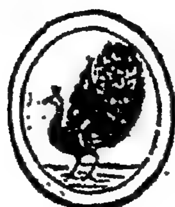
ज्ञानलोचन स्तोत्रमें श्री वादिराज मुनि कहते हैं—

संसारकूपे पतितान् सुजन्तून्, यो धर्मरज्जूद्धरणेन मुक्तिम्।
नयत्यनन्तावगमादिरूप स्तस्मैस्वभावाय नमो नमस्यात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो संसाररूपी कूपमें डूबते हुए प्राणियोंको धर्मरूपी रस्सीका सहारा देकर मुक्तिमें पहुंचा देते हैं ऐसे अनन्त ज्ञानादिके धारी अपने स्वभावमें स्थित परमात्माको वारवार नमस्कार करता हूं।

पद्धरी छन्द।

तुम ऐसे हो जैसे मुनीश, मुझ अल्पबुद्धिका कथन ईश।
नहिं समरथ सर्व माहात्म्य ज्ञान, सुखकर अमृत सागर समान ॥७०



(१५) श्री धर्मनाथ स्तुतिः।

धर्मतीर्थमनघं प्रवर्त्तयन् धर्म इत्यनुमतः सतां भवान्।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभिः शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥७१॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका—(भवान्) आपने (अनघं) दोष रहित (धर्मतीर्थं) धर्मरूपी तीर्थको (प्रवर्तयन्) प्रवर्ताया है (इति) इसीलिये (सतां) गणधर देवादि महाज्ञानी मुनियोंने (धर्म इति अनुमतः) आपको धर्म ऐसा माना है अर्थात् आपका धर्मनाथ नाम सच्चा पाया है। आपने (तपोग्निभिः) तप रूपी अग्निसे (कर्मकक्षम्) कर्मोंकी वनीको (अदहत्) जला डाला और (शाश्वतं शर्म) अविनाशी सुख (अवाप) प्राप्त कर लिया इसलिये आप (शंकरः) शंकर भी हो अर्थात् दूसरे प्राणियोंको भी सुखके कर्ता हो ऐसा साधुओंने माना है।

भावार्थ—यहां भी आचार्यने धर्म तीर्थंकरके नामकी सार्थकता दिखाई है। धर्म वही है जो निर्दोष हो, जिसमें अज्ञान व रागादि दोष न हो, जो निराकुलतासे जीवोंको संसार-समुद्रसे उद्धार करके मोक्षद्वीपमें पहुंचानेवाला हो। आपने हे धर्मनाथ! ऐसे ही धर्मका प्रचार किया, सच्चे तीर्थको चलाया इसलिये आप ही सच्चे धर्मतीर्थंकर हो, इस बातको बड़े २ महामुनियोंने स्वीकार की है। आपका जैसा नाम है वैसा ही आपमें गुण है। आपने उस धर्मसे जिसको आप दूसरोंके लिये कहते हैं अपना भी परम कल्याण किया है। आपने अनादिकालसे चली आई हुई आत्माकी घातक ज्ञानावरणादि व मोहनीय कर्मकी वनी उसको उत्तम तपकी अग्निसे दग्ध कर डाला और

अनंतज्ञान तथा अनंत आनंद जो उस वनीके भीतर छिप रहा था उसको आपने प्राप्त कर लिया। आप स्वयं सुखी हो इसीलिये आप सुखका सच्चा मार्ग बतलाकर दूसरोंको भी सुखी कर रहे हो। आपको ज्ञानीजन शंकर भी कहते हैं सो बिलकुल ठीक है, आप ही सच्चे शंकर हो। आत्मस्वरूप ग्रन्थमें ऐसी ही स्तुति की है।

येन दुःखार्णवे घोरे मग्नानां प्राणिनां दया।
सौख्यमूलः कृतो धर्मः शंकर परिकीर्तितः ॥ २९ ॥

अर्थ–जिसने भयानक दुखरूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंको दया व आनन्दका मूल ऐसा धर्म बताकर उनको आनन्द प्रदान किया है व उनका उद्धार किया है, इसलिये श्रीजिनेन्द्र आप्त ही सच्चे शंकर कहे गए हैं।

स्रग्विणी छन्द।

धर्म सत् तीर्थको आप प्रवर्तन किया।
धर्म ही आप हैं साधुगण लख लिया॥
ध्यानमय अग्निसे कर्म वन दग्ध कर।
सौख्य शाश्वत लिया सत्य शंकर अमर ॥ ७१ ॥

उत्थानिका–ऐसे धर्मनाथ भगवानने क्या किया?–

देवमानवनिकायसत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥७२

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–हे प्रभु! आप (व्योम्नि) आकाशमें (तारकापरिवृतः) तारागणोंसे वेष्ठित, (अमलः) निर्मल (अतिपुष्कलः) व संपूर्ण (शशलांछनः इव) चन्द्रमाके समान समवशरणके भीतर (देवमानवनिकायसत्तमैः) देव और मानवोंके

भव्य समूहोंसे (परिवृतः) वेष्टित और (बुधैः) गणधर देवादि साधुओंसे (वृतः) परिवारित (रेजिषे) शोभते हुए।

भावार्थ—यहां धर्मनाथ भगवानका अर्हंतपदमें तीर्थंकरपनेका महात्म्य प्रगट किया है। जैसे पूर्णमासीका चंद्रमा मेघ पटलादिसे व राहुके विमान आदिसे किसी तरह आच्छादित न होता हुआ तथा चारों तरफ अनेक नक्षत्र व तारागणोंसे वेढ़ा हुआ आकाशमें अद्भुत रमणीक शोभाको फैलाता है, इसी तरह हे भगवन्! आप इन्द्र द्वारा निर्मित समवसरणके भीतर पूर्ण ज्ञान और शांतिके समुद्र अद्भुत चंद्रमा प्रकाशमान होते हुए, आपके चारों तरफ बारह सभाएं लगी हैं उनमें देवतागण व अनेक मानवगण भव्यजीव बैठे हुए व आपकी तरफ ध्यान लगाए हुए वास्तवमें नक्षत्र व तारागणोंकी उपमा विस्तार रहे हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी इन चार प्रकार देवोंकी बहुत ही सुन्दर देवियां चार सभाओंमें विराजित हैं। अन्य चार सभाओंमें येही चार तरहके देव रत्नमई मुकुटोंको देदीप्यमान करते हुए तिष्टे हैं। एक सभामें साधुगण अपनी वैराग्यमई मुद्रासे शांतिका सागर विस्तार रहे हैं। एक सभामें सर्व आर्यिका एवं श्राविकाएं बड़ी ही भक्ति व विनयसे मौन बैठी हुई भगवानकी वाणीके सुननेकी प्रतीक्षा कर रही हैं। एक सभामें सर्व मनुष्य भव्यजीव अपने जन्मको कृतार्थ मानते व वारवार श्री जिनेन्द्रका शांत मुख अवलोकन करते हुए विराजित हैं। एक सभामें सिंह, व्याघ्र, हिरण, बैल, गाय, मोर, तोते, काग, हाथी, मुरगे, घोड़े, बकरे, ऊँट, सर्प आदि पंचेंद्रिय सेनी पशु अपनी अशुभ तिर्यंच गतिसे रक्षा पानेके लिये व भगवानका दर्शन करके

अपना नीचपना टलता जानते हुए बड़े ही निर्वैर भावसे एकचित्त हो काष्टकी बनी मूर्तियोंके समान निश्चल तिष्ठ रहे हैं। मुख्य साधु श्री गणधर देव तो आपके निकट ही हैं। इस तरहकी शोभा आप ऐसे तीर्थंकरोंकी भक्तिमें ही इन्द्र करता है। आपहीके द्वारा अद्भुत ऐसी वाणी प्रगट होती है जिसको सर्व पशु पक्षी, मानव, देव अपनी२ भाषामें समझ जाते हैं। ऐसे पूर्ण परमात्मा धर्मरूपी चंद्रमाका दर्शन हमको सदा लाभ हो। ऐसी भावना स्वामी समंतभद्रजीने की है। पात्रकेशरी स्तोत्रमें कहा है—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं।
तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ॥
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता।
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथापि संगच्छते ॥ ६ ॥

भावार्थ—इन्द्रने जो समवशरणकी रचना की है उसमें आपके विराजनेका महान व अमूल्य सिंहासन अद्भुत शोभा दे रहा है, भवाताप निवारणसे रक्षा करनेके चिह्नरूप तीन छत्र खूब देदीप्यमान हैं, चौसठ चमर देवों द्वारा ढ़रते हुए मानो निर्मल गंगा नदी ही आपकी सेवा दोनों तरफसे कर रही है। आपने तीनलोकके प्राणियोंको वश कर लिया है, वे सब बड़े२ पुरुष व नारियां आपके पास आकर एकत्र होगए हैं। इतनी सामग्रीका संगम होते हुए आप पूर्ण तरहसे वीतराग हैं—असंग हैं। क्या ही उपमा रहित अपूर्व उदासीनता है! परिग्रह और अपरिग्रह दोनोंका संग अन्य किसी साधुमें नहीं हो सक्ता परन्तु यह आपकी ही आश्चर्यकारी महिमा है जो दोनों ही बातें एक साथ चमक रही हैं।

स्रग्विणी छन्द।

देव मानव भाविकवृन्दसे सेवितं, बुद्ध गणधर प्रपूजित महाशोभितं।
जिस तरह चंद्रमा नभ सुनिर्मल लसे, तारका वेष्ठितं शांतिमय हुलसे ॥७२

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि सिंहासनादि विभूतिके होते हुए आपके वीतरागता कैसे होसक्ती है व आप हरिहरादिसे विशेष क्यों हैं इसीका समाधान करते हैं—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुरः ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(भवान्) आप (प्रातिहार्यविभवैः) सिंहासनादि आठ प्रातिहार्योंकी विभूतिसे (परिष्कृतः) अँगारित हो तथापि (देहतः अपि) शरीरसे भी आप (विरतः अभूत्) विरक्त हो। आप (नरामरान्) मानव व देवोंको (मोक्षमार्गम्) रत्नत्रयमई मोक्षमार्गका (अशिषन् अपि) उपदेश करते हुए भी (शासनफलैषणातुरः न) अपने उपदेशके फलकी इच्छासे जरा भी आतुर न हुए।

भावार्थ-सिंहासन, छत्र, चमर, शरीर प्रभा मण्डल, दुंदुभि बाजोंका बजना, पुष्पोंकी वृष्टि होना, अशोक वृक्षका निकट होना तथा दिव्यध्वनिका प्रकाश इन आठ प्रातिहार्योंसे आप शोभायमान हैं तथापि आपका राग इन पदार्थोंमें नहीं है। क्योंकि आपने मोह कर्मका तो बिलकुल क्षयकर डाला है, आप तो पूर्ण वीतराग हैं। आपको अपने शरीर हीका कुछ राग नहीं है। तब और पर कैसे होसक्ता है? यह आपकी अदभुत वीतरागता है। इन्द्र अपनी भक्तिसे समवसरणकी रचना करता है। आपको

उससे कोई प्रयोजन नहीं है और परिग्रहका सम्बन्ध तब ही होता है जब राग सहित भाव हो। सो आपके असंभव है। आपकी सारी चेष्टा ही इच्छा रहित भव्यजीवोंके पुण्य उदयकी प्रेरणासे व आपके शरीरादि नामकर्मके उदयसे होती रहती है। आपका विहार होता है। वाणीका प्रकाश होता है। तथापि आपके कुछ भी राग नहीं होता है। आपकी वाणीसे सच्चा मोक्षमार्ग भी प्रकाशित होता है। तथापि आपके भीतर यह चिंता व आकुलता व अभिमान नहीं होता है कि हमारे उपदेशसे कोई भव्यजीव सुधरें। आपको न उपदेश देनेकी इच्छा है न उपदेशके फल पानेकी इच्छा है। आप तो परम वीतराग हैं। बहुधा अल्पज्ञानी उपदेशकगण उपदेश देकर तुर्त यह चाहते हैं कि इसका कुछ फल हुआ या नहीं। यदि कोई तुर्त फल न हुआ तो उपदेश देना निरर्थक समझ बंद कर देते हैं। यह बड़ी भूल है। जैसे किसान खेतमें पानी सींचता है, बीज बोता है, यह भी जानता है विश्वास रखता है कि फल समय पाकर अवश्य लगेंगे। यदि अंतरायका उदय न हुआ। उसी तरह उपदेश दाताको साम्यभावसे सच्चा धर्मोपदेश देना चाहिये। तुर्त फलकी आशासे आतुर न होना चाहिये। जैसे बीज यदि पृथ्वीमें जमेगा और विघ्न बाधाओंसे बचेगा तो अवश्य फलदाई होगा, इसी तरह यदि उपदेश श्रोताओंके दिलोंमें जमेगा और उनका तीव्र मिथ्यात्व कषाय बाधक न होगा तो वे अवश्य सफल होंगे, मोक्षमार्गको पाकर अपना हित करेंगे। साम्यभावसे उपदेश यथार्थ करना ही वक्ताका उद्देश्य है। फलके लिये कभी आकुलित न होना चाहिये।

आप्तस्वरूपमें कहा है—

केवलज्ञानबोधेन बुद्धवान् स जगत्त्रयम् ।
अनन्तज्ञानसंकीर्णं तं तु बुद्धं नमाम्यहम् ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी बोधसे तीन जगतके प्राणियोंको ज्ञान प्रदान किया है उस अनन्तज्ञानसे परिपूर्ण बुद्ध आप्तको मैं नमस्कार करता हूं।

स्रग्विनी छन्द।

प्रातिहारज विभव आपके राजती।
देहसे भी नहीं रागता छाजती॥
देव मानव सुहित मोक्षमग कह दिया।
होय शासनफलं यह न चितमें दिया॥ ७३॥

उत्थानिका—यदि आप शासनके फलसे आतुर न भए तो आपने किसलिये विहारादि किया उसका समाधान करते हैं—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥७४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(तव मुनेः) आप प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं। आपकी (कायवाक्यमनसः प्रवृत्तयः) मन, वचन, कायकी प्रवृत्तियां (चिकीर्षया) आपकी करनेकी इच्छापूर्वक (न अभवन्) नहीं हुई (न) और न (भवतः प्रवृत्तयः) आपकी चेष्टायें (असमीक्ष्य) अज्ञानपूर्वक हुई। (धीर) हे धीर ! (तावकम् ईहितम् अचिंत्यम्) आपकी क्रियाका चिंतवन नहीं होसक्ता—आपका कार्य अचिंत्य है।

भावार्थ—तीर्थंकर भगवानके मोहका सर्वथा नाश होगया है इसलिये उनके आत्मारूपी समुद्रको रागद्वेषकी कल्लोलें आघात

नहीं पहुंचा सक्ती हैं, किंचित इच्छा नहीं होसक्ती है। तौ भी अर्हंत अवस्थामें जो मन वचन कायके योगोंका हलन चलन होता है वह कर्मोंके उदयका कारण है। आपके स्वयं तीर्थंकर नाम-कर्मका, विहायोगति नाम कर्मका, स्वर नाम कर्मका, शरीर नाम कर्मका उदय है; इन कर्मोंकी अंतरंग प्रेरणासे और बाहरमें भव्य-जीवोंके पुण्यके उदयकी प्रेरणासे आपका विहार होता है व आपका उपदेश होता है। तथा द्रव्य मनका परिणमन होता है। भाव मन जो संकल्प विकल्प रूप है वह आपके पास बिलकुल नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान व श्रुतज्ञानका भी अभाव है, मनद्वारा विचार करनेकी जरूरत नहीं है। अब वहां केवल केवलज्ञान सूर्यका प्रकाश है तब अल्पज्ञानकी कोई जरूरत नहीं है। हरएक कार्यके होनेमें या तो कर्मोंका उदय मात्र कारण होता है या उसके साथ पुरुषकी इच्छा भी कारण होती है। आपके इच्छा होना तो असम्भव है। परन्तु चार अघातीय कर्मोंका उदय विद्यमान है जो बराबर अपना काम कर रहे हैं। नाम कर्मके कारणसे ही मन वचन कायके योगोंका हलन चलन होता है। आयुकर्मसे शरीरमें स्थिति है। गोत्रकर्मसे उच्चपना प्रकट है। वेदनीय कर्मसे समवशरणादि विभूतिका संयोग है। प्रायः देखा जाता है कि हरएक मानवमें मन वचन कायकी प्रवृत्तियें विना इच्छाके भी होजातीं हैं। एक मानव मनमें संकल्प करके बैठा है कि मैं सामायिक करूंगा तथापि विना चाहे अनेक विचार मनमें उठ जाते हैं। रात्रिको सोते२ वचन निकल जाते हैं। बड़बड़ाना होजाता तथा विना चाहे श्वास चला करता है। शरीरमें भोजनका पाचन होता रस, रुधिर, मांस,-

वीर्य आदि बनता है। इन्द्रियोंमें पुष्टता होजाती या विना चाहे रोगादिक होजाते हैं। केश कालेसे सफेद होजाते हैं। जिधर जानेकी नित्यप्रति आदत हो उधर विना चाहे भी गमन होजाता है। रात्रि दिन अनगिनती शरीरकी क्रियायें हमारी विना इच्छाके होजाती है। इसी तरह पुद्गलकी शक्तिसे अनेक क्रियाएँ केवली भगवानके होजाती हैं। सर्वज्ञके भीतर त्रिकाल व त्रिलोकका ज्ञान है, इसलिये अज्ञान पूर्वक कोई क्रिया नहीं होती। वे सब जानते हैं क्या होरहा है, परन्तु उन क्रियाओंके करनेकी पहले इच्छा करें, फिर क्रिया हो यह क्रम अनंतबल धारी केवलीमें आवश्यक नहीं है। हम अल्पज्ञानी अल्पबली हैं, हमारे विचारमें तीर्थंकरकी महिमा नहीं आसक्ती है। तौभी तीर्थंकरकी प्रवृत्ति कर्मोंके उदय होनेके कारण असम्भव नहीं है, यह पूर्णपने निश्चित है।

तीर्थंकरका स्वरूप अनगारधर्मामृतमें पं० आशाधरजी कहते हैं—

> यो जन्मान्तरतत्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं ।
> श्रेयो मार्गमपास्य घातिदुरितं साक्षादशेषं विदन् ॥
> सद्यस्तीर्थंकरत्वपवित्रमगिरा कामं निरीहो जगत् ।
> तत्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तमःसेव्यताम् ॥१५॥२

भावार्थ—जिसने पूर्वजन्मके आत्मतत्त्वकी भावनाके द्वारा होनेवाले ज्ञानसे स्वयं मोक्षमार्गको जाना और ध्यानके बलसे सर्व घातियाकर्मोंका नाश करके साक्षात् सर्व पदार्थोंको जान लिया और तीर्थंकर नाम विशेष पुण्यकर्मके उदयसे प्रगट हुए अपनी वाणीके द्वारा विना इच्छाके ही जगतको सच्चे तत्त्वका उपदेश किया वही भगवान सर्वसे श्रेष्ठ आप्त परमात्मा है। मोक्षार्थियोंको उनहीकी सेवा करनी उचित है।

स्रग्विणी छन्द।

आपकी मन वचन कायकी सब क्रिया।
होय इच्छा विना कर्मकृत यह क्रिया ॥
हे मुने ज्ञान विन है न तेरी क्रिया।
चित नहीं करके मान अद्भुत क्रिया ॥ ७४॥

उत्थानिका–जैसे दूसरे मनुष्योंकी काय आदिकी प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक देखी जाती है तैसे भगवानके भी होनी चाहिये ऐसा कहनेवालेका समाधान करते हैं—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ सह भाषाटीका–(यतः) क्योंकि आपने (मानुषीं प्रकृतिं) साधारण मनुष्यके स्वभावको (अभ्यतीतवान्) उल्लंघन कर लिया है। तथा (देवतासु चापि) जगतके सब देवोंमें भी आप पूज्य हैं (नाथ) हे नाथ! (तेन) इस कारणसे आप (परम देवता असि) सर्वोत्कृष्ट देव हैं (जिनवृष) हे धर्मनाथ जिनेन्द्र! (श्रेयसे) मोक्षके लिये (नः प्रसीद) हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये।

भावार्थ–यहां यह बताया है कि हे श्री धर्मनाथ भगवान! आप साधारण मनुष्य नहीं रहे, आप तो परमात्मपदमें होगए, आपकी क्रिया साधारण मानवोंसे नहीं मिल सक्ती है। साधारण मानव मति, श्रुतज्ञानी व अल्पबली, इन्द्रिय द्वारा काम करनेवाले, दिनरात इच्छावान् कषाय ग्रसित होते हैं। आप पूर्ण केवलज्ञानी हो, अनंतबली हो, अतींद्रिय ज्ञानसे काम करनेवाले हो, दिनरात इच्छा रहित हो, कषायको चूर्ण करके परम वीतराग हो। आप

तो योगियोंके भी ईश्वर हो। बड़े बड़े योगी आत्मध्यानके-बलसे अनेक ऋद्धि सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। आत्मध्यानकी ऐसी ही कोई अपूर्व महिमा है, तब आपमें यदि इच्छा विना आपके योग द्वारा कुछ क्रियाएं हों व आप साधारण मानवोंके समान विना भोजनपान किये व निद्रा लिये सदा ही जागृत रहें व स्वरूप मस्त रहे तो इसमें कोई अर्थ नहीं है। आपके लाभांतराय कर्मका नाश होगया है इसलिये आपके शरीरको पुष्टिकारक आहारक वर्गणाका नित्य आपके शरीरमें प्रवेश होता है जिससे आपके शरीरकी स्थिति रहती है। आप अनंत वली हैं, आपको यह निर्बलता कभी मालूम नहीं हो सक्ती है कि हम भूखे हैं। आप स्वरूपमें सन्मुख हो रहे हैं इसलिये आप ग्रास चलाकर खानेका उपयोग ही नहीं कर सक्के हैं। न आप भिक्षावृत्ति करके साधुके समान गोचरीको जासक्के हैं। इन हीन क्रियाओंकी आपके लिये कोई जरूरत नहीं है। आप जब वारहवें गुणस्थानमें थे तब ही शरीरके धातु उपधातु बदलकर शुद्ध स्फटिक समान व कर्पूरके समान होगए व आपका शरीर इतना हलका होगया कि सदा ही आकाशमें अंतरीक्ष रहता है। उसको आधारकी जरूरत नहीं है। आपकी महिमा योगियोंसे भी अगाध है। जगतमें चार प्रकारके देव हैं वे सब ही आपको पूजते हैं। आप तो मनुष्योंकी बात क्या देवताओंसे भी अधिक हैं। आपमें देवताओंके समान भी कभी भूख प्यास नहीं लगती है, न आपके कंठमें अमृत झरनेसे तृप्ति होती है। फिर सब देवता चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानसे अधिक नहीं पासके, आप तो तेरहवें सयोग केवली

जिन गुणस्थानमें हैं। देवताओंका मरण होता है, आप तो जन्म मरणको जीत चुके हैं, आप तो मोक्षरूप हैं। इसलिये आप सर्वोत्कृष्ट देवोंके देव हैं। आपको सर्व ही बुद्धिमान योगी महात्मा चक्रवर्ती इन्द्रादि वारवार पूजते हैं व आप कीसी अवस्था पानेकी भावना भाते हैं। हे धर्मनाथ स्वामी! मैं भी यही चाहता हूं कि आपके प्रसादसे व आपके जीवनका अनुकरण करनेसे मुझको भी मोक्षकी प्राप्ति हो। मैं भी आपके समान स्वाधीन होजाऊं।

पात्रकेसरी स्तोत्रमें कहा है:-

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजामतीतोऽपि स- ।
मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्वालिशैः ॥
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता ।
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

भावार्थ-हे भगवन्! आप एक महान् पुरुषोत्तम हो, आप साधारण मानवोंकी प्रकृतिको उल्लंघन कर गए हो। तौभी जो अज्ञानी मानव हैं वे आपकी मनुष्य ही मानकर स्तुति करते हैं। मनुष्योंके गर्भके समान आपका गर्भ नहीं होता है। आपके गर्भमें आनेसे माताको कष्ट नहीं होता है। आप सीपीमें मुक्ता समान गर्भमें विराजते हैं। मनुष्योंमें रागद्वेष व अल्पज्ञता है। आप वीतराग सर्वज्ञ हैं। तथा मानवोंमें कर्म शेष हैं इससे वे जन्ममरणके दुःख भोगते हैं, आपने उन कर्मोंका ही क्षय कर डाला है जिससे जन्म मरण हो। कहां आप कहां साधारण मानव? आपकी परमात्म अवस्था अपूर्व ही स्वभावको रखनेवाली है।

स्रग्विणी छन्द।

आपने मानुषी भावको लांघकर, देवगणसे महा पूज्यपन प्राप्तकर।
हो महादेव आपी परम नाथजी, दीजिये मोक्षपद हाय श्री धर्मजी ॥

(१६) श्री शांतिनाथ स्तुतिः ।

विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशांन्तिम् ।७६।

अन्वयार्थ सह भाषाटीका–(यः) जिस (अप्रतिमप्रतापः) महान् प्रतापशाली (राजा) चक्रवर्तीने गृहस्थ अवस्थामें (चिरं) दीर्घकालतक (परतः) शत्रुओंसे (प्रजानां रक्षां विधाय) प्रजाकी रक्षा करी (पुरस्तात्) फिर पीछे साधु हो (दयामूर्ति इव) दयाकी मूर्ति होकर अर्थात् परम दयावान् होकर (शांतिः मुनिः) वीतरागी शांतिनाथ मुनिने (स्वतः एव) अपने ही ध्यानके पुरुषार्थसे (अघशांतिम् व्यधात्) अपने पापोंकी शांति की।

भावार्थ–यहांपर श्री शांतिनाथ भगवानका नाम भी सार्थक है ऐसा कवि दिखलाते हैं। श्री शांतिनाथ तीर्थंकर कामदेव, चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर तीन पदके धारी थे। आपने दीर्घकाल तक राज्य किया। भारतके छहों खण्डोंपर साम्राज्य चलाया। उससमय आपने ऐसा अपना प्रताप फैलाया कि कोई आज्ञासे विमुख नहीं रहा। तथा सर्व प्रजाको इसतरह पाला कि उसको शत्रुओंसे बचाकर उनको सुख व शांति भोगनेके परम सहायक हुए। यद्यपि आप गृहस्थमें भी सम्यग्दृष्टि थे परन्तु जहांतक प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय था वहांतक गृहको कारावास व संकल्प विकल्पोंका स्थान जानते हुए भी वे गृह त्याग नहीं कर सके थे। जब आत्मानुभवके अभ्याससे मुनिके चारित्रकी विरोधी कषाय उपशम होगई तब आप सर्व परिग्रह त्यागकर साधु होगए। उस समय आपकी मूर्ति मानों दयारूप ही बनगई। आप त्रस स्थावर सम्पूर्ण जीवोंके

रक्षक होगए। परिणाममें भी हिंसात्मक भाव नहीं, प्रवृत्तिमें भी हिंसा नहीं, परम दया भावसे भूमि निरखकर चलते, प्राशुक रौंदी भूमिपर दिनके प्रकाशमें ही चलते। रात्रिको एक स्थल रहकर ध्यानमें मग्न रहते। भले प्रकार अहिंसाव्रत पालकर आपने खुब तप किया। तपकी दशामें मौन रक्खा। मात्र कल्याणके ही कार्यमें निरत रहे। इस तरह आपने अपने पापोंको शांत कर दिया। और साधुपदमें वहुत उन्नति की। इस तरह भगवतका शांति जिन नाम यथार्थ ही है। सारसमुच्चयमें कहते हैं—

सम्पन्नेष्वपि भोगेषु महतां नास्ति गृद्धता।
अन्येषां गृद्धिरेवास्ति शमस्तु न कदाचन ॥ १३५ ॥
षट्खंडाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थिता ॥ १३६ ॥

भावार्थ—अनेक भोगोंसे पूर्ण होनेपर भी महान पुरुष उनमें लोलुपता नहीं रखते हैं। दूसरे साधारण पुरुषोंको तो गृद्धता हो जाती है—उन्हें कभी शांति नहीं मिलती है। चक्रवर्ती सरीखे महान पुरुष जो षट्खंड पृथ्वीके भोक्ता होते हैं, पृथ्वीको व सर्व भोगोंको तृणके समान त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा लेलेते हैं।

नाराच छन्द।

परम प्रताप धर जु शांतिनाथ राज्य बहु किया।
महान शत्रुको विनाश सर्व जन सुखी किया ॥
यतीश पद महान धार दया मूर्ति बन गए।
आप हीसे आपके कुपाप सब शमन भए ॥ ७६ ॥

उत्थानिका—भगवानने राज्य अवस्थामें जैसी विजय की वैसी ही विजय साधुपदमें की, ऐसा कहते हैं—

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृपः सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥७७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यः नृपः) जिस महाराजने (शत्रुभयंकरेण चक्रेण) शत्रुओंको भयदाई चक्रके प्रतापसे (सर्वनरेन्द्रचक्रम्) सर्व राजाओंके समूहको (जित्वा) जीतकर, चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था (पुनः) पश्चात् साधुपदमें (समाधिचक्रेण) आत्मध्यानरूपी चक्रसे (दुर्जयमोहचक्रम्) जिसका जीतना कठिन है ऐसे मोहके चक्रको (जिगाय) जीत करके (महोदयः) महानपनेको प्राप्त किया।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि जो लौकिक कार्योंमें वीर होता है वही परमार्थमें भी वीर होता है। श्री शांतिनाथने भरतक्षेत्रकी छः खण्ड पृथ्वी सुदर्शन चक्ररूपी दिव्य शस्त्रके प्रभावसे वश की और चक्रवर्ती पदका निःकंटक राज्य किया। तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंपर अपना आधिपत्य जमा था। वही सम्राट् जब वैराग्यवान हुए तब साधुपदमें प्रमाद भाव त्यागकर निश्चल हो ऐसा एकाग्र आत्मध्यान किया कि जिसके प्रतापसे अनादिकालसे चले आए हुए व संसारमें जीवको भ्रमणका मूल कारण ऐसे मोहरूपी शत्रुका संहार कर डाला। प्रभु क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ हुए और दसवें गुणस्थानके अन्तमें मोहका एक परमाणु भी अपने साथ शेष नहीं रक्खा। मोहका नाश होते ही और कर्मकी सेना तुर्त जीत ली जाती है। एक अंतर्मुहूर्त क्षीण मोह नाम बारहवें गुणस्थानमें विश्राम करके प्रभुने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मोंका भी एक साथ क्षय कर डाला और तेरहवें सयोग

केवलि जिन गुणस्थानमें पहुंच कर परमात्मा होगए। वास्तवमें वीतराग विज्ञानमय ध्यानमें अपूर्व शक्ति है। बड़े २ पाप ध्यानसे गल जाते हैं। इस ध्यानमें वह शक्ति है जो अन्तर्मुहूर्त तक लगातार होजावे तो उतनी ही देरमें यह जीव केवलज्ञानी होसक्ता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

ध्यातोर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये।
तद् ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७ ॥

भावार्थ—जो अर्हत व सिद्ध रूपसे अपने आत्माका ध्यान करें और वह तद्भव मोक्षगामी हो तो वह ध्यान मुक्ति देता है नहीं तो उस ध्यानके होते हुए जो महान पुण्य बन्ध होता है उससे दूसरे भव्यजीवको अनेक भोगोंकी प्राप्ति होती है।

नाराच छन्द।

परम विशालचक्रसे जु सर्व शत्रु भयकरं,
नरेन्द्रके समूहको सुजीत चक्रधर वरं।
हुए यतीश आत्मध्यान चक्रको चलाइया।
अजेय मोह नाशके महाविराग पाइया ॥७७॥

उत्थानिका—सराग व वीतराग अवस्थामें भगवान्ने कौनसी लक्ष्मी पाई सो कहते हैं—

राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥७८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यः राजसिंहः) जो परम प्रतापशाली राजसिंह (राजसुभोगतन्त्रः) राजाओंके महा मनोहर भोगोंके भोगनेमें स्वाधीन होते हुए (राजसु) राजाओंके मध्यमें (राजश्रिया) चक्रवर्तीपदोंकी लक्ष्मीसे (रराज) शोभते हुए (पुनः)

फिर जब आपने मोह नाश करके केवलज्ञान पाया तब (आत्मतंत्रः) अपने स्वरूपमें मगन होते हुए आप (देवासुरोदारसभे) सुर असुरोंकी बड़ी सभाके भीतर, (अर्हन्त्यलक्ष्म्या) अर्हन्तपदकी लक्ष्मीसे (रराज) शोभते हुए।

भावार्थ—यहां पर भी शांतिनाथ भगवानकी वीरताको झलकाया है कि स्वामी जब चक्रवर्ती पदमें थे तब आप नौनिधि चौदह रत्नके स्वामी थे। निःकंटक व पूर्ण स्वतंत्रतासे न्याय पूर्वक पंच इन्द्रियोंके भोगोंको भोगते थे। उस समय राजाओंकी सभा लगती थी तब बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा आपकी विनय करते हुए विराजते थे। उनके मध्यमें आप सिंहासन छत्रादि राज्य विभूतिके विराजित होते हुए बड़ी ही शोभाको विस्तारते थे। जब आपने अपने ध्यान रूपी सुदर्शन चक्रके प्रतापसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहनीय इन चार कर्मोंका क्षय किया तब आप परम स्वाधीन होगए। आपको आत्मीक आनंदकी विभूतिके निरन्तर भोगनेमें कोई भी विघ्न नहीं बाकी रह गया, बस आप स्वतंत्रतासे आत्म रसके पानमें नित्य ही मग्न होते भए। आपकी अद्भुत वीतरागता व केवलज्ञान महिमासे मोहित हो इन्द्रादिक देवोंने समवशरणकी रचना की उसमें सिंहासन छत्र चमरादि आठ प्रातिहार्य व अनेक शोभा तीर्थंकरपदकी द्योतक रची। बारह सभाएं भी बना दीं। अपूर्व शोभासे मोहित हो सर्व ही देव—कल्पवासी, भवनवासी, व्यन्तर व ज्योतिषी तथा अन्य मानव पशु सब ही बिना किसी भय व संकोचके आते भए और सभाओंमें बैठते भए। उन सबके मध्यमें आप अर्हतपद-

की लक्ष्मीसे विभूषित हो अपूर्व शोभा विस्तारते हुए। वास्तवमें अर्हंतपदकी महिमा वचन अगोचर है। आत्मस्वरूपमें कहा है:—

शुद्धःस्फटिकसंकाशं स्फुरन्तं ज्ञानतेजसा।
गणैर्द्वादशभिर्युक्तं ध्यायेदर्हन्तमक्षरं ॥५६॥
कल्याणातिशयैराढयो नवकेवललब्धिमान्।
समस्थितो जिनो देवः प्रातिहार्यपतिः स्मृतः ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जिसका शरीर शुद्ध स्फटिकके समान प्रकाशमान है, ज्ञानरूपी तेज जिनके भीतर झलक रहा है, जिनका आत्मा अविनाशी है, जो बारह सभाओंसे युक्त है ऐसे अर्हंतका ध्यान करो, जो अनेक अतिशयोंसे विराजित है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त व क्षायिक चारित्र इन नव केवल लब्धियोंसे विभूषित हैं, जो पूजनीय जिनेन्द्र देव प्रातिहार्य सहित समभावमें स्थित हैं, उनका ध्यान करो।

नाराच छन्द।

राजसिंह राज्यकाय भोग या स्वतंत्र हो।
शोभते नृपोंके मध्य राज्य लक्ष्मि तंत्र हो॥
पायके अर्हंत लक्ष्मि आपमें स्वतंत्र हो।
देव नर उदार सभा शोभते स्वतंत्र हो ॥ ७८ ॥

उत्थानिका—और भी सराग व वीतराग अवस्थामें भगवानने क्या किया—

यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधिति धर्मचक्रम्।
पूज्ये मुहुः प्रांजलि देवचक्रं ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम्॥७९

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यस्मिन्) जिस शांतिनाथ

भगवानमें (राजनि) राज्य अवस्थामें (राजचक्रं) राजाओंका समूह (प्रांजलि अभूत) हाथोंको जोड़े हुए सामने खड़ा रहता था, (मुनौ) साधु अवस्थामें (दयादीधितिधर्मचक्रम्) दयामई किरणोंका धारी रत्नत्रयमई धर्मरूप चक्र वश होगया। (पूज्ये) पूजनीय अर्हंतपदमें (देवचक्रं) देवोंका समूह (मुहुः) वार २ हाथ जोड़े हुए उपस्थित रहा तथा (ध्यानोन्मुखे) चौथे शुक्ल-ध्यानको ध्याते हुए (ध्वंसिकृतान्तचक्रम्) चार अघातिया कर्मोंका समूह नाश होकर मोक्षरमा आपके सामने खड़ी होगई।

भावार्थ—यहांपर श्री शांतिनाथ भगवानकी अपूर्व महिमाका वर्णन किया है। शांतिनाथ भगवान ऐसे प्रतापशाली थे कि जीवनभर सदा ही स्वाधीन व दूसरोंसे पूजनीक रहे। जिस समय आप चक्रवर्ती थे उस समय आपकी सभामें राजाओंके समूह हाथ जोड़े खड़े रहते थे। जब आप मुनि हुए तब अहिंसामई रत्नत्रय धर्मने आपका स्वागत किया। अर्थात् आपने मुनिपदका चारित्र बहुत ही उत्तम प्रकारसे पाला। मन, वचन, कायसे अहिंसाधर्मको पालते हुए न तो क्रोधादि कषायोंसे अपने आत्माको मलीन किया और न किसी जीवके प्राणोंकी अरक्षामें प्रमाद किया। सांगोपांग मुनिधर्मको पाला। उस समयके वीतराग ध्यानके प्रभावसे जब हे प्रभु! आप पूज्यनीक अरहंत हुए और समवशरणमें विराजे तब देवोंका समूह आपके सामने वारवार आकर हाथ जोड़े नमस्कार करके खड़ा रहा। और जब आपने मोक्ष लक्ष्मीके लेनेके लिये व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका चौथा शुक्लध्यान आराधन किया तब उसके प्रभावसे आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार शेष अघातिया कर्मोंको भी नाश

किया तब मोक्षलक्ष्मी स्वयं प्रभुके सामने आकर उपस्थित होगई। इस श्लोकमें कविने प्रभुके जीवनका अच्छा वर्णन कर दिया है। प्रभुने धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ साधन कर लिये, राज्य करते हुए चक्रवर्ती व कामदेव पदमें सर्वसे अधिक उत्कृष्ट अर्थ व काम पुरुषार्थ साधा, मुनि पदमें सर्वोत्कृष्ट धर्म साधा, केवली पदमें मोक्षको भी सिद्ध कर लिया। आपके इस कथनसे यह शिक्षा मिलती है कि हरएक बुद्धिमान मानवको इस संसारके क्षणिक भोगोंमें लुब्धायमान न होना चाहिये। किन्तु आत्माके अविनाशी सुख पानेका पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे यह आत्मा सदाके लिये परम सुखी व स्वाधीन होजावे। फिर कभी जन्म मरणके प्रपंचमें न पड़े। सारसमुच्चयमें कहा है:-

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम्।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥ २२४ ॥

भावार्थ-उन ही मानवोंका जीवन धन्य है जो इस असार संसारसे चित्तमें वैराग्य धरते हैं-जो मोक्षके अतीन्द्रिय सुखके इच्छुक हैं व जो सर्व परिग्रहके त्यागी हैं।

नाराच छंद।

चक्रवर्ति पद नृपेन्द्र चक्र हाथ जोडिया।
यतीश पदमें दयार्द्र धर्मचक्र वश किया ॥
अर्हन्त पद देव चक्र हाथ जोड नत किया।
चतुर्थ शुक्लध्यान कर्म नाश मोक्ष वर लिया ॥ ८० ॥

उत्थानिका-स्तुतिकार स्तुतिके फलकी चाहना करते हैं-

स्वदोषशान्त्याविहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥८०

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(भगवान् शांतिः जिनः) परम ऐश्वर्यवान इन्द्रादिसे पूज्य श्री शांतिनाथ जिनेन्द्र (स्वदोषशांत्या विहितात्मशांतिः) आपने अपने रागादि दोषोंको क्षय करके अपने आत्मामें पूर्ण वीतरागता प्राप्त की है। (शरणं गतानाम् शांतेः विधाता) व जो आपकी शरणमें जाते हैं उनको आपके द्वारा शांति प्राप्त होजाती है (शरण्यः) आप सर्व रक्षकोंमें परम शरण हैं (मे) मुझे (भवक्लेशभयोपशान्त्यै भूयात्) संसारसे व दुःखोंसे व सर्व भयोंसे रक्षित होनेमें निमित्त कारण हूजिये।

भावार्थ-श्री समन्तभद्राचार्यने श्री शांतिनाथ भगवानका नाम सार्थक करते हुए स्तुति करके अपने कल्याणकी भावना की है। भगवानका नाम वास्तवमें शांतिनाथ है। जैसे परम शीतल क्षीर सागरके पास जो जाता है वह शांति पाता है, आताप मिटाता है, उसका मन प्रफुल्लित होजाता है, उसी तरह शांतिनाथ भगवान स्वयं सुखशांतिके सागर हैं क्योंकि आपने अपने आत्मध्यानके बलसे वे सर्व रागद्वेषादि दोष निकालकर फेंक दिये जो आत्म-शांतिमें बाधक थे। आपने पूर्ण वीतरागता व पूर्ण स्वाभाविक आनंद प्राप्त कर लिया। तीन लोकमें यदि कोई ऐसी शरण ढूंढे जहां जानेसे उसका भव आताप मिटे तो वह आप ही हैं। आपके सिवाय कोई भी पूर्ण वीतराग नहीं है, जिसकी उपासनासे पूर्ण वीतरागताका आदर्श मिल सके। तब जो कोई देव, मानव या पशु आपकी शरणमें आता है, आपका ध्यान करता है, आपकी पूजा करता है, आपका स्तवन करता है,

आपका नाम जपता है, उन सबको स्वयं शांति मिलजाती है। आप तो स्वयं वीतराग हैं, किसी भक्त पर प्रसन्न नहीं होते परन्तु परिणामोंके भीतरसे रागादि मैल हटानेके लिये व वैराग्य भाव जागृत करनेके लिए आपका गुण स्मरण व नाम जपन व आपकी शांति मुद्राका दर्शन ये सब निमित्त कारण हैं। जैसे शीतल समुद्रके स्वयं विना चाहे भी जो उस समुद्रके तट पर जाता है उसको शांति मिलजाती है उसी तरह आपके विना चाहे हुए भी सच्चे भक्तोंको स्वयं सुख शांति मिलजाती है। मैं भी चाहता हूं कि आपका गुण स्तवन करनेसे मेरा यह रागद्वेष मोहरूप संसार नष्ट होजावे। तब उनके निमित्तसे जो कर्मोंका बन्ध होना था सो न होवे तथा कर्मोंके उदयसे जो जन्म मरण रोग शोक इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगादिके क्लेश होते हैं सो न होवें व मेरा भय भी मिट चला जावे, मुझे अपने अविनाशी आत्माकी पक्की पहचान हो जावे। मैं उसीमें विश्रांति लूं जिस आत्माको कोई भी भय नहीं है जो कि किसीके द्वारा भी स्वभावका त्याग नहीं कर सक्ता है। आत्मामें विश्रांति पाकर परम सुखी रहूं यही भावना श्री समंतभद्राचार्यने की है। ज्ञानलोचनस्तोत्रमें वादिराजजी कहते हैं—

हिंसाऽक्षमादिव्यसनप्रमादकषायमिथ्यात्वकुबुद्धिपात्रम्।
सदच्युतं मां गुणदर्शनेन पातुं क्षमः को भुवने विना त्वाम्॥ ३२॥

भावार्थ-हे प्रभु! मैं हिंसा, असहनशीलता, द्यूतादि व्यसन, प्रमाद, क्रोधादि कषाय, मिथ्यात्व व कुबुद्धिका पात्र हूं। सम्यग्दर्शन गुणसे भी शून्य हूं, ऐसे मुझ पापीको इस लोकमें आपके विना और कौन रक्षा करनेको समर्थ है?

नाराच छन्द।

रागद्वेष नाश आत्मशांतिको बढ़ाइया।
शरण जु लेय आपकी वही सु शांति पाइया॥
भगवन् शरण्य शांतिनाथ भाव ऐसा है सदा।
दूर हों संसार क्लेश भय न हो मुझे कदा॥ ८०॥

---

(१७) कुन्थुनाथ स्तुतिः।

कुंथुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुंथुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशांत्यै।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(कुन्थुः जिनः) कुन्थुनाथ तीर्थंकर (त्वं) आप (पुरा) पहले गृहस्थावस्थामें (क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः भूत्वा) सुदर्शन चक्रको हाथमें रखने हुए बड़े बड़े राजाओंके ईश्वर चक्रवर्ती हुए फिर साधु होकर (कुंथुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः) बहुत ही छोटे त्रस जन्तु कुन्थु आदि जीवोंको लेकर सर्व जीव मात्रपर पूर्ण दया करते हुए अहिंसाधर्मके पालनेमें एक तान रहे। फिर अरहंत होकर (ज्वरजरामरणोपशान्त्यै) जन्म जरा मरण आदि रोगोंकी शांतिके लिये व (भूत्यै) मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये (इह) इस जगतमें (धर्मचक्रं) रत्नत्रयमई धर्मचक्रको (वर्तयसिस्म) प्रवर्तन किया।

भावार्थ-यहां श्री कुन्थुनाथ तीर्थंकरका नाम सार्थक करते हुए स्वामीने स्तुति की है। प्रभु श्री कामदेव व चक्रवर्ती-पद तथा तीर्थंकर तीनों पदोंके धारी थे। जबतक प्रभु गृहस्थमें रहे तबतक सुदर्शन चक्रके प्रतापसे भरतकी छः खण्ड पृथ्वीको विजय किया तथा बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओंने आपको

अपना स्वामी माना। आप क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। आपको यह पूर्ण विश्वास था कि गृहस्थके इन्द्रिय सुखोंसे कभी कोई मानव तृप्ति नहीं पासक्ता है। आप रात दिन आत्माकी भावना करते रहे, परंतु जबतक प्रत्याख्यानावरण कषाय जो पूर्ण संयममें विराधक है नहीं उपशमन हुआ तबतक आप श्रावक पदमें ही धर्म साधन करते रहे। फिर आपने बिना जरासा भी मोह किये जीर्ण तृणवत् सर्व परिग्रहका त्याग कर दिया। जिस तरह वस्त्राभूषण रहित नग्न पैदा हुए थे उसी तरहं दिगम्बर होके व मौन सहित पूर्ण दया पालते हुए मुनिपदमें विहार करते हुए तप किया। अपने त्रस स्थावर सर्व प्राणियोंकी भले प्रकार रक्षा की। त्रस प्राणियोंमें कुंथु जीव बहुत ही छोटा होता है जिसकी रक्षा करना कठिन है वह भी आपकी दयाका पात्र होगया। आपने परिणामोंमें भी कभी कोई कषायभाव नहीं किया। इस तरह मुनि अवस्थामें पुरुषार्थ करके आपने अरहंत पद प्राप्त किया। आपका हेतु यही रहा कि जन्म जरा मरण रोग सब शांत हो और आत्माको स्वाधीनता तथा मोक्षसुख प्राप्त हो। अपने लिये भी आपने यही हेतु रक्खा तथा दूसरोंके भी इसी हेतुको सिद्ध करनेके लिये आपने उसी धर्मका प्रचार किया जिस धर्मके ऊपर चलकर आपने अरहंत पद पाया था। आपके इस अद्भुत पुरुषार्थ व दया भावके कारण हम आपकी स्तुति करते हैं। आप्तस्वरूपमें जिनेन्द्रकी ऐसी स्तुति की गई है—

क्षीणचिरन्तनकर्मसमूहो, निष्ठितयोगसमस्तकलंकः।
कोमलदिव्यशरीरसुभासः, सिद्धिगुणाकरसौख्यनिधिश्च॥ ८२॥

भावार्थ—परम प्रभुने अनादिकालसे बंधे हुए कर्मोंके समूहोंको क्षय कर डाला है। तथा सर्व ध्यानकी सामग्रीसे जो परिपूर्ण हैं, जिनका शरीर अत्यन्त कोमल व दिव्यरूपसे प्रकाशमान है, जो पवित्र गुणोंकी खान व सुखके सागर हैं।

छन्द त्रोटक।

जय कुंथुनाथ नृप चक्र धरं, यति हो कुन्थ्वादि दयार्द्र परं।
तुम जन्म जरा मरणादि शमन, शिव हेतु धर्म पथ प्रगट करन ॥८१॥

उत्थानिका—यदि प्रभु राज्य विभूति सहित थे तो किस-लिये उसका त्याग किया सो कहते हैं—

तृष्णार्चिपः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
मित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत ॥८२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(तृष्णार्चिपः) तृष्णारूपी अग्निकी ज्वालाएं (परिदहन्ति) हृदयमें जलती रहती हैं। (इष्टे-न्द्रियार्थविभवैः) चक्रवर्तीके योग्य इष्ट इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिसे (आसां न शांतिः) इन ज्वालाओंकी शांति नहीं होती है। किन्तु (स्थित्या एव) स्वभावसे ही (परिवृद्धिः एव) उन ज्वालाओंकी बढ़ती ही होती रहती है। (कायपरितापहरं निमित्तं) मात्र शरीरके दुःखके हरनेके लिये ये भोग निमित्त पड़ जाते हैं परन्तु मनकी दाहको दूर नहीं कर सकते (इति) ऐसा समझकर (आत्मवान्) जितेन्द्रिय व आत्मज्ञानी प्रभु (विषयसौख्यपराङ्मुखः अभूत्) इन्द्रिय विषयोंके सुखसे उदास होगए।

भावार्थ—यहांपर यह बताया है कि श्री कुंथुनाथ चक्रवर्ती थे जिनके मनोज्ञ भोगोंकी प्राप्ति इच्छानुसार होती थी। इन इंद्रियोंके भोगोंको भोगते हुए भी अंतरंगकी तृष्णारूपी ज्वालाएं और बढ़ जाती हैं कभी उनकी शांति नहीं होती है यह वस्तुका स्वभाव है। जैसे ईंधन डालनेसे अग्नि बुझती नहीं उलटी बढ़ जाती है। खाज खुजानेसे कम न होकर बढ़ जाती है। साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, चक्रवर्ती समान भी महान् पदधारी महापुरुष भी अपनी तृष्णाकी ज्वालाको बढ़ाते ही हैं। चाहकी दाह दिलमें जलती हुई प्राणीको महान् कष्टप्रद होती है। जब ऐसा है तब जगतके प्राणी इन्द्रिय विषयोंको भोगते ही क्यों हैं? इसका समाधान किया है कि यह भोग शरीरके कष्टको कुछ देरके लिये हरनेके लिये निमित्त कारण पड़ जाते हैं, क्षणिक सुख देते हैं। जैसे किसीको रसनेंद्रियके विषयमें किसी भोज्य पदार्थके खानेकी इच्छा हुई। अब जब वह मिल जाती है तो कुछ आकुलता कुछ देरके लिये मिट जाती है परन्तु अन्तरंगकी तृष्णाका शमन नहीं होता है, वह तो जितना जितना भोग भोगा जाता है उतनी २ बढ़ती ही जाती है। एक दीर्घकालकी आयुभर यदि एक चक्रवर्ती मनोहर विषयभोग करता रहे तौभी वह कभी भी तृप्ति नहीं पाएगा। यदि मरणका समय आजावे तौभी चाहकी दाहमें जलता हुआ ही मरण करेगा। ऐसा वस्तु स्वरूप हे प्रभु! आपने अपने क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जान लिया। तब यही उचित समझा कि तृष्णारूपी रोग जिस मोहनीय कर्मके निमित्तसे होता है उस मोहनीय कर्मका नाश

किया जावे। बस, आपने तपस्या करनेके लिये साधुपद धारण किया और जिनके सेवनसे उल्टा कष्ट बढ़े उनका दूरसे ही त्याग कर दिया। सारसमुच्चयमें कहा है—

अग्निना तु प्रदग्धानां शमोस्तीति यतोऽत्र वै।
स्मरवन्हिप्रदग्धानां शमो नास्ति भवेष्वपि ॥९२॥

भावार्थ—आगसे जला हुआ मनुष्य तो यहां ठण्डक पा भी सक्ता है परन्तु कामकी अग्निसे जले हुए प्राणियोंको भवभवमें भी शांति नहीं मिलती है।

छन्द त्रोटक।

तृष्णाग्नि दहत नहिं होय शमन, मन इष्ट भोगकर होय बढ़न।
तन ताप हरण कारण भोगं, इम लख निजविद् त्यागे भोगं ॥८२॥

उत्थानिका—विषयोंको त्याग आपने क्या किया सो कहते हैं—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थ भाषा टीका—(त्वं) आपने (परमदुश्चरं) परम कठिन (बाह्यं तपः) अनशनादि बाहरी तप (आध्यात्मिकस्य तपसः) आत्मीक ध्यानरूपी तपकी वृद्धिके लिये (आचरन्) पालन किया। (कलुषद्वयम् ध्यानं) दो मलीन ध्यानोंको अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यानोंको (निरस्य) दूर करके (उत्तरस्मिन् अतिशयोपपन्ने ध्यानद्वये) दूसरे दो उत्तम ध्यानोंमें अर्थात् धर्म और शुक्लध्यानोंमें (ववृतिषे) वर्तन किया।

भावार्थ—साधुपदमें कुन्थुनाथ भगवानने जो उपवास, ऊनोदर, रसत्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन व कायक्लेश इन बाहरी तपोंको बहुत ही कठिन रूपसे इसीलिये पालन किया कि अंतरंग तपकी वृद्धि हो। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः अंतरंग तप हैं। इनमें मुख्य तप आत्मध्यान है। जितना अधिक शरीरका सुखियापना हटाया जाता है व शरीरसे ममता छोड़ी जाती है उतना ही अधिक उपयोग आत्माके ध्यानमें जुड़ता है। आपने आर्त रौद्र इन दो खोटे ध्यानोंको कभी नहीं किया, क्योंकि वे संसारके कारण हैं और परिणामोंको कलुषित रखनेवाले हैं। इनको त्यागकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक तो धर्मध्यानका आराधन किया फिर क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हो शुक्लध्यानका सेवन किया। शुद्धोपयोगका लाभ इन ध्यानोंसे होता है जिससे अद्‌भुत वीतरागता पैदा होती है, जिससे मोहका क्षय किया जाता है। ध्यानका मुख्य हेतु मोहका नाश है जब मोहका नाश होगया तब फिर अन्य कर्म तो स्वतः एक अंतर्मुहूर्तमें ही गिर जाते हैं। यहां यह दिखलाया है कि मुनिपद धारनेका हेतु आत्मध्यानकी वृद्धि करना है। आत्मध्यानके होते हुए जो आत्मामें अपूर्व आनंद भरा है उसका स्वाद आता है और जिस समय आत्मानंदका स्वाद आता है वही वह समय है जब कर्मोंका नाश होता है। इष्टोपदेशमें कहा है—

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥४८॥

भावार्थ—यही आत्मानंद ही निरंतर कर्मोंके ईंधनको जला

देता है। तब ऐसा आत्मानंदमें मगन योगी बाहर दुःखोंके पड़ने पर भी उनपर खयाल न करता हुआ खेदको नहीं पाता है।

छन्द त्रोटक।

बाहर तप दुष्कर तुम पाला, जिन आतम ध्यान बढ़े आला।
द्वय ध्यान अशुभ नहिं नाश करे, उत्तम द्वय ध्यान महान धरे ॥८३॥

उत्थानिका—ध्यानमें वर्तन करके क्या किया सो कहते हैं—

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतिश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः।
विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता
व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थ भाषा टीका-(चतस्रः स्वकर्मकटुकप्रकृतिः) अपने आत्माके साथ बंधी हुई चार ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियोंको (हुत्वा) क्षय करके (रत्नत्रयातिशयतेजसि) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयके महान तेजसे (जातवीर्यः) अनंतवीर्यको रखनेवाले (सकलवेदविधेः विनेता) सम्पूर्ण ज्ञानकी विधिके प्रकाश करनेवाले आप (विभ्राजिषे) शोभते हुए (यथा) जैसे (व्यभ्रे) मेघोंसे रहित (वियति) आकाशमें (दीप्तरुचिः विवस्वान्) तेजस्वी सूर्य शोभता है।

भावार्थ—शुक्लध्यानके बलसे प्रभुने पहले मोहनीय कर्मका नाश किया जो सर्व कर्मोंके बंधका मूल है फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनको भी क्षय करडाला। जिस रत्नत्रयधर्मके प्रतापसे घातिया कर्मोंको नाश किया वह रत्नत्रय महान अतिशयको प्राप्त होगया। क्षायिक सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान व यथाख्यात

चारित्र आपके प्रकाश होगया। आप अनंत बली होगए। अरहंत पदमें आपने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा पदार्थोंका स्वरूप बताया उन्हींको सुनकर गणधरादिने द्वादशांगरूप आगमकी रचना की। अर्थात् आजकल जो जिनवाणी प्रकाशित है इसके मूलकर्ता आप ही हो। आपने विहार करके अनेक जीवोंका कल्याण किया। आप कोटिसूर्यकी प्रभासे भी अधिक प्रभावान् निर्मल दिशामें शोभते भए, जिस तरह मेघोंसे रहित आकाशमें तेजस्वी सूर्य शोभता है। ध्यानकी महिमा अपूर्व है। इसके बलसे ही अनादिकालके चले आए हुए कर्मरूपी पर्वत चूर्ण कर दिये जाते हैं। ध्यानके बलसे ही अनादिकालके चले आये हुये कर्मरूपी पर्वत चूर्ण कर दिये जाते हैं। ध्यानके बलसे अरहंत हीकी अपूर्व महिमाको पाते हैं। तत्त्वानुशासनमें कहा है—

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते च तदा प्रभुः ॥२३८॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ॥२३९॥

भावार्थ—तीन काल सम्बंधी जानने योग्य पदार्थोंको और आत्माको जैसा उन सबका स्वरूप है वैसा ही जानते देखते हुए प्रभु सदा वीतराग रहते हैं। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य तथा वीतरागता इनसे झलकनेवाला अविनाशी अतीन्द्रिय सुखको उस अरहंत पदमें सदा ही अनुभव करते हैं—

छन्द त्रोटक।

निज घाती कर्म विनाश किये, रत्नत्रय तेज स्ववीर्य लिये।
सब आगमके वक्ता राजैं, निर्मल नभ जिम सूरज छाजैं ॥८४॥

उत्थानिका-ऊपर कहे हुए अर्थका सार बताते हैं-

यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या
विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ॥८५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(मुनीन्द्र) हे यतिश्रेष्ठ ! (यस्मात्) क्योंकि (लोकपितामहाद्याः) जगतके माने हुए ब्रह्मा, ईश्वर, कपिल, बुद्ध आदि (तव विद्याविभूतिकणिकाम् अपि) आपकी केवलज्ञानविभूतिके अंश मात्रको भी (न आप्नुवंति) नहीं प्राप्त करते हैं (तस्मात्) इसीलिये (स्वहितैकतानाः) अपने आत्महितमें लगे हुए (सुधियः) बुद्धिमान् (आर्याः) गणधरादि साधु (भवन्तम्) आपके (अजम्) जन्म मरण रहित अविनाशी, (अप्रतिमेयम्) और अनंत केवलज्ञानका धारी (स्तुत्यं) तथा स्तुति करनेके योग्य मानकर (स्तुवंति) आपकी ही स्तुति करते हैं।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि बुद्धिमान आत्महितैषी गणधरादि साधु आपकी ही स्तुति करते हैं क्योंकि आपमें वह योग्यता है जो लौकिक मानवोंसे विलक्षण पदको पहुंच गया हो वही नमन करनेयोग्य होता है। आपमें सर्वज्ञपना है, वीतरागपना है, सच्चे आगमका वक्तापना है। आप ऐसे पदको पहुंच गए हैं कि फिर कभी आपका नाश नहीं होगा। जगतके लोग किसी कर्ता धर्ता ईश्वरको ब्रह्मा, व कपिलको व बुद्ध आदिको पूजते हैं। परन्तु हम जब उनके कहे हुए ज्ञानका आपसे मिलान करते हैं तो ऐसा झलकता है कि-हे मुनीन्द्र ! आपके निर्मल और स्पष्ट

ज्ञानका अंश मात्र भी उनके पास नहीं है। जो निर्दोष होगा व सर्वज्ञ होगा वही पूजने योग्य होसक्ता है। आपमें रागद्वेषादि कोई दोष नहीं है और आप त्रिकालज्ञ हैं। आपके सामने और कौन स्तुति करने योग्य होसक्ता है? आप्तस्वरूपमें कहा है—

संसारो मोहनीयस्तु प्रोच्यतेऽत्र मनीषिभिः।
संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः॥ ८८॥

भावार्थ-बुद्धिमानोंने मोहनीयको ही संसार कहा है इसलिये मोह ग्रसित संसारी प्राणियोंसे जो परे हैं वही आत्मा परमात्मा कहा गया है।

छन्द त्रोटक।

यतिपति तुम केवलज्ञान धरं, ब्रह्मादि अंश नहिं प्राप्त करे।
निज हित रत आर्य सुधी तुमको, अज ज्ञानी अर्ह नमैं तुमको॥८५॥

(१८) अरनाथ स्तुतिः।

गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्॥८६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(गुणस्तोकं) थोड़े गुणोंको (सदुल्लंघ्य) उल्लंघन करके (तद्बहुत्वकथा स्तुतिः) उनको बहुत करके कहना स्तुति है। (ते गुणा आनन्त्यात् वक्तुं अशक्याः) आपके गुण ही अनंत हैं, इसलिये कहनेकी सामर्थ नहीं है (त्वयि सा कथं) तब आपकी स्तुति कैसे होसक्ती है?

भावार्थ-जिस किसीमें थोड़े गुण हों तब उनको बढ़ाके कहना यही स्तुतिका लक्षण है। हे अरनाथ! आपके गुण तो अनंत हैं, उनहीको समझनेकी व कहनेकी शक्ति मुझमें नहीं है।

फिर उनको बढ़ाके मैं कैसे कह सक्ता हूं ? इसलिये मैं आपकी स्तुति करनेके लिये असमर्थ हूं ।

पद्धरी छन्द ।

गुण थोड़े बहुत कहे बढ़ाय, जगमें थुति सो ही नाम पाय ।
तोरे अनन्तगुण किम कहाय, स्तुति तेरी कोई विधि न थाय ॥८६॥

उत्थानिका—तब क्या मौन रखना चाहिये—

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(तथापि) यद्यपि आपके गुणोंका कथन नहीं होसक्ता है तौ भी (यतः) क्योंकि (ते मुनींद्रस्य पुण्यकीर्तेः) आप मुनियोंके स्वामी और पवित्र कीर्तिधारी व पवित्र दिव्यध्वनि प्रकाशकका (नाम अपि) नाम मात्र ही (कीर्तितं) यदि भक्तिसे उच्चारण किया जाय तो (नः) हमको (पुनाति) पवित्र कर देता है (ततः) इसलिये (किञ्चन ब्रूयाम) कुछ कहता हूं ।

भावार्थ—यहां आचार्यने दिखलाया है कि श्री अरनाथ तीर्थंकरकी स्तुति किसी भी तरह मुझसे नहीं होसक्ती है । तौ भी यह समझकर मैं भक्तिवश अवश्य कुछ कहूंगा कि श्री जिनेन्द्रका पवित्र नाम ही हमारे मनको पवित्र कर देता है । क्योंकि जिसका नाम होता है उसका नाम लेनेसे दिलके ऊपर उसीके गुणोंका असर पड़ता है । क्योंकि श्री अरनाथ तीर्थंकर परम योगीश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं तथा पवित्रवाणीके प्रकाशक व निर्मल कीर्तिके धारक हैं इसलिये नाम मात्र ही लेनेसे मेरा कल्याण तो हो ही जायगा ।

मेरा भाव निर्मल हो जायगा। इसलिये जो कुछ बने वैसी स्तुति करना ही चाहिये।

पद्धरी छन्द।

तौभी मुनीन्द्र शुचि कीर्ति धार, तेरा पवित्र शुभ नाम सार।
कीर्तनसे मन हम शुद्ध होय, तातैं कहना कुछ शक्ति जोय॥८७॥

उत्थानिका–कुछ वर्णन करते हैं–

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम्।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत्॥८८॥

अन्वयार्थ भाषा सह टीका–(ते मुमुक्षोः) आप मोक्षके इच्छा करनेवालेके (चक्रलांछनम्) सुदर्शन चक्रके चिन्ह सहित (लक्ष्मीविभवसर्वस्वं) संपूर्ण लक्ष्मीका विभव (सार्वभौमं साम्राज्यं) जो सर्व भरतक्षेत्रका षट् खण्डमई राज्य है वह (जरत् तृणम् इव) जीर्ण तृणके समान (अभवत्) होगया।

भावार्थ–हे अरनाथ! आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी थे, आपने यद्यपि कुछ कालतक चक्रवर्तीकी सम्पदा भोगी–छः खण्ड पृथ्वीका एक छत्र राज्य किया। परन्तु आपके भीतर गाढ़ रुचि स्वाधीनताकी ही वनी रही, इस असार संसारसे मुक्त होनेकी दृढ़ आकांक्षा आपके भीतर थी। इससे ज्यों ही प्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होगया आपने सर्व चक्रवर्तीकी संपदाको जीर्ण तृणके समान असार जानकर त्याग दिया और आप सर्व परिग्रह त्यागकर दि० निर्ग्रन्थ मुनि होगए। मुक्तिसाधनके लिये परिग्रह त्याग जरूरी है। ऐसा सारसमुच्चयमें श्री कुलभद्र आचार्य कहते हैं—

संगात् संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वांछति संचयम्।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरम्परा॥ २३२॥

भावार्थ-परिग्रहसे लोलुपता पैदा होती है, गृद्धता होनेपर संचय करनेकी वाञ्छा होती है, संचय करनेसे लोभ बढ़ता है, लोभसे परम्परा दुःखकी प्राप्ति होती है।

पद्धरी छन्द।

तुम मोक्ष चाहको धार नाथ, जो भी लक्ष्मी सम्पूर्ण साथ।
सब चक्र चिन्ह सह भरत राज्य, जीरण तृणवत् छोडा सुराज्य ॥८८

उत्थानिका-इस तरह अंतरंगके परम वीतरागको दिखलाकर आपके शरीरकी शोभाको दिखलाते हैं-

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः॥ ८९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(तव रूपस्य सौन्दर्यं) आपके वीतरागमई शरीरकी सुन्दरताको (दृष्ट्वा) देखकर (द्व्यक्षः) दो आंखधारी (शक्रः) इन्द्र (सहस्राक्षः) एक हजार लोचन बनाकर देखता हुआ भी (तृप्तिं) तृप्तिको (मनापिवान्) न प्राप्त करता हुआ किंतु (बहुविस्मयः बभूव) बहुत आश्चर्यको प्राप्त हुआ।

भावार्थ-इन्द्रके यद्यपि मूलमें दो ही आंख होती हैं परंतु उसने जब आपके शरीरके मनोहर रूपको देखा तो उसको दो आंखोंसे तृप्ति न हुई। तब उसने अपने एक हजार नेत्र बनाए। इन्द्रादि देवोंमें विक्रिया करनेकी शक्ति होती है, इससे वे एक शरीरके अनेक शरीर बना सक्ते हैं और उन सबमें अपने आत्माके प्रकाशको फैला देते हैं। इस तरह अनेक शरीर बनाकर भी इन्द्रने एक हजार नेत्रोंसे आपके रूपको खूब देखा तौभी उसके मनको तृप्ति न हुई। तब उसको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि जगतमें

ऐसा रूप सिवाय साधुपदधारी तीर्थंकरके और किसीके होना संभव नहीं है। ये तीर्थंकरके अपूर्व पुण्यकी महिमा है।

पद्धरी छन्द।

तुम रूप परम सुन्दर विराज, देखनको उमगा इन्द्र राज।
दो लोचन धरकर सहस नयन, नहिं तृप्त हुआ आश्चर्य भरन ॥८९

उत्थानिका—अब कहते हैं कि भगवान् अरनाथने अंतरंग मोह शत्रुको कैसे जीता—

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(मोहरूपो रिपुः) जीवका मोहनीय कर्मरूपी महान शत्रु है (पापः) जो महापापी है जीवको स्वरूपसे गिरानेवाला है (कषायभटसाधनः) क्रोध मान माया लोभ चार कषायरूपी योद्धा जिसकी सेना है ऐसे महान शत्रुको (धीर) हे परीषहोंके पड़नेपर भी अक्षोभ चित्त स्वामी! अरनाथ (त्वया) आपने (दृष्टिसम्पत उपेक्षाऽस्त्रैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमई रत्नत्रयके दिव्य शस्त्रोंके द्वारा (पराजितः) जीत लिया।

भावार्थ—अनादिकालसे जीवका महान शत्रु मोहनीय कर्म है। यही इस संसारी प्राणीको रागी द्वेषी मोही बनाकर आत्मविरोधी मार्गोंमें पटक देता है। इसीका भुलाया हुआ यह जीव अपने आत्माके स्वरूपमें थिरताको नहीं पाता है। इसके साथी क्रोधादि चार कषाय हैं। इन्हींके कारण यह प्राणी ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंका बंध करता है और उस कर्मके उदयवश संसार वनमें भटका करता

है। इस मोहको जीतना ही मानों सर्व कर्मोंको जीत लेना है। हे अरनाथ! आपने साधु अवस्थामें खूब ध्यान लगाया–निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्धात्माकी यथार्थ प्रतीति है, निश्चय सम्यग्ज्ञान शुद्धात्माका यथार्थ ज्ञान है, निश्चय सम्यग्चारित्र रागद्वेष छोड़ अपने ही शुद्ध आत्माके स्वरूपमें थिरता पाना है। जहां इन तीनोंकी एकता होती है वहां स्वानुभव या आत्मध्यान पैदा होता है। इसी ध्यानके बलसे प्रभुने मोहका बल घटाया। जब क्षपकश्रेणी आरूढ़ हुए तब इस मोहको क्षय करते २ सूक्ष्मलोभ नामके दसवें गुणस्थानके अंतमें इस मोहकर्मका सर्वथा क्षय कर डाला। तब प्रभु क्षीण मोह वीतराग यथाख्यात संयमी होगए। तब आप मोहके विजेता सच्चे जिन कहलाए। धन्य है आपका पुरुषार्थ जिसने अनादिकालके शत्रुका सदाके लिये नाश कर डाला। वास्तवमें रागीद्वेषी जीव ही संसारमें भ्रमण करता है। सारसमुच्चयमें कहा है–

रागद्वेषमयो जीवः कामक्रोधवशे गतः।
लोभमोहमदाविष्टः संसारे संसरत्यसौ ॥

भावार्थ–जो जीव रागीद्वेषी है, काम व क्रोधके वश है, लोभ व मदसे घिरा है वही संसारमें भ्रमण किया करता है।

पद्धरी छन्द।

जो पापी सुभट कषाय धार, ऐसा रिपु मोह अनर्थकार।
सम्यक्त ज्ञान संयम सम्हार, इन शस्त्रनसे कीना संहार ॥ ९० ॥

उत्थानिका–मोहकर्मके जीत लेनेपर क्या हुआ सो कहते हैं–

कन्दर्पस्योद्धुरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जितः।
हेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ सह भाषाटीका—(कंदर्पस्य) कामदेवका (उद्धुरः) महा कठिन (दर्पः) अहंकार (त्रैलोक्यविजयार्जितः) जो तीन लोकके प्राणियोंको जीत लेनेसे पैदा हुआ था सो (त्वयि धीरे) आप परम निश्चल चित्तके पास (प्रतिहतोदयः) उसका सब उदय नाशको प्राप्त होगया। आपने (तं) उस कामदेवको (ह्रेपयामास) लज्जित कर दिया।

भावार्थ—कामदेवको इस बातका बड़ा घमंड था कि उसने इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती सर्व जगतके प्राणियोंको अपने आधीन कर लिया। जब यह आपके जीतनेके लिये आया तो आप परम वीतरागीके सामने उसका कुछ भी बल न चला। तब वह महान लज्जित होगया। जिस कामने सर्व पामर संसारी प्राणियोंको वशकर लिया उस कामको आपने परास्त कर दिया। इसलिये हे अरनाथ ! आप परम योद्धा व परम ब्रह्मचारी हैं। आपकी महिमा आश्चर्यकारी है। वास्तवमें कामदेव महा अनर्थकारी है। सारसमुच्चयमें कहा है—

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशकः।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥ १०३ ॥
दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत्।
पापस्य निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥ १०४ ॥
पिशाचेनैव कामेन छिद्रितं सकलं जगत्।
बभ्रमेति परावर्त्तं भवाब्धौ त निरन्तरम् ॥ १०५ ॥

भावार्थ-यह कामदेव चित्तको दोषी करनेवाला है, शुभ गतिका नाशक है, सच्चारित्रको बिगाड़नेवाला है, अनर्थकी परम्पराको बढ़ानेवाला है, दोषोंकी खान है, गुणोंका नाश करनेवाला है, पापका निज भाई है, महान आपत्तियोंमें पटकनेवाला है। इस

पिशाच कामने सब जगतको खंडित कर डाला है। इसके आधीन होकर यह संसारी प्राणी निरंतर संसार-समुद्रमें गोते खाया करता है।

पद्धरी छन्द।

यह काम धरत बहु अहंकार, त्रय लोक प्राणिगण विजयकार।
तुमरे ढिग पाई उदयहार, तब लज्जित हूआ है अपार ॥९१॥

उत्थानिका–मोह व कामके जीत लेनेपर क्या हुआ सो कहते हैं–

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्निरुत्तरा।
तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(आयत्यां च) परलोकमें भी (तदात्वे च) तथा इस लोकमें भी (दुःखयोनिः) दुःखोंकी उत्पन्न करनेवाली (दुरुत्तरा) व जिसका पार करना अति कठिन है ऐसी (तृष्णा नदी) तृष्णारूपी नदीको (त्वया) आपने (विविक्तया) निर्दोष व परम वीतरागमय (विद्यानावा) आत्मज्ञानरूपी नौका द्वारा (उत्तीर्णा) पार कर डाला।

भावार्थ–तृष्णारूपी नदीमें संसारी प्राणी डूब रहे हैं। यह विषयोंकी कांक्षारूपी तृष्णा इस लोकमें भी जीवोंको सदा संतापित रखती है। यदि इच्छित पदार्थ नहीं मिलता है तो उसकी चाहकी दाहमें बड़ा ही क्लेश होता है। यदि कदाचित मिल जाता है तो नई तृष्णा पैदा होजाती है। इसतरह तृष्णा कभी पूरी नहीं होती है, बढ़ती रहती है। इसी तीव्र कषायके वश तीव्र पाप कर्मका बंध होजाता है जिससे यह प्राणी परलोकमें भी महान दुःखोंको भोगता है। इस तरह यह तृष्णा नदी उभय लोकमें दुःखोंको देनेवाली है तथा इसका पार करना बड़ा कठिन है। वारवार संकटोंको

झेलनेपर भी व वारबार श्री गुरुका उपदेश पानेपर भी तृष्णा करनेकी आदत नहीं छूटती है, विषय चाह नहीं मिटती है। धन्य हैं प्रभु श्री अरनाथ! आपने परम वैराग्यमय आत्मानुभवका जहाज धारण किया जिसमें रागद्वेष मोहका कोई छिद्र न था। इस जहाजपर आरूढ़ होकर आपने सुखसे तृष्णा नदीको पारकर लिया। अर्थात् अब आप परम कृतकृत्य होगए। आपके कोई इच्छा शेष न रही। वास्तवमें तृष्णा ही संसारकी मूल है। सारसमुच्चयमें कहा है—

तृष्णानलप्रदीप्तानां सुसौख्यं तु कुतो नृणाम्।
दुःखमेव सदा तेषां ये रता धनसंचये ॥ २४१ ॥

भावार्थ—जो मानव तृष्णाकी अग्निसे जलते रहते हैं उनको सुख कहांसे होसक्ता है। उनको सदा ही दुःख है जो धनके संचयमें ही लवलीन हैं।

पद्धरी छन्द।

तृष्णा सरिता अति ही उदार, दुस्तर इह परभव दुःखकार।
विद्या नौका चढ रागरिक्त, उतरे तुम पार प्रभू विरक्त ॥ ९२ ॥

उत्थानिका—मोह काम व तृष्णाका नाश कर देनेपर फिर क्या हुआ सो कहते हैं।

अन्तकः क्रन्दनो नृणां जन्मज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(अन्तकः) मरणरूपीयमराज (नृणां) प्राणियोंको (क्रन्दनः) रुलानेवाला है (सदा) व सदा (जन्मज्वरसखा) जन्म व जरा उसके दो मित्र हैं वह (त्वां) आप (अन्तकान्तकं) मरणरूपी यमराजके नाश करनेवाले प्रभुको

(प्राप्य) प्राप्त होकर अर्थात् आपके पास आकर (कामकारतः) अपनी इच्छारूपी क्रिया करनेसे (व्यावृत्तः) रहित होगया।

भावार्थ—सर्व संसारी प्राणियोंको यमराज नाश कर देता है। जब मरण आता है तब सर्व ही मिथ्यादृष्टी प्राणी घबड़ाते हैं व रोते हैं। मरणके मित्र दो हैं—जन्म और जरा अर्थात् जब जरा सताती है तब शीघ्र ही वह मरणको बुला लेती है। तथा मरणके पीछे जन्म भी अवश्य होता है। मरणके पीछे २ जन्म उसका मित्र आजाता है। इसतरह संसारी प्राणी जन्म जरा मृत्युसे सदा पीड़ित रहते हैं। आपके पास यह यमराज अपना कुछ भी काम न कर सका। न यह स्वयं आक्रमण कर सका। न इनके मित्रोंका ही वश आपसे चला। आपको जरा कुछ भी पीड़ा न देसकी। आप सदा नवयौवन रहे। केवलज्ञान अवस्थामें आप परमौदारिक शरीरमें कोटि सूर्यकी दीप्तिसे भी अधिक प्रकाशमान रहे। आपने आयुकर्मको जीत लिया। परभवके लिये आपने आयु न बांधी। आपका अब किसी शरीरमें जन्म न होगा। वास्तवमें मरण वही है जो फिर जन्म करावे। आप तो शरीर त्यागनेपर परम निर्वाणके भाजन परम सिद्ध होंगे। इसतरह आपने जगतविजयी यमराजके मदको भी चूर्ण कर डाला। आप्तस्वरूपमें आपका स्वरूप कहा है—

जन्ममृत्युजरारोगाः प्रदग्धा ध्यानवह्निना।
यस्यात्मज्योतिषां एको सोऽस्तु वैश्वानरः स्फुटम् ॥४३॥

भावार्थ—जिसकी आत्मज्योतिकी राशिमई ध्यानरूपी अग्निसे जन्म मरण जरा रोग बिलकुल जला दिये गए सो ही प्रभु प्रगटपने अग्निस्वरूप हैं। वास्तवमें आपने यमराज व उसके मित्रोंको सर्वथा नाशकर डाला इसलिये आप यमराजके विजयी परम योद्धा हैं।

पद्धरी छन्द।

यमराज जगतको शोककार, नित जरा जन्म है सखा धार।
तुम यम विजयी लख हो उदास, निज कार्य करन समरथ न तास ॥९३

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि भगवानमें मोहादिकका क्षय हुआ यह बात कैसे जानी जाती है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम्।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥ ९४ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(धीर) हे परम क्षमावान् अरनाथ भगवन्! (तव) आपका (भूषावेषायुद्धत्यागि) आभूषण, वस्त्र, व शस्त्रादिसे रहित तथा (विद्यादमदयापरम्) निर्मल ज्ञान, शांत भाव व अपूर्व दयाको झलकानेवाला (रूपं एव) शरीरका रूप ही (दोषविनिग्रहम्) आपने मोहादि दोषोंका क्षय कर डाला है इस बातको (आचष्टे) प्रगट कह रहा है।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रके शरीरका रूप मोहादि घातिया कर्मोंके नाश कर लेनेपर पूर्ण ध्यानमय पद्मासन या कायोत्सर्ग आसनमें रहता है। उस रूपमें किसी विकारी वेषका संसर्ग नहीं होता है न वहां कोई वस्त्रका सम्बंध होता है न किसी प्रकारका आभूषण होता है न कोई खड्ग, बरछी, लकड़ी आदि शस्त्रका सम्बंध होता है। वह ध्यानमई रूप ऐसा प्रगट होता है मानो आत्मज्ञानमें, वीतरागतामें व पूर्ण दया या अहिंसाभावमें लीन है। ऐसा शांत ध्यानमय स्वरूप ही दर्शकके मनमें यह असरकारक भाव पैदा कर देता है कि प्रभुमें कोई रागद्वेष मोह, काम विकार व तृष्णा आदिका दोष नहीं है। पात्रकेसरीस्तोत्रमें कहा है—

क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणां कर्मणां।
कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः॥
अनन्यसदृशं सुखं त्रिभुवनाधिपत्यं च ते।
सुनिश्चितमिदं विभो! सुमुनिसम्प्रदायादिभिः॥ १०॥

भावार्थ–हे विभु! मुनियोंके संप्रदायोंने यह भले प्रकार निश्चय कर लिया है कि आपने रति, राग, मोह, भयको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका नाश कर दिया है। इससे आप क्रोधादि कषाय-रूपी शत्रुओंके पूर्ण विजयी हैं, आपमें सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञान उदय होरहा है व आपमें अनुपम आत्मीक सुख है व आप तीन भुवनके स्वामी ही हैं।

पद्धरी छन्द।

हे धीर आपका रूप सार, भूषण आयुध वसनादि टार।
विद्या दम करुणामय प्रचार, कहता प्रभु दोष रहित अपार॥९४॥

उत्थानिका–मोहादिके नाश होनेपर और क्या हुआ सो कहते हैं–

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा॥ ९५॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका–(ते) आपके (समंततः) सब तरफ फैले हुए (अंगभासां) शरीरकी आभाके (परिवेषेण) परिमंडलसे (भूयसा) अतिशय करके (बाह्यं तमः) बाहरी अंध-कार (अपाकीर्णं) नाश होगया तथा (ध्यानतेजसा) आपके आत्मध्या-नके तेजसे (अध्यात्मं) अंतरंगका अज्ञानादि अंधकार नाश होगया।

भावार्थ–हे प्रभु! आपके शरीरका तेज ऐसा विशाल है जो चारों तरफ फैल गया और उसने आपके पास एक भामंडलका रूप

धारण कर लिया। इस प्रभामंडलके प्रकाशसे आपके निकट बाहरी अंधकार बिलकुल न रहा। आप जहां समवशरणमें विराजते हैं वहां रात दिनका भेद ही नहीं रहता है—सदा ही प्रकाश बना रहता है। आपके अंतरंगमें आत्मध्यानका तेज ऐसा प्रगट हुआ कि जिसने अज्ञान अंधकारको सर्वथा नाश कर दिया, आपमें पूर्ण केवलज्ञान प्रकट होगया। आप्तस्वरूपमें कहा है—

तदा स्फाटिकसंकाशं तेजो मूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥१२॥

भावार्थ—जब अर्हंतके रागादि दोष क्षय होजाते हैं तब उनका शरीर सात धातुसे रहित स्फटिक पाषाणके समान निर्मल तथा परम तेजरूप होजाता है।

पद्धरी छन्द।

तेरा वपु भामंडल प्रसार, हरता सब बाहर तम अपार।
तव ध्यान तेजका है प्रभाव, अंतर अज्ञान हरै कुभाव ॥९५॥

उत्थानिका—इस तरह मोह नाश होनेसे जो अतिशय प्राप्त हुआ उसकी स्तुति करके अब भगवानकी पूजाकी महिमाको कहते हैं—

सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात् प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम् ॥९६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सर्वज्ञज्योतिषा उद्भूतः) सर्वज्ञपनेकी ज्योतिसे उत्पन्न हुआ (तावकः) आपकी (महिमोदयः) महिमाका प्रकाश (नाथ) हे नाथ! (कं सचेतनं सत्त्वं) किस विवेकवान प्राणीको (ते प्रणम्रं न कुर्यात्) आपके आगे नम्रीभूत नहीं कर सक्ता है?

भावार्थ— हे अरनाथ! आप सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा होगए

तब आपका ऐसा महात्म्य प्रगटा कि जो कोई विवेकी प्राणी आपके सामने आया उसीने ही आपको हृदयसे नमस्कार किया। अर्थात् आपका अर्हत् अवस्थाका ऐसा प्रभाव है कि हरएक प्राणी आपको नमस्कार करता है, कोई भी आपके सामने उद्धत नहीं रह सक्ता—बड़े२ गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती, पशु पक्षी सर्व ही आपको बड़ी भक्तिसे नमन करते हैं। आप्तस्वरूपमें कहा है—

महत्वादीश्वरत्वाच्च यो महेश्वरतां गतः।
त्रैधातुकविनिर्मुक्तस्तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो परम पूज्यनीय है, परमैश्वर्यवान है इससे वही महान ईश्वरपनेको प्राप्त है जो तीन धातु जन्म जरा मरण व द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्मसे रहित है। इसीसे वह परमेश्वर है। उसे मैं वन्दना करता हूं।

पद्धरी छन्द।

सर्वज्ञ ज्योतिसे जो प्रकाश, तेरी महिमाका जो विकाश।
है कौन सचेतन प्राणि नाथ, जो नमन करै नहिं नाय माथ ॥ ९६ ॥

उत्थानिका—अब भगवानकी दिव्यध्वनिका महात्म्य कहते हैं—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ॥९७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(तव) आपका (श्रीमत्) यथार्थ वस्तुको कथन करने रूप लक्ष्मीको रखनेवाला (सर्वभाषा-स्वभावकम्) व सर्व प्राणियोंकी भाषा रूप होनेके स्वभावको धरनेवाला (वागमृतं) वचनरूपी अमृत (संसदि व्यापि) समवशरणकी सभामें फैला करके (अमृतं यद्वत्) अमृतके समान (प्राणिनः) प्राणियोंको (प्रीणयति) तृप्त करता है।

भावार्थ-आपकी केवलज्ञानमई भूमिकासे रची हुई दिव्य-ध्वनि यथार्थ वस्तुके स्वरूपको कहने वाली है। यद्यपि वह मोक्षकी ध्वनिके समान निरक्षरी होती है परन्तु उसका यह स्वभाव है कि अनेक भाषारूप परिणमन कर जाती है-सभा निवासी देव, मानव व पशु सब अपनी २ भाषामें सुनते हैं सबको ऐसा झलकता है मानो हमारी भाषामें ही प्रभु उपदेश देरहे हैं। वह वाणी इतनी गंभीर होती है कि बारह सभावासियोंको सबको स्पष्ट सुनाई देती है। वह वाणी ऐसी सुखदाई होती है कि मानो अमृतकी धारा वरसती है जैसे-अमृतके पीनेसे प्राणियोंको संतोष होता है वैसा संतोष श्रोताओंको होता है। उनका हृदयकमल प्रफुल्लित होजाता है। वे परमोपकारी उपदेशका लाभकर अपने हितका सच्चा मार्ग पालेते हैं। इसीसे हे जिनेन्द्र! आपको परम हितोपदेशी कहते हैं। आप्तस्वरूपमें कहा है—

सर्वार्थभाषया सम्यक् सर्वक्लेशप्रघातिनाम् ।
सत्त्वानां बोधको यस्तु बोधिसत्त्वस्ततो हि सः ॥ ४० ॥

भावार्थ-जो अर्हन्त भगवान सर्व भाषामय भलेप्रकार अर्थको प्रतिपादन करनेवाले वचनोंसे सर्व प्राणियोंको उनके सर्व क्लेश नाश करनेके लिये उपदेश देता है वही यथार्थ बोधि सत्त्व व हितोपदेष्टा है।

पद्धरी छन्द ।

तुम वचनामृत तत्त्व प्रकाश, सब भाषामय होता विकाश ।
सब सभा व्यापकर तृप्तकार, प्राणिनको अमृतवत् विचार ॥९७॥

उत्थानिका-शंकाकार कहता है कि एकांत मतमें भी एकान्त स्वरूप दिखानेवाले वचनोंसे भी वस्तुका यथार्थ स्वरूप समझमें आता है व उससे प्राणियोंको आनन्द भी होता है तब आपके

वचनोंमें ही क्या ऐसा अतिशय है, इस शंकाका समाधान करते हैं--

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(ते) आपका (अनेकान्तात्मदृष्टिः) अनेकांत मत (सती) सत्य है (विपर्ययः) उससे उल्टा एकांतमत (शून्यः) असत्य है (ततः) उस एकांत मतसे (सर्वं मृषोक्तं स्यात्) सर्व ही कथन मिथ्या कहा जायगा (तत् स्वघाततः अयुक्तं) वह एकांत मत अपना ही घात करनेसे बिलकुल अयोग्य है।

भावार्थ-आचार्य शंकाकारको कहते हैं कि एकांत मतसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप कहा ही नहीं जासक्ता। कोई वैसे ही मनमें एकांत मतसे संतोष मानले तो यह उसका अज्ञान है। अनेकांत मत ही वस्तुको यथार्थ प्रतिपादन कर सक्ता है। इस बातको श्री सुमतिनाथके स्तोत्रमें भले प्रकार बताया जाचुका है। वस्तुका स्वरूप ही अनेक स्वभावरूप है। वस्तु स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा सतरूप है, परद्रव्यादिकी अपेक्षा असत्रूप है। वस्तु गुणोंकी सहचारिताकी अपेक्षा नित्यरूप है। पर्यायके पलटनेकी अपेक्षा अनित्यरूप है। सर्वथा एकरूप माननेसे वस्तु अकार्यकारी होती है-वस्तुकी सिद्धि ही नहीं होसक्ती। यह बात पहले बता चुके हैं। इसलिये अनेकांत मत ही सच्चा है। एकांत मत बिलकुल मिथ्या है। एकांत मतसे जो कुछ कहा जायगा सब मिथ्या होगा। जैसे हम जीवको यदि एकांतसे नित्य माने तो वह सदा कूटस्थ एकसा रहेगा, उसमें न अशुद्धता होसक्ती है न कभी वह शुद्ध होसक्ता है, तब उपदेश आदि सब निरर्थक होजायगा, परलोक आदिका सब अभाव होजा-

स्वयं। जो कोई एकांत मतको पकड़नेवाले हैं उनका खंडन स्वयं उनहीसे होजायगा। जैसे यदि हम वस्तुको अद्वैत एक ही माने तो आत्मा व परमात्माका व जीव व ब्रह्मका कोई भेद जो कहा जाता है वह नहीं रहेगा। जैसा कि आप्तमीमांसामें कहा है—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥ २४ ॥

भावार्थ—यदि अद्वैतका एकांत पक्ष माना जाय तो जो लोकमें भेद दिखलाई पड़ता है वह न रहना चाहिये। कर्ता, कर्म, कारणके भेद न रहेंगे, न क्रियाका भेद रहेगा कि यह दहनक्रिया है यह पचनक्रिया है इत्यादि। तथा एक अकेलेसे भिन्न२ प्रकारका जगत कैसे उत्पन्न होसक्ता है।

पद्धरी छन्द।

तुम अनेकांत मत ही यथार्थ, यातैं विपरीत नहीं यथार्थ।
एकांत दृष्ट है मृषा वाक्य, निज घातक सर्व अयोग्य वाक्य ॥९८॥

उत्थानिका- शंकाकार कहता है कि अनेकांत मतमें विरोध आदि दोषोंका संभव है वह यथार्थ कैसे? इसका समाधान आचार्य करते हैं—

ये परस्खलितोन्निद्राः स्वदोषेभनिमीलिनः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मतश्रियः ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(ये) जो (तपस्विनः) एकांत मतके माननेवाले तपस्वी (परस्खलितोन्निद्राः) पर जो अनेकांत मत उसके खंडन करनेमें जागृत हैं वे (स्वदोषेभनिमीलिनः) अपने एकांत मतमें क्या क्या दोष आते हैं उनके देखनेमें हाथीके समान हो रहे हैं अर्थात् एकांत मतमें जो दोष आते हैं उनको जान-

बूझकर छिपा रहे हैं (ते) वे (त्वन्मतश्रियः) आपके अनेकान्त मत-रूपी लक्ष्मीके पानेके लिये (अपात्रं) पात्र नहीं है (किं कुर्युः) वे विचारे क्या कर सक्ते हैं ? न तो अपने पक्षको सिद्ध कर सक्ते हैं न अनेकांतका ही खण्डन कर सक्ते हैं।

भावार्थ—जो अद्वैत एकांत, नित्यैकांत, क्षणिकैकांत आदि एक ही पक्षके सर्वथा माननेवाले तपस्वी हैं वे ऐसे अपने एकांत मतके अहंकारमें चूर हैं कि अपने मतमें जो अनेक दोष आते हैं उनको जानबूझकर छिपाते हैं। जैसे हाथी अपनी आंखोंको ऐसी मिली हुई रखता है कि देखता हुआ भी न देखनेवालेके समान अपनेको झलकाता है। इसी तरह ये अपने दोषोंपर तो ध्यान नहीं देते हैं तथा अनेकांत जो यथार्थ मत है उसके खण्डन करनेके लिये अपनी तैयारी बताते हैं। आचार्य कहते हैं कि उनकी बुद्धि दुर्मोहसे ऐसी मैली हो रही है कि वे श्री जिनेन्द्रदेवके अनेकांत मतके समझनेकी योग्यता ही नहीं रखते हैं। वे विचारे इस योग्य नहीं हैं कि अपना पक्ष समर्थन कर सकें व अनेकांतका खंडन कर सकें। भावार्थ यह है कि अनेकांत मत भिन्न२ अपेक्षासे भिन्न२ स्वभावोंको झलकाता है। इसलिये उसमें विरोध आदि कोई दोष नहीं आसक्ते हैं। जो पक्षपात छोड़कर अनेकांतको समझेगा उसे वस्तु स्वरूपकी यथार्थता स्वयं झलक जायगी।

पद्धरी छन्द।

एकांती तपसी मान धार, निज दोष निरख गज नयन धार।
ते अनेकांत खंडन अयोग्य, तुम मत लक्ष्मीके हैं अयोग्य ॥९९॥

उत्थानिका—कोई शंका करता है कि यह सब कहना ठीक नहीं है वस्तु तो वचन अगोचर है इसका समाधान करते हैं—

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्त्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यतां श्रिताः॥१००॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(ते) वे एकांतवादी (तं स्वघातिनं दोषं) अपने एकांत मतके खण्डन करनेवाले दोषको (शमीकर्तुं) दूर करनेके लिये (अनीश्वराः) असमर्थ होकर (त्वद्द्विषः) आपके अनेकांत मतसे द्वेष करते हैं (स्वहनाः) व आप अपना बिगाड़ करते हैं ऐसे ही (बालाः) अज्ञानी लोगोंने (तत्वावक्तव्यतां श्रिताः) यही आश्रय पकड़ लिया कि वस्तुका स्वरूप सर्वथा कहा ही नहीं जासक्ता।

भावार्थ-जो निर्बुद्धि हैं व तत्त्वके सच्चे स्वरूपके विचार करनेमें चतुर नहीं हैं वे एकांत मतका हठ पकड़े हुए उन दोषोंका निवारण नहीं कर सक्ते हैं जो एकांत पक्षके माननेपर आते हैं। तथा हे जिनेन्द्र ! वे आपके सच्चे अनेकांत मतसे अहंकारवश द्वेष रखते हैं। ठीक वस्तुके स्वरूपको न पाकर वे विचारे अपने आत्माहीका बिगाड़ करते हैं। ऐसे ही अज्ञानी लोगोंकी समझमें जब कोई तत्त्व ठीक न बैठा तो कहने लगे कि वस्तुका स्वरूप तो वचनगोचर ही नहीं है। यह उनका कहना बिलकुल अज्ञानपूर्ण होता है। यदि वस्तुका स्वरूप कहा ही न जायगा तो सर्व उपदेशका मार्ग ही बंद होजायगा। तब अनेक मतोंके शास्त्रोंकी ही आवश्यक्ता न रहेगी। तथा यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही हो तो इसलोक व परलोकका कोई व्यवहार नहीं होसक्ता है। किसी अज्ञानीको किसी वस्तुका ज्ञान ही नहीं कराया जासक्ता है। तब कोई भी जीव कुमार्गसे हटाकर सुमार्गमें नहीं लाया जासक्ता है।

मोक्षका उपदेश व मोक्ष सर्वहीका अभाव होजायगा। सर्वको मौन ही रहना पड़ेगा क्योंकि किसी वस्तुका स्वरूप ही किसीको बताया नहीं जासकेगा। सो यह कहना बिलकुल अज्ञान है-अनध्यवसाय नामका अज्ञान है, कभी भी मानने योग्य नहीं है।

पद्धरी छन्द ।

एकांती निज घातक जु दोष, समरथ नहिं दूर करण सदोष ।
तुम द्वेष धार निज हननकार, मानैं अवाच्य सब वस्तु सार ॥१००॥

उत्थानिका-जाननेवालेके कौनसे अभिप्राय सच्चे व कौनसे खोटे समझे जावें इसका समाधान आचार्य करते हैं-

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥१०१॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(सदेकनित्यवक्तव्याः) वस्तु सत् रूप है, एक रूप है, नित्यरूप है, कहनेयोग्य है, (च तद्विपक्षाः) व इनके विरोधि कथन जैसे वस्तु असत् है, अनेक रूप है, अनित्य है व कहने योग्य नहीं हैं (ये नयाः) ऐसा जो नयोंका कथन है सो (सर्वथा इति प्रदुष्यन्ति) यदि सर्व प्रकारसे एकान्तसे माने जावें तो सर्व ही यह दोषरूप या मिथ्या ठहर जावेंगे। (ते) आपके मतसे (इह) इस जगतमें (स्यात् इति) यदि ये कथन किसी अपेक्षासे मानेजावें तो (पुष्यन्ति) ये सब कथन बाधा-रहित पुष्ट होजाते हैं।

भावार्थ-वस्तु सर्वथा एकान्तसे सत् है या असत् है, एक रूप है या अनेकरूप है, नित्य है या अनित्य है, वक्तव्य है या अवक्तव्य है ऐसा यदि माना जावे तो वस्तुका स्वरूप मिथ्या हो

जायगा परन्तु यदि किसी अपेक्षासे सत है तब दूसरी अपेक्षासे असत है। किसी अपेक्षासे एकरूप है तब दूसरी अपेक्षासे अनेक रूप है, किसी अपेक्षासे नित्य है तब दूसरी अपेक्षासे अनित्य है, किसी अपेक्षासे वक्तव्य है तब दूसरी अपेक्षासे अवक्तव्य है, ऐसा यदि माना जावे तो ये सब कथन बाधा रहित सिद्ध होजावेंगे। स्यात् सत्, स्यात् असत, स्यात् एकं, स्यात् अनेकं, स्यात् नित्यं, स्यात् अनित्यं स्यात् वक्तव्यं, स्यात् अवक्तव्यं इस तरह स्याद्वाद सिद्धांतके द्वारा कहे जावें तो ये सब नयवाद सत्य हैं। सर्वथा सत आदि कहे जानेपर मिथ्या होजाते हैं। वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा सत् है तब ही पर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत है। वस्तु अखण्ड गुण समुदाय है, इससे एक है। अनेक गुणोंको रखनेवाली है इससे अनेक है। वस्तु अपने स्वरूपसे कभी नाश न होगी इससे नित्य है। पर्यायकी अपेक्षा नाशवंत है इससे अनित्य है। क्रमसे कहनेकी अपेक्षा वक्तव्य है, एक समयमें अनेक गुणोंको एक साथ कहनेकी सामर्थ्य वचनमें न होनेसे अवक्तव्य है। इसतरह भिन्न२ अपेक्षासे ये सब कथन ठीक हैं। यदि सर्वथा ही सत या असत् माना जायगा तो वस्तुका स्वरूप ही विगड़ जायगा। इसलिये हे अरनाथ! आपका अनेकांत मत सच्चा है व एकांत मत मिथ्या है। आप्तमीमांसामें स्वामीने यही बताया है—

> कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
> तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

भावार्थ—आपके मतमें किसी अपेक्षासे अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे वस्तु सत् है। वही वस्तु किसी

अपेक्षासे अर्थात् परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा असत् है। सत्पना व असत्पना दोनों ही वस्तुमें हैं, इसलिये वस्तु दोनोंरूप है। एकसाथ दोनों स्वभावोंको कहा नहीं जासक्ता, इससे वस्तु अवक्तव्य है। इस तरह भिन्न२ नयकी अपेक्षा ये सब कथन ठीक है, सर्वथा सत् या असत् आदि मानना ठीक नहीं है।

पद्धरी छन्द।

सत् एक नित्य वक्तव्य वाक्य, या तिन प्रति पक्षी नय सुवाक्य।
सर्वथा कथनमें दोषरूप, यदि स्याद्वाद हों पुष्ट रूप ॥ १०१ ॥

उत्थानिका—स्यात् शब्दका महात्म्य कहते हैं—

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(तावके न्याये) आपके अनेकांत मतमें (स्यात् शब्दः) स्यात् शब्द जो कथंचित् अर्थमें है अर्थात् जो किसी अपेक्षासे कहनेवाला है वह (सर्वथा नियमत्यागी) वस्तु सर्व प्रकारसे सत्रूप ही है या असत्रूप ही है इत्यादि नियमको हटानेवाला है (यथादृष्टम् अपेक्षकः) जिस तरह प्रमाणज्ञानसे जाना गया है इस तरह अपेक्षाको या दृष्टिबिंदुको या नयको दिखानेवाला है (अन्येषां) अन्य जो एकांतमती (आत्मविद्विषां) अपना ही अपघात या बुरा करनेवाले हैं उनके मतमें (न) यह स्याद् शब्द प्रयोगमें नहीं लाया जाता है।

भावार्थ—हे अरनाथ! आपके अनेकांत मतमें स्यात् शब्दका प्रयोग बहुत ही उचित है। यह शब्द बताता है कि वस्तु किसी अपेक्षासे ऐसी है सर्वथा ऐसी नहीं है। वस्तु सर्वथा सत् है या

असत है, नित्य है या अनित्य है इत्यादि मिथ्या कथनको यह स्यात शब्द हटानेवाला है। तथा वस्तु किसी अपेक्षासे सत् है या असत् है, नित्य है वा अनित्य है इस बातको वैसा ही झलकानेवाला है जैसा प्रमाण ज्ञान श्रुतज्ञानमें दिया गया है। स्यात शब्द वस्तुके यथार्थ स्वरूपको झलकानेवाला है। यह महात्म्य आपके ही अनेकान्त मतमें है। जो मत एकान्तवादी हैं व जो अपना अत्यन्त बुरा करनेवाले हैं उनके यहां स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं है, इसीसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप वे सिद्ध नहीं करसक्ते हैं।

पद्धरी छन्द।

सर्वथा नियमका त्यागकार, जिस नय श्रुत देखा पुष्टकार।
है स्यात् शब्द तुम मत मंझार, निज घाती अन्य न लखें सार ॥१०२॥

उत्थानिका—शंकाकार कहता है कि श्री जिनेन्द्रके मतमें जिस तरह जीवादिवस्तु नित्य आदि स्वभावको धारण करनेवाली मानी गई है वह किसी अपेक्षासे मानी गई है कि सर्वथा मानी गई है। यदि सर्वथा मानी गई है तो एकांतवादका प्रसंग आता है, यदि किसी अपेक्षासे मानी गई है तो अनवस्था दोष आता है, इस शंकाका समाधान आचार्य करते हैं—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणान्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात ॥१०३॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(प्रमाणनयसाधनः) प्रमाण और नयसे सिद्ध होनेवाला (अनेकांतः अपि) अनेकांत भी (न केवल सम्यक् एकांत) (अनेकांतः) अनेकांत स्वरूप है। अर्थात् किसी अपेक्षासे अनेकांत है व किसी अपेक्षासे एकांत है (ते)

आपके मतसे (प्रमाणात्) प्रमाणकी अपेक्षासे जो सर्व धर्मोंको एक साथ जाननेवाला है (अनेकांतः) वह अनेकांत अनेक धर्म स्वरूप है व (अर्पितात् नयात्) किसी विशेष नयकी मुख्यतासे (तद् एकांतः) वह अनेकांत एकांत स्वरूप है अर्थात् एक स्वभावको बतानेवाला है।

भावार्थ-हे अरनाथ स्वामी! आपके मतमें अनेकांत भी किसी अपेक्षा अनेकांत है किसी अपेक्षासे एकांत है। यह मिथ्या एकांत विना अपेक्षाके नहीं है किन्तु अपेक्षा सहित सम्यक् एकांत है। प्रमाण और नयसे अनेकांत स्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है। प्रमाण उसे कहते हैं जो सर्व धर्मोंको विषय करनेवाला है। नय उसे कहते हैं जो उनमेंसे एक किसी धर्मको विषय करनेवाला है। प्रमाणकी अपेक्षासे अनेकांत२ स्वरूप है अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप वस्तु अनेक धर्म स्वरूप ही दिखती है। वही अनेकांत रूप वस्तु जब किसी विशेष नयकी अपेक्षासे देखी जाती है तब एक किसी धर्म स्वरूप दिखती है, उस समय अन्य धर्म गौण होते हैं। तब वह एकांत स्वरूप कही जाती है। इस तरह अपेक्षा सहित मानेसे कोई भी दोष नहीं आता है। अपेक्षा रहित अनेकांत व एकांत सब सदोष होते हैं। वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है, नित्य अनित्य, एक अनेक आदि स्वरूप है। इसीको समझनेके लिये प्रमाण और नय दो साधन हैं। प्रमाणकी अपेक्षा वह अनेक धर्म स्वरूप झलकती है नयकी अपेक्षा वह एक एक धर्म स्वरूप झलकती है। नय किसी एकको मुख्य करके व दूसरे धर्मोंको गौण करके बताता है। वह एक धर्मको मुख्य करके कहते हुए अन्य

धर्मोंका अभाव नहीं करता है। इस तरह स्याद्वादसे निर्बाध वस्तु सिद्ध होती है।

पद्धरी छन्द।

है अनेकान्त भी अनेकान्त, साधत प्रमाण नय बिना ध्वांत।
स प्रमाण दृष्ट है अनेकान्त, कोई नय मुखसे है एकांत ॥१०३॥

उत्थानिका—अब इस विषयको संकोच करते हैं—

इति निरुपमयुक्तिशासनः प्रियहितयोगगुणानुशासनः।
अरजिनदमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनायकः ॥१०४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(अरजिन) हे अरजिनेन्द्र! (इति निरुपमयुक्तिशासनः) इस तरह आपका मत उपमा रहित निर्बाध प्रमाणकी युक्तियोंसे सिद्ध है तथा (प्रियहितयोगगुणानुशासनः) वह मत सुखदाई व हितकारी मन, वचन, कायकी क्रियाका व सम्यग्दर्शनादि गुणोंका उपदेश करनेवाला है। ऐसे शासनके स्वामी (त्वम्) आप (दमतीर्थनायकः) इंद्रिय व कषायको विजय करनेवाले धर्मतीर्थके स्वामी हैं (इव) आपके समान (कः) और कौन है जो (सतां प्रतिबोधनाय) सज्जन पण्डितोंको यथार्थ ज्ञान देसक्ता है?

भावार्थ—हे अरनाथ! आपका शासन ही यथार्थ प्रमाणसे सिद्ध है तथा वही आत्महितका सच्चा मार्ग बतानेवाला है। आप ही सच्चे जिनधर्मके उपदेष्टा हैं। सज्जन जन यही समझते हैं कि आपके समान कोई भी सच्चा बोध देनेको समर्थ नहीं है।

पद्धरी छन्द।

निरुपम प्रमाणसे सिद्ध धर्म, सुखकर हितकर गुण कहत मर्म।
अरजिन तुम सम जिन तीर्थनाथ, नहिं कोई भवि बोधक सनाथ ॥१०४॥

उत्थानिका-आचार्य इस स्तुतिका फल चाहते हैं—

मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपतः ।
गुणकृशमपि किञ्चनोदितं मम भवता दुरिताशनोदितम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(वरद) हे उत्कृष्ट मोक्षपदके दाता! (मतिगुणविभवानुरूपतः) अपनी बुद्धिकी शक्तिके अनुकूल (आगमदृष्टिरूपतः) जिनागममें जैसे आपके गुण कहे गए हैं उसीके समान (त्वयि) आपके लिये (किंचन् गुणकृशम् अपि उदितं) जो कुछ भी गुणोंका अंश मात्र मेरेसे वर्णन किया गया है वह (मम दुरितासनोदितम् भवतात्) मेरे पापोंको नाश करनेमें ही समर्थ होवें ।

भावार्थ-यहां स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि मैं श्री अर जिनेन्द्रके गुणोंके कहनेमें असमर्थ हूं तथापि जो कुछ मेरे मति श्रुत ज्ञानका अंश है उसके बलसे मैंने कुछ गुणोंका अंश कहा है वह भी अपनी मनोकल्पनासे नहीं कहा है, किन्तु जिन आगममें जैसा आपके गुणोंका निरूपण है उसीके अनुसार कुछ कहा है । यह स्तुति इसीलिये मेरेसे की गई है कि जो कुछ कर्म मैल मेरे आत्मामें है वह इस स्तुतिके द्वारा नाशको प्राप्त हो और मेरा आत्मा पवित्र होजावे ।

पद्धरी छन्द ।

मति अपनी के अनुकूल नाथ, आगम जिन कहता मुक्तिनाथ ।
तद्वत् गुण अंश कहा मुनीश, जासे क्षय हों मम पाप ईश ॥१०५॥



(१९) श्री मल्लिनाथ स्तुतिः।

यस्य महर्षेः सकलपदार्थप्रत्यवबोधः समजनि साक्षात्।
सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलिभूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१०६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यस्य महर्षेः) जिस मल्लिनाथ महाऋषिके (सकलपदार्थप्रत्यवबोधः) सम्पूर्ण पदार्थोंका पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान (साक्षात्) अत्यन्त प्रत्यक्षरूपसे (समजनि) उत्पन्न हुआ तब (सामरमर्त्यं) देव व मानव सहित (सर्वं जगत् अपि) सर्व ही जगतके प्राणियोंने (प्रांजलिभूत्वा) हाथोंको जोड़कर (प्रणिपतति स्म) नमस्कार किया।

भावार्थ-यहांपर श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरकी केवलज्ञानकी उत्पत्तिके समयका दृश्य दिखलाया है। प्रभुने महान शुक्लध्यानको जगाया उसके प्रभावसे जब घातीय कर्मोंका नाश किया तब प्रभुके पूर्ण सर्वोत्कृष्ट असहाय प्रत्यक्ष आत्मीक स्वभाव रूप केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उस समय चार प्रकारके देव व मानवोंने वारवार हाथ जोड़कर प्रभुको अर्हत परमात्मा मानकर नमस्कार किया।

प्रभु केवलज्ञानी होकर अपने ज्ञान द्वारा सर्वव्यापी होजाते हैं तब उनको विष्णु कह सकते हैं, जैसा आत्मस्वरूपमें कहा है-

विश्वं हि द्रव्यपर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम्।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ॥ ३१ ॥

भावार्थ-जिसने तीन लोकके व अलोकके सर्व पदार्थोंके द्रव्य गुण पर्यायोंको एक काल जान लिया व जिसका ज्ञान सबमें फैल गया ऐसा जगतव्यापी अरहंत ही विष्णु कहलाता है।

छन्द त्रोटक।

जिन मल्लिमहर्षि प्रकाश किया, सब वस्तु सुबोध प्रत्यक्ष लिया।
तब देव मनुज जग प्राणि सभी, कर जोड़ नमन करते सुखधी॥१०६॥

उत्थानिका—भगवानके शरीर व वचनकी महिमा कहते हैं—

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेपा।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून्॥१०७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यस्य च कनकमयी इव मूर्तिः) जिन मल्लीनाथका शरीर मानो सुवर्णसे रचा गया है ऐसा सुन्दर सुवर्णमई है (स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेपा) जिसकी फैलती हुई दीप्तिसे शरीरके चारों तरफ भामंडल बन गया है (वाक् अपि) जिनकी वाणी भी (तत्त्वं कथयितुकामा) यथार्थ वस्तुके स्वरूपको कहनेको समर्थ है तथा वह वाणी (स्यात्पदपूर्वा) स्यात् या कथंचित शब्दके साथमें चिन्हित होती हुई (साधून्) साधुओंको (रमयति) रंजायमान करती है।

भावार्थ—श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरके शरीरका वर्ण सुवर्णमई था—केवलज्ञान अवस्थामें वह परमौदारिक होगया था। उसकी दीप्ति कोटिसूर्यसे अधिक चमकदार थी तथा उसका प्रभामंडल रचगया था। भगवानकी वाणी भी यथार्थ वस्तुके स्वरूपको प्रकाश करनेवाली थी। जिस वाणीको सुनकर साधुजन परम प्रफुल्लित होगए थे। भिन्न२ अपेक्षासे वस्तुके स्वरूपको विचारते हुए जब साधुगण स्यात् शब्दको कथनके पहले लगाकर विचार करते थे तब उनको नित्य अनित्य एक अनेक आदि अनेकांत मई पर्यायका आनन्द आता था तथा वे आत्माको अनात्मासे सिद्ध समझकर आत्मामें मगन हो परम आनन्दको पाते थे।

अरहंत परमात्माका स्वरूप श्री पदमचंद्रमुनिकृत धम्मरसायणमें कहा है:—

संपुण्णचंदवयणो जडमउडविवज्जिओ णिराहरणो ।
पहरणजुवइविमुक्को संतियरो होइ परमप्पा ॥ १२२ ॥
लोयालोयविदण्हू, तह्मा णामं जिणस्स विण्हुत्ति ।
जह्मा सीयलवयणो तह्मा सो वुचए चंदो ॥ १२६ ॥

भावार्थ–अरहंत परमात्माका मुख पूर्ण चन्द्रके समान है। जटा मुकुटसे रहित है, आभरण विना है, व वस्त्र व स्त्री आदि संगसे रहित है तथा परम शांतिकारक है। क्योंकि वे लोकालोकके ज्ञाता हैं। इसलिये जिनेन्द्रनाथको विष्णु कहते हैं और उनकी वाणी परम शीतल है इसलिये उनको चंद्रमा कहते हैं।

छन्द त्रोटक।

जिनकी मूरति है कनक मयी, प्रसरी भामंडल रूप मयी।
वाणी जिनकी सत्तत्व कथक, स्यात्पदपूर्व यतिगणरंजक ॥१०७।

उत्थानिका–शंकाकार कहता है कि आपकी वाणी यदि प्रमाणसे वाधित हो तब उनको कैसे रंजायमान कर सकेगी इसका समाधान करते हैं।

यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥१०८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(यस्य) जिस भगवानके (पुरस्तात्) सामने (प्रतितीर्थ्याः) एकांत मतवादी (विगलितमाना) अपने मानको खण्डन किये हुए (भुवि) पृथ्वीमें (न विवदन्ते) वाद नहीं कर रहे हैं (भूः अपि) पृथ्वी भी (प्रतिपदम्) जहां भगवानके चरण पड़ते हैं (जातविकोशाम्बुजमृदुहासा) फूले हुए

र्णमई कमलोंके कोमल हास्यको झलकाती हुई (रम्या) शोभनीक (आसीत्) होजाती है।

भावार्थ—भगवानकी वाणी ऐसी सत्यार्थ व अबाधित है कि जिसको सुनकर एकांत मतवालोंका मान गलित होजाता है, वे ऐसे लज्जित होजाते हैं कि आपके सामने अपने एकांतवादका प्रकाश नहीं कर सके। यही कारण है कि बड़े२ बुद्धिमान गणधरदेव आदि आपकी वाणी सुनकर संतुष्ट होजाते हैं। उनका मन प्रफुल्लित होजाता है। भगवानकी ऐसी महिमा है कि पृथ्वी भी आनन्दसे मग्न होजाती है। उसका झलकाव तब होता है जब तीर्थंकर भगवानका विहार होता है। उस समय आकाशमें देवतागण पंद्रह पंद्रह सुवर्णमई कमलोंकी पंद्रह पंक्तियां रचते जाते हैं वे कमल बड़े कोमल विकसित होते हैं। उनही पर प्रभुका विहार होता है। इस रचनाको कविने इस अर्थमें लिया है मानों पृथ्वी आनन्दमें मृदुतासे हंस रही है। प्रयोजन कहनेका यह है कि जहां जहां प्रभुका विहार व विराजना होता है सब प्राणी बड़े आनंदित रहते हैं। धम्म रसायणमें अरहंतकी महिमा बताई है:—

अव्वाबाहमणंतं जह्मा सोक्खं करेइ जीवाणं।
तह्मा संकरणामो होइ जिणो णत्थि संदेहो ॥ १२५ ॥

भावार्थ—क्योंकि जिनेन्द्र भगवानके प्रतापसे जीवोंको बाधा रहित अनंत सुखकी प्राप्ति होती है इसलिये जिनेन्द्र वास्तवमें शंकर हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

छन्द त्रोटक।

जिन आगे होइ गलित माना, एकान्ती तजैं वाद थाना।
विकसित सुवरण अम्बुज दलसे, भू भी हंसती प्रभुपद तलसे ॥१०८॥

उत्थानिका-अब भगवानके वचनोंको ग्रहण करनेवाले शिष्योंका वर्णन करते हैं—

यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशोः शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत।
तीर्थमपि स्वं जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥१०९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यस्य जिनशिशिरांशोः) जिस मल्लिनाथ स्वामीरूपी चन्द्रमाकी परम शीतल वचनरूपी किरणोंके (समंतात्) सर्व तरफ (शिष्यकसाधुग्रहविभवः) उनके शिष्य साधुगण-रूपी ग्रह तारकोंकी सम्पत्ति (अभूत) होती हुई। (स्वं तीर्थं अपि) जिनका आत्मानुभवरूपी तीर्थ भी (जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम्) संसाररूपी समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको तारनेके लिये मुख्य उपाय होता हुआ।

भावार्थ-यहां कविने श्री मल्लिनाथस्वामीको चंद्रमाकी उपमा दी है। जैसे चन्द्रमाकी किरणें परम शीतल फैलती हैं वैसे भग-वानकी वाणीरूपी किरणें परम शांति देनेवाली चारों तरफ फैलती हुईं। जैसे चंद्रमाके चारों तरफ ग्रह व तारागण शोभते हैं वैसे श्री मल्लिनाथ स्वामी तीर्थंकरके चारों तरफसे ही समवशरणमें उनके शिष्य साधुगणोंका समूह शोभता हुआ। भगवानकी वाणीसे जो आत्मधर्म प्रगटा, जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रकी एकता रूप परम आत्मानुभवरूप है वह सच्चा धर्मरूपी जहाज है। इस भयानक संसारसागरमें डूबते हुए भयभीत प्राणियोंको तारनेके लिये वही समर्थ है। जो भव्यजीव निश्चय रत्नत्रयमई आत्मानु-भवका शरण लेते हैं वे अवश्य कर्म काटकर मुक्त होजाते हैं। ऐसा ही यथार्थ मोक्षमार्ग है। नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें कहा है—

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ-जो आत्मा वीतरागी होकर अपने आत्माका आत्मा ही के द्वारा अपने आत्मामें श्रद्धान करता हुआ अनुभव करता है वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्ररूप होता हुआ निश्चयसे मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेंद्रका कथन है।

छन्द त्रोटक।

जिन चंद्र वचन किरणें चमकें, चहुं ओर शिष्य यति ग्रह दमकें।
निज आतम तीर्थ अति पावन है, भवसागर जन इक तारन है॥१०९॥

उत्थानिका-शंकाकार कहता है कि पहले कहे विशेषण सहित भगवानने किसतरह कर्मोंका क्षय किया जिससे उनको सर्व पदार्थोंका ज्ञान हुआ व उनको मोक्ष प्राप्त हुआ, इसका समाधान करते हैं—

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥११०॥

अन्वयार्थ सहित भाषा टीका-(यस्य च) जिस मल्लिनाथकी (शुक्लं ध्यानं) शुक्लध्यानरूपी (परमतपोग्निः) उत्कृष्ट तपरूपी अग्निने (अनंतं दुरितं) अनंत कर्मको (अधाक्षीत्) भस्म कर डाला (तं) उस (कृतकरणीयं) कृतकृत्य (जिनसिंहं) जिनेन्द्रोंमें प्रधान (अशल्यं) व मायादि शल्यरहित (मल्लि) मल्लिनाथ भगवानकी (शरणं इतोऽस्मि) शरणमें मैं प्राप्त होता हूं।

भावार्थ-श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरने प्रथम पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यानके प्रभावसे तो मोहनीय कर्मका नाश किया फिर

एकत्ववितर्क अविचार नाम दूसरे शुक्लध्यानकी अग्निसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्मका नाश किया। इस तरह प्रभु अर्हंत परमात्मा हुए। फिर अयोग गुणस्थानमें व्युपरतक्रियानिवृत्ति लक्षण चौथे शुक्लध्यानके द्वारा शेष चार अघाति कर्मोंको भी भस्म कर डाला। जिन आठ कर्मोंका अनादिसे प्रवाहरूप सम्बंध था व जिनका अंत करना अति कठिन था उन सब कर्मोंको प्रभुने आत्मध्यानकी अग्निसे जला डाला। इसतरह मल्लिनाथ भगवान सर्व कर्मोंसे रहित होकर मुक्त होगए। प्रभुने जो कुछ करने योग्य कार्य था उसको कर डाला। अब कोई कार्य करना शेष न रहा। प्रभुका आत्मा बिलकुल निर्मल होगया। कोई माया, मिथ्या, निदान शल्य उनकी आत्मामें नहीं रही। ऐसे शुद्ध परमात्मा श्री मल्लिनाथकी शरणमें मैं प्राप्त होता हूं जिससे मेरा आत्मा भी पवित्र होजावे। श्री नागसेन मुनिने तत्त्वानुशासनमें कहा है:—

वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥२८९॥

अर्थात्—वज्रवृषभनाराच संहननधारी महात्मा चार प्रकार शुक्लध्यानको ध्यायकर व आठों ही कर्मोंका क्षय कर अविनाशी मोक्ष अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

छन्द त्रोटक।

जिन शुक्ल ध्यान तप अग्नि दली, जिससे कर्मौघ अनंत जली।
जिनसिंह परम कृतकृत्य भये, निःशल्य मल्लि हम शरण गये ॥११०॥



(२०) श्री मुनिसुव्रत जिन स्तुतिः।

अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत्॥१११॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिः) जो मुनियोग्य शोभनीक व्रतोंमें निश्चल स्थिति रखनेवाले हैं, (मुनिवृषभः) जो मुनियोंमें प्रधान मुनिनाथ हैं, (अनघः) व जिन्होंने चार घातीय कर्मरूपी पापको दूर कर डाला है ऐसे (मुनिसुव्रतः) श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर (भवान्) आप (मुनिपरिषदे) मुनियोंकी सभामें अर्थात समवशरणमें (निर्बभौ) इस तरह शोभते भये (उडुपरिषत् परिवीतसोमवत्) जिस तरह चन्द्रमा नक्षत्र व तारागणोंकी सभासे वेष्टित शोभता है।

भावार्थ-यहां भी कविने श्री मुनिसुव्रतनाथके नामकी सार्थकता दिखाई है कि मुनि अवस्थामें जिस व्यवहार व निश्चयचारित्रकी आवश्यक्ता है उन सबके भले प्रकार धारण करनेवाले हैं-अपने मुनियोग्य व्रतोंमें भले प्रकार स्थित हैं। इसीके प्रभावसे प्रभुने घातिया कर्मोंका नाश किया और वे मुनियोंमें प्रधान स्नातक पदधारी अरहंत होगए। तब इन्द्रादि देवोंने समवशरणकी रचना की उसके भीतर अष्ट प्रातिहार्य सहित भगवान विराजते हुए मुनिगण सहित ऐसे शोभते हुए जिस तरह चंद्रमा तारागण सहित शोभता है। धम्मरसायणमें कहा है कि:—

सिंहासणछत्तत्तयदिव्वोझुणिपुप्फविट्ठिचमराईं।
भामण्डलदुंदुहिओ वतरू परमेट्ठि चिण्हयं॥ १२१॥

भावार्थ-जब अरहंत परमेष्टि मुनिनाथ होते हैं तब ये आठ

चिन्ह प्रगट होते हैं-१ सिंहासन, २ छत्रत्रय, ३ दिव्यध्वनि, ४ पुष्पवृष्टि, ५ चमरोंका ढलना, ६ भामण्डल, ७ दुंदुभी बाजोंका बजना, ८ अशोक वृक्षका होना।

स्रग्विणी छन्द।

साधु उचित तत्वमें सुनिश्चित थये, कर्म हर तीर्थंकर साधु सुव्रत भये।
साधुगणकी सभामें सुशोभित भये, चंद्र जिम उडुगणोंसे सुवेष्ठित भये॥

उत्थानिका-भगवानके शरीरके महात्म्यको कहते हैं—

परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया।
तव जिनतपसः प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम्॥११२॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(जिन) हे जिनेन्द्र! (तव) आपका शरीर (परिणतशिखिकण्ठरागया) युवान मोरके कण्ठके नील रंगके समान नील रंगसे व (कृतमदनिग्रहविग्रहाभया) कामदेवके मदको जीतनेवाले ऐसे परम शांत शरीरकी दीप्तिसे (तपसः प्रसूतया) व तपके द्वारा उत्पन्न हुई परम शोभासे (ग्रहपरिवेषरुचा इव) पूर्ण चंद्रमंडलकी चमकके समान (शोभितं) शोभायमान होता हुआ।

भावार्थ-हे मुनिसुव्रतनाथ! आपके परमौदारिक शरीरकी अपूर्व महिमा है। आपके शरीरका वर्ण नीलरंगका है, जैसे युवान मोरके कण्ठका नीला रंग होता है। आपने कामभावको जीत लिया है इसलिये आपके शरीरमें ब्रह्मचर्यपनेकी परम शांत निर्विकार आभा चमक रही है। आपने जो परम शुक्लध्यान तप किया उसके प्रभावसे आपके शरीरमें सात धातु न रहीं। आपका शरीर स्फटिकके समान निर्मल होगया। आपका शरीर ऐसा चमक रहा है जैसा पूर्णमासीका चंद्रमाका मण्डल शोभता है। आप्तस्वरूपमें कहा है—

सर्वलक्षणसम्पूर्ण निर्मले मणिदर्पणे।
संक्रांतिबिम्बवद्दृश्यं शांतं संचेतयेऽद्भुतं ॥ ६० ॥

भावार्थ—श्री अरहंतका शरीर सर्व लक्षणोंसे पूर्ण परम शांत अद्भुत ऐसा शोभता है जैसे निर्मल मणिके दर्पणमें उकेरी हुई शांति मूर्ति हो। वास्तवमें अरहंतके शरीरकी महिमा वचन अगोचर है।

स्रग्विणी छन्द।

मोरके कंठ सम नील रंग रंग है, काममद जीतकर शांतिमय अंग है।
नाथ तेरी तपस्या जनित अंग जो, शोभता चंद्रमंडल मई रंग जो ॥११॥

उत्थानिका—फिर भी शरीरकी शोभाको कहते हैं—

शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसोऽयमीहितम्॥१२॥

अन्वयार्थ भाषा सह टीका—(यते) हे साधु! (तव निजं वपुः) आपका अपना शरीर (शशिरुचिशुचि) चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल है (शुक्ललोहितं) उसमें सफेद रंगका लोहू था (सुरभितरं) बहुत ही सुगंधित है (विरजः) कोई धूल व मैलसे संयुक्त नहीं है (शिवं) अति सुन्दर व शांत है तथा (अतिविस्मयं) अति आश्चर्यको उपजानेवाला है (यदपि च वाङ्मनसोऽयम् ईहितम्) ऐसी ही शुभ व शांत आपकी वचन व मनकी चेष्टा है।

भावार्थ—तीर्थंकर भगवानके शरीरमें जन्मसे ही खून सफेद रंगका होता है। शरीर चंद्रमाके समान निर्मल होता है। शरीरमें बड़ी भारी सुगन्ध होती है। कोई मैल नहीं होता है। केवलज्ञान अवस्थामें तो वह शरीर परमौदारिक, परम सुन्दर, परम कांतिमय, परम शांत, परम आश्चर्यकारी होजाता है। इसी तरह भगवानका

द्रव्यमन भी बड़ा ही शुभ रहता है। तथा भगवानकी वाणी भी परम पवित्र व हितकारी प्रगट होती है।

स्रग्विणी छन्द।

आपके अंगमें शुक्ल ही रक्त था, चंद्रसम निर्मलं रजरहित गंध था।
आपका शांतिमय अदभुतं तन जिनं, मनवचनका प्रवर्तन परम शुभ गणं॥

उत्थानिका—श्री जिनेश्वरकी दिव्यध्वनिसे यह सिद्ध होता है कि भगवान सर्वज्ञ हैं ऐसा आचार्य कहते हैं—

स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत्प्रतिक्षणम्।
इति जिनसकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥११४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(जिन) हे जिनेन्द्र! (ते वदतां वरस्य इदं वचनं) आप उपदेश दाताओंमें श्रेष्ठ हैं आपका यह वचन कि (चरं अचरं च जगत्) चेतन व अचेतन रूप यह जगत् (प्रतिक्षणं) हरएक समय (स्थितिजननिरोधलक्षणं) उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षणवाला है (इति) यही (सकलज्ञलांछनं) इस बातका चिन्ह है कि आप सर्वज्ञ हैं।

भावार्थ—सर्व पदार्थोंकी जैसी अवस्था है उस सबके आप ज्ञाता हैं। इसीलिये आपने जगतका जैसा वास्तवमें स्वरूप है वैसा ही कहा है। यही इस बातका चिह्न है कि आप सर्वज्ञ हैं व इसीलिये आप परम आप्त हैं। इस लोकमें कोई लोग जगतको सर्वथा नित्य मानते, कोई सर्वथा क्षणिक मानते। परन्तु यह चर अचररूप या चेतन अचेतन रूप जगत हरसमय नित्य अनित्य स्वरूप है या उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जगत जीव अजीव द्रव्योंका समुदाय है। ये सब द्रव्य सतरूप हैं। न कभी उपजे

हैं न कभी नष्ट होंगे। परन्तु इनमें परिणमन या पर्यायका पलटना सदा हुआ करता है। पर्याय क्रमवर्ती होती है। इसलिये पहली पर्यायका नाश होकर उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है, इसलिये यह जगत पर्यायके पलटनेकी अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है या अनित्य है। परन्तु गुणोंके बने रहनेकी अपेक्षा ध्रौव्य या नित्य है। सुवर्ण बना रहता है उससे कुण्डल, कड़ा, बाली पर्यायें उत्पन्न होती हैं व नाश होती हैं। जीव वही बना रहता है, यही कभी देव, फिर मनुष्य, फिर पशु, फिर नारकी इस तरह पर्यायोंको बदला करता है। शुद्ध द्रव्योंमें मात्र स्वभाव सदृश पर्यायें होती हैं। कोई द्रव्य विना परिणमनके नहीं रहता है, इसलिये द्रव्य हरएक क्षण उत्पत्ति विनाश व ध्रौव्य स्वरूप है। ऐसा ही सच्चा स्वरूप आपने कहा है। इसलिये आप वास्तवमें सर्वज्ञ हैं। मोक्षपंचाशिकामें कहा है—

गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते।
उत्पत्तिव्ययनैयत्यं पर्यायाः तस्य चाश्वताः ॥ ८ ॥

भावार्थ—द्रव्य वही कहा जाता हैं जो गुण पर्यायोंको सदा रखनेवाला हो। द्रव्यमें उत्पत्ति व्यय व ध्रौव्यपना सदा रहता है। गुण द्रव्यके साथ सदा रहते हैं, यही ध्रौव्यपना है। पर्यायोंमें सदा उत्पत्ति विनाश हुआ करता है।

स्रग्विणी छन्द।

जनन व्यय ध्रौव्य लक्षणं जगत् प्रतिक्षणं।
चित अचित आदि पूर्ण यह हरक्षणं॥
यह कथन आपका चिन्ह सर्वज्ञका।
है वचन आपका आप्त उत्कृष्टका॥ ११४॥

उत्थानिका—भगवानने आठ कर्मोंका नाश किया व मोक्ष पाई, स्तुतिकार भी उसी फलकी भावना करता है:—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ॥११५

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(भवान्) आपने (निरुपमयोगबलेन) उपमा रहित परम शुक्लध्यानके बलसे (अष्टकं दुरितमलकलंकं) आठ कर्म महापाप रूप मल कलंकको (निर्दहन्) भस्म कर दिया और आप (अभवसौख्यवान्) संसारातीत अतींद्रिय अनंत सुखके धनी (अभवत) होगए। (मम अपि) मेरे लिये भी (भवोपशांतये भवतु) आप संसारके नाशके लिये कारण होवें।

भावार्थ—आत्मामें अनादिकालसे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका मैल लगा हुआ था। उस मैलको हे मुनिसुव्रतनाथ! आपने आत्मध्यान रूई परम शुक्लध्यानके बलसे जला डाला। आपने अपने आत्माको परम शुद्ध कर लिया तब स्वाभाविक अतींद्रिय इन्द्रिय रहित आनंदके आप भोक्ता होगए। आप मोक्षमें निरन्तर स्वात्मीक सुखका आनन्द लेरहे हो। हे प्रभु! मैं भी स्तुति करके यही चाहता हूं कि मेरा भी यह संसार नाश हो और मैं भी आत्मीक सुखको निरन्तर भोगनेवाला होजाऊं। वास्तवमें आत्मीक सुख ही सच्चा सुख है।

नागसेन मुनि तत्त्वानुशासनमें कहते हैं:—

आत्मायत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरं।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

भावार्थ- जो आत्माहीके आधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रिय सुखसे विपरीत अतीन्द्रिय है, अविनाशी है व जो चार घातिया कर्मोंके नाशसे उत्पन्न होता है वही मोक्षसुख है।

स्रग्विणी छन्द।

आपने अष्ट कर्म कलंकं महा, निरुपमं ध्यान बलसे सभी है दहा।
भवरहित मोक्ष सुखके धनी होगए, नाश संसार हो भाव मेरे भए॥११५॥

(२१) श्री नमिनाथ जिन स्तुतिः।

स्तुतिस्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमपि पूज्यं नमिजिनम्॥११६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(स्तोतुः साधोः) स्तुति करनेवाले साधुजनके द्वारा की गई आपकी (स्तुतिः) स्तुति (तदा) स्तुति करते समय (कुशलपरिणामाय) शुभ परिणामोंको अवश्य करनेवाली है। उससमय (स स्तुत्यः मा भवेत्) जिसकी स्तुति की गई है वह होवे वा न होवे (वा ततः फलं अपि) अथवा उस स्तुतिसे स्वर्गादि फल होवे या न होवे (तस्य च सतः) स्तुति करनेवालेकी विद्यमानता जरूर है, अर्थात् स्तुति करनेवाला जब ही स्तुति करेगा तब ही उसके परिणाम निर्मल हो जांयगे। (जगति) इस जगतमें (श्रायसपथे) मोक्षमार्ग (एवं स्वाधीनात्) इस तरह स्वाधीन होनेसे (सुलभे) सुलभ होनेपर (किं विद्वान्) क्या विद्वानजन (त्वां अभिपूज्यं नमिजिनं) आप पूज्यनीय नमि

तीर्थंकरकी (सततं न स्तुयात) सदा स्तुति नहीं करेगा ? अर्थात अवश्य आपकी सदा स्तुति करेगा।

भावार्थ—यहां यह जैन सिद्धांत दिखलाया है कि परिणामोंका निर्मल होना यही धर्मात्मा साधकका हेतु होता है। निर्मल भावोंसे ही पापोंका क्षय होता है व जितना उनमें शुभ रागभाव होता है उतना पुण्य कर्मका बन्ध होता है। यह नियम है तब हरएक साधकको अपने भावोंकी निर्मलताका यत्न करना योग्य है। श्री जिनेन्द्रकी स्तुति जिस समय जो करेगा उसी समय उसके परिणाम निर्मल हो जांयगे। स्तुति करते समय जिसकी स्तुति की जाती है वह साक्षात मौजूद हो व न हो, या उसकी प्रतिमा हो या न हो, यदि वह या उसकी प्रतिमा हो तो स्तुतिकारके भावोंमें विशेष निर्मलता होनेका निमित्त है। यदि कदाचित स्तुत्य व उसकी प्रतिमा न भी हो तौभी स्तुति भावोंको निर्मल बना देगी। तथा स्तुतिका फल स्वर्गादि हो व न हो, यह भी कोई कांक्षा स्तुतिकारके मनमें न होनी चाहिये। जहां स्तुतिकार भाव सहित स्तुति करेगा उसके भाव निर्मल होजांयगे उससे मोक्षमार्गका लाभ होजायगा। स्तुति करते२ आत्मानुभव जागृत होजाता है। आचार्य कहते हैं कि जब मोक्षमार्ग इतना सुगम है व इतना स्वाधीन है कि मात्र अपने परिणामोंपर है तब हरएक विद्वान परिणामोंकी उज्वलताके लिये हे श्री जिनेन्द्र इन्द्रादि पूज्य नमिनाथस्वामी ! आपकी स्तुति अवश्य करेगा। प्रयोजन यह है कि यदि कोई ज्ञानी एकांत वनमें है या शून्य धामें है जहां कोई मंदिर व प्रतिमा भी नहीं है, परन्तु यदि वह अपने भावोंको

जोड़कर श्री जिनेन्द्र परमात्माकी स्तुति करेगा तो उसके भाव अवश्य मोक्षमार्गरूप होजायगे। इसलिये साधकको उचित है कि वह परमात्माके गुणानुवाद गाकर अपने भावोंको निर्मल किया करे। जिनेन्द्रकी स्तुति परम कल्याणकारिणी है। पात्रकेसरिस्तोत्रमें कहा है:—

इत्यपि गुणस्तुतिः परमनिर्वृतेः साधनी—
भवत्यलमतो जनो व्यवसितश्च तत्कांक्षया।
विरंस्यति च साधुना रुचिरलोभलाभे सता—
मनोऽभिलषितादितेव ननु च प्रयासावधिः॥ ४९॥

भावार्थ—इसतरह श्री जिनेन्द्रके गुणोंकी स्तुति उत्कृष्ट सुख या मोक्षकी साधक है। इसलिये जो मोक्षका इच्छुक है वह उद्यमी मानव स्तुतिको परम कार्यकारी समझता है। जब साधुको परम सन्तोष या अलोभका लाभ होजाता है तब यह मोक्षकी इच्छा भी नहीं रहती है। सज्जन पुरुषोंका प्रयत्न वहीं तक होता है जहांतक मन इच्छित कार्य न हो। जहांतक शुभ राग होता है वहांतक स्तुति करना कार्यकारी है। जब स्तुतिकर्ताको पूर्ण वैराग्य होजाता है तब स्तुति भी बंद हो जाती है व मोक्षका राग भी जाता रहता है। जहांतक पूर्ण वीतरागता न हो वहांतक श्री जिनेंद्रगुणकी स्तुति परिणामोंकी निर्मलताके लिये प्रबल साधन है।

स्रग्विणी छन्द।

साधु जब स्तुति करे भाव निर्मल धरे।
स्तुत्य हो वा नहीं फल करे ना फरे॥
इम सुगम मोक्ष मग जग स्व आधीन है।
नमिजिनं आप पूजें गुणाधीन है॥११६॥

उत्थानिका–भगवानने ऐसा क्या कार्य किया जिससे वे पूज्य हुए सो कहते हैं:—

त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी॥
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-।
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः॥११७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(धीमान्) हे सर्वज्ञ भगवान! (त्वया) आपने (ब्रह्मप्रणिधिमनसा) अपने आत्मस्वभावमें एकाग्र परिणतिमई ध्यानके द्वारा (जन्मनिगलं) संसारके बंधनको (समूलं) मूल सहित (निर्भिन्नं) नष्ट कर डाला (त्वं) आप ही (विदुषां) विद्वानोंके लिये (मोक्षपदवी अस्ति) मोक्षमार्ग हो अर्थात् आपने मोक्षमार्ग बताया तथा हे (भगवन्) सन्चाल (त्वयि) आपके भीतर (ज्ञानज्योतिः विभवकिरणैः भाति) केवलज्ञानमई ज्योति अपनी संपूर्ण शक्तिमई किरणोंसे प्रकाशमान है। (अन्यमतयः) आपके सामने अन्य एकांतमती (शुचिरवौ खद्योता इव अभूवन्) आषाढ कालमें जब सूर्य निर्मल होता है उससमय जैसे जुगनू चमकते हैं ऐसे होजाते भए।

भावार्थ–यहांपर यह बताया है कि नमिप्रभु इसलिये पूज्यनीक हुए कि उनमें अरहंत आप्तके योग्य जिन तीन विशेषणोंकी आवश्यकता है वे सब प्राप्त होते भए। प्रभुने पहले तो शुक्लध्यानके बलसे घातिया कर्मोंका नाशकर डाला। इससे वे अठारह दोष रहित परम वीतराग होगए तथा प्रभुने केवलज्ञानको झलकाया जिससे सर्व द्रव्योंके सर्व गुण पर्यायोंको एक ही काल जान लिया,

तीसरे प्रभुने भव्यजीवोंको मोक्षमार्गका सच्चा उपदेश दिया। प्रभुका अनेकांतमई उपदेश आषाढ़ मासके निर्मल सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान होता हुआ। आपके उपदेशके सामने एकांतमतियोंका उपदेश ऐसा तुच्छ भासता भया जैसे सूर्यके सामने जुगनू कीटोंका प्रकाश लुप्त हो जाता है।

वास्तवमें अरहंत अवस्था परम पूज्यनीय है—

पुजारिहो दु जहना णरणिंदणरिंदसुरवरिंदाणं।
अरियरहस्सवमहणो अरहन्तो प्रचए तम्हा ॥ १३४ ॥

भावार्थ—श्री अरहंत भगवान धर्णेन्द्र, चक्रवर्ती व इन्द्र आदिसे पूज्यनीय हैं। प्रभुने मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण व दर्शनावरण व अंतराय कर्मको नाशकर डाला है इसीसे वे अर्हंत कहलाते हैं।

आपने सर्ववित् आत्मध्यान किया, कर्मबंध जला मोक्षमग कह दिया।
आपमें केवलज्ञान पूरण भया, अनमती आररवि जुगनू सम होगया ॥११७॥

उत्थानिका—उस समय श्री नमिजिनने सप्तभंगमय तत्वका उपदेश किया, ऐसा आचार्य कहते हैं—

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तव।
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ॥
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा।
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया) तीन लोकमें महान गुरु ऐसे हे प्रभु! आपने (बहुनयविवक्षेतरवशात्) बहुतसे नयोंकी अपेक्षासे व अन्यनयोंकी अपेक्षा विना (तत्त्वं गीतं) जीवादि तत्त्वका स्वरूप कहा है। (तव)

वह तत्त्व (विधेयं) अपने स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप है (वार्यं) व स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तिरूप है, (उभयं) क्रमसे कहनेपर अस्ति नास्ति स्वरूप है, (अनुभयं च) और एक समयमें वचनद्वारा दोनों अस्ति नास्ति धर्मोंको न कहनेकी अपेक्षा तत्त्व अवक्तव्य है (मिश्रं अपि) वही तत्त्व अस्ति अवक्तव्य है, नास्ति अवक्तव्य है, अस्ति नास्ति अवक्तव्य है। (प्रत्येकं) हरएक तत्त्व (सदान्योन्यापेक्षैः) सदा एक दूसरेकी अपेक्षासे (अपरिमितैः) अनेक (नियम विषयैः विशेषैः) अपने नियमरूप धर्मोंसे विशिष्ट है।

भावार्थ–हे नमिजिनेश! आपने तत्त्वको अनेक अपेक्षाओंसे इसीलिये बताया है कि उसके भीतर जो अनेक स्वभाव पाये जाते हैं उनका ज्ञान शिष्यको हो जावे। वस्तुमें अनेक स्वभाव एक दूसरेकी अपेक्षासे पाये जाते हैं। तत्त्वमें सत् असत्‌पना सिद्ध करनेको सातभंग आपने बताये हैं वे इस तरह हैं कि जैसे जीव है अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे, अर्थात् जीवमें जीवपनेकी मौजूदगी है तब ही उसमें अजीवपनेकी गैरमौजूदगी है अर्थात् जीव अजीवकी अपेक्षासे असत है अर्थात् जीवमें अजीवपना नहीं है। जीव अपेक्षा सत् है यह एक भंग है। अजीव अपेक्षासे असत् है यह दूसरा भंग है, दोनों ही सत् असत्‌पना है इससे जीव सत् असत उभयरूप है यह तीसरा भंग है। सत् असत् एक कालमें जीवमें हैं तथापि वचनोंसे एक साथ कहे नहीं जा सक्ते इससे जीव तत्त्व अनुभव या अवक्तव्य है यह चौथा भंग है। यद्यपि अवक्तव्य है तथापि सत्‌रूप है यह पांचवा भंग है, यद्यपि अवक्तव्य है तथापि असतरूप है यह छठा भंग है, यद्यपि अव-

रूप है तथापि सत् असतरूप है यह सातवां भंग है। इस तरह नित्य अनित्य, एक अनेक ऐसे दो विरोधी धर्मोंको सिद्ध करनेके लिये सात भंग किये जा सक्ते हैं।

इस तरह कथन करके आपने शिष्योंका बहुत बड़ा उपकार किया है।

स्रग्विणी छन्द।

अस्ति नास्ती उभय वा नुभय मिश्र तत्।
सप्तभंगामयं तत् अपेक्षा सकृत्॥
विधमितं धर्ममय तत्त्व गाया प्रभू।
नेक नयकी अपेक्षा जगत गुरु प्रभू॥ ११७॥

उत्थानिका—और भी भगवानके गुणोंको कहते हैं—

अहिंसाभूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।
न सातत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥११९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(भूतानां अहिंसा) सर्व प्राणियोंकी रक्षा अर्थात् पूर्ण अहिंसा (जगति) इस लोकमें (परमम् ब्रह्म) परम ब्रह्म या परमात्मस्वरूप (विदितं) कही गई है (यत्र आश्रमविधौ) जिस आश्रमके नियमोंमें (अणुः अपि आरम्भः) जरा भी आरम्भ या व्यापार है (तत्र सा न) वहां वह पूर्ण अहिंसा नहीं होसक्ती हैं। (ततः) इसीलिये (तत्सिद्ध्यर्थं) उस पूर्ण अहिंसाकी सिद्धिके वास्ते (परमकरुणः) परम दयावान (भवान्) आपने (उभयं ग्रंथं) दोनों ही अंतरंग बहिरंग परिग्रहको (अत्याक्षीत)

त्याग कर दिया। (विकृतवेषोपधिरतः न च) तथा आप विकार-मय वस्त्राभूषण सहित, यथाजात दिगम्बर लिंगसे विरोधी वेषोंमें आसक्त न हुए।

भावार्थ-आचार्य कहते हैं कि नमिनाथ भगवानने पूर्ण अहिंसाव्रतको पाला। वास्तवमें अहिंसा परमात्मस्वरूप है। जहां रागादि भाव होगा वहां आत्माके वीतराग भावकी हिंसा होगी। अहिंसा वीतरागमय आत्माका स्वभाव है। जब आत्मा अपने स्वभावमें तल्लीन होता है तब ही पूर्ण वीतरागता है व तब ही पूर्ण अहिंसा है।

श्री अमृतचंद्र आचार्यने श्री पुरुषार्थ० ग्रंथमें कहा है—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ ४४॥

भावार्थ-रागद्वेषादिका नहीं पैदा होना अहिंसा है। उन्हींका पैदा होना हिंसा है यह जिनागमका सार है। दूसरे प्राणीको कष्ट विना हिंसक परिणामके नहीं दिया जासक्ता है। जिसने हिंसक भावोंका अभाव कर दिया है वहां अंतरंग व बहिरंग दोनों ही प्रकारसे अहिंसा मौजूद है। जिस किसी साधुपदमें खेतीवारी रोटी बनाना आदिका जरा भी आरम्भ होगा वहां पूर्ण अहिंसा नहीं मिल सक्ती है। क्योंकि रागभावके विना आरम्भ होता नहीं व जहां प्राणीका घात करना पड़े वहां द्वेषभाव होता ही है, इसलिये जिस साधुपदमें जरा भी व्यापार व आरम्भ नहीं होगा वहीं पूर्ण अहिंसा पलती है। इसलिये आप परम दयावानने पूर्ण अहिंसाकी सिद्धिके लिये अंतरंग बहिरंग परिग्रहका त्याग कर दिया। क्योंकि जहां परिग्रह होगा वहां ही कुछ न कुछ आरम्भ करना पड़ेगा।

क्षेत्र, मकान, गाय भैंसादि, धान्य, सुवर्ण, चांदी, दासी, दास, कपड़े, वर्तन इस तरह १० प्रकार बाहरी परिग्रहोंको व मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-वेद, पुंवेद, नपुंसकवेद इस तरह १४ प्रकार अंतरंग परिग्रहको त्याग दिया, इन सब भावोंसे ममता हटाली। तथा पूर्ण अहिंसाकी ही सिद्धिके लिये आप जन्मके बालकके समान वस्त्राभूषण रहित नग्न दिगम्बर साधुके रूपमें रहे। आपने जटा सहित, भस्म सहित, व अन्य वल्कल, मृगछाला आदि सहित किसी भी विकारमय वेषको धारण न किया। पात्रकेसरिस्तोत्रमें कहा है—

जिनेश्वर! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो।
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः॥
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता।
न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते॥ ४१॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र! आपके मतमें साधुके लिये ऊन आदि वस्त्र व कपासका वस्त्र व भिक्षा लेनेका पात्र आदिका ग्रहण नहीं बताया है, क्योंकि ये सब हिंसाका हेतु हैं। जो स्वयं शीतादि परीषह सहनेको असमर्थ हैं उन्होंने ही सुखका कारण समझकर साधुके लिये वस्त्रादिका रखना बताया है। यदि वस्त्र सहित साधुका भी मार्ग महाव्रत होजावे व यथार्थ पूर्ण चारित्रमय मोक्षमार्ग होजावे तब फिर साधुको नग्न रहना वृथा ही होजावे, क्योंकि यदि हाथसे ही फल आजावे तो वृक्षपर चढ़नेका परिश्रम कौन करे?

स्रग्विणी छन्द।

अहिंसा जगत् ब्रह्म परमं कही है, जहां अल्प आरंभ वहां नहीं रही है।
अहिंसाके अर्थ तजा द्वय परिग्रह, दयामय प्रभू वेष छोडा उपधिमय॥

उत्थानिका-आपके शरीरका रूप ही बताता है कि आप परम वीतराग हैं। ऐसा कहते हैं—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्तिकरणं।
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम् ॥
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं।
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शांतिनिलयः ॥१२०॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यतः) क्योंकि (ते वपुः) आपका शरीर (भूषावेषव्यवधिरहितं) जो आभूषण व वस्त्र आदिके आच्छादनसे रहित है तथा (शांतिकरणं) जिसमें सर्व इंद्रिय अपने२ विषयोंकि ग्रहणसे रहित हो शांत होगई हैं। (संचष्टे) यह कहता है कि अपने (स्मरशरविषातंकविजयं) कामदेवके बाणोंके विषसे होनेवाले रोगको जीत लिया है तथा (भीमैः शस्त्रैः विना) भयानक शस्त्रोंके विना ही (अदयहृदयामर्षविलयं) निर्दयी हृदय धारीके भीतर होनेवाले क्रोधका नाश आपने कर दिया है (ततः) इस कारणसे (त्वं) आप (निर्मोहः) मोह रहित वीतराग हैं तथा (शांतिनिलयः) मोक्षके स्थान हैं या मोक्षरूप हैं (नः शरणं असि) इस कारण हमारे लिये आप शरणरूप हैं।

भावार्थ-यहां यह बताया है कि श्री नमिनाथका शांतिध्यानमय शरीरका रूप जिसमें न कोई वस्त्र हैं न आभूषण है व जिसमें सर्व इन्द्रियें परम शांत हो रही हैं यह बात देखनेवालेको झलकाता है कि प्रभुने कामदेवको जीत लिया है तथा क्रोधरूपी शत्रुका सर्वथा विलय कर दिया है। इसीसे सिद्ध होता है कि प्रभु मोह रहित हैं व सुखशांतिके स्थान मोक्षरूप हैं। क्योंकि हम

राग द्वेष मोहमें फंसे हैं जिनसे हमने संसारमें बहुत कष्ट पाए हैं व जिनको हम नाश करना चाहते हैं। इसलिये हमें ऐसे ही प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये व उसीका ही आराधन करना चाहिये जो परम वीतराग सर्वज्ञ हैं। हे नमिनाथ भगवान! आपको ऐसा ही जानकर हमने आपकी शरण ग्रहण की है।

अरहंतका ऐसा ही स्वरूप धम्मरसायणमें कहा है—

जियकोहो जियमाणो जियमायालोहमोह जियमयओ।
जियमच्छरो य जह्मा तह्मा णामं जिणो उत्तो ॥ १३५ ॥

भावार्थ—क्योंकि प्रभुने क्रोधको, मानको, मायाको, लोभको, मोहको, मदको व ईर्षा आदि कुभावोंको जीत लिया है इसलिये ही प्रभु जिन कहे गए हैं।

स्रग्विणी छन्द।

आपका अंग भूषण वसनसे रहित, इंद्रियाँ शांत नहं कहत तुम काम जित।
उग्र शस्त्रं विना निर्दयी क्रोध जित्, आप निर्मोह शममय शरण राख नित॥



(२२) श्री नेमिनाथजिन स्तुतिः।

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनः।
ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षणः॥१२१

हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायकः।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुंजरोऽजरः॥१२२

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(भगवान्) परम ऐश्वर्यवान्, इन्द्रादिसे पूज्य (ऋषिः) परम मुनि (परमयोगदहनहुतकल्पषेन्धनः) उत्तम शुक्लध्यानरूपी अग्निसे जिसने घातियाकर्मरूपी ईंधनको जला डाला है, (बुद्धकमलायतेक्षणः) जो फूले हुए कमल पत्रके समान विशाल नेत्रोंके धारी हैं, (हरिवंशकेतुः) हरिवंशकी ध्वजा हैं, (अनवद्यविनयदमतीर्थनायकः) निर्दोष विनय और इंद्रिय विजयरूपी धर्मतीर्थके प्रवर्तक हैं, (शीलजलधिः) शीलके समुद्र हैं, (अजरः) जरा रहित हैं, ऐसे (त्वम्) आप (अरिष्टनेमिजिन-कुंजरः) कर्मोंकी चक्रधाराके जीतनेमें मुख्य श्री अरिष्टनेमि जिन तीर्थंकर हैं। आपने (ज्ञानविपुलकिरणैः) अपने केवलज्ञानकी विशाल किरणोंसे (सकलं प्रतिबुध्य) सर्व जीवोंको धर्म मार्ग समझाकर (विभवः) भवसे रहित मुक्तपना (अभवः) प्राप्त कर लिया।

भावार्थ-यहां हरिवंशमें उत्पन्न श्री अरिष्टनेमि जिन २२ वें तीर्थंकरकी सार्थक स्तुति की है। अरिष्ट कर्मोंको कहते हैं उनकी नेमि कहिये चक्रधारा उसको जीतनेवाले प्रभु हैं। भगवान परम मुनि समचतुरस्र संस्थानके धारी हैं, इसीलिये उनके लोचन कमल-पत्रके समान विशाल हैं। आपने साधुपदमें शुक्लध्यानके द्वारा घातिया

कर्मोंको नष्ट किया। फिर केवलज्ञानी होकर १८००० शीलके धनी हुए। आपका शरीर सदा युवापुरुषके समान रहा। आपने भव्य जीवोंको जैनधर्म समझाया, फिर सर्व कर्मोंसे छूटकर आप मुक्त होगये।

आप्त स्वरूपमें अरहंतका स्वरूप कहा है–

येनाप्तं परमैश्वर्यं परानंदसुखास्पदं।
बोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥२३॥

भावार्थ–जिसने ज्ञानस्वरूप परम ऐश्वर्यको जो परमानंदका स्थान है प्राप्त कर लिया है तथा जो कृतकृत्य है उसे बुद्धिमानोंने ईश्वर कहा है।

छन्द त्रोटक।

भगवन् ऋषि ध्यान सु शुक्ल किया, ईंधन चहु कर्म जलाय दिया।
विकसित अम्बुजवत् नेत्र धरें, हरिवंश केतु नहिं जरा धरें॥
निर्दोष विनय दम नृप कर्ता, शुचि ज्ञान किरण जन हित कर्ता।
शीलोदधि नेमि अरिष्ट जिनं, भव नाश भए प्रभु मुक्त जिनं।१२१–२२।

उत्थानिका–ऐसे भगवानके चरणयुगलकी प्रशंसा करते हैं–

त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम्।
पादयुगलममलं भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम्॥१२३॥
नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम्।
स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मंत्रमुखरा महर्षयः॥१२४॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(भवतः) आपके (अमलं) मल रहित (पादयुगलं) चरणकमल (त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम्) इन्द्रोंके मुकुटोंकी मणिरत्नकी किरणोंके फैलावसे स्पर्शित होते हैं अर्थात् जब इन्द्र नमस्कार करते हैं तब उनके

मुकुटोंके रत्नोंकी प्रभा आपके चरणोंको स्पर्श करती है (विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम्) तथा आपके पाद तल फूले हुए लाल कमलके पत्तेके समान लाल वर्ण हैं (नखचंद्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम्) आपके चरणोंके नख रूपी चंद्रमाकी किरणोंके मंडलने अंगुलियोंके अग्रभागको अति शोभनीक कर दिया है ऐसे आपके चरणकमलोंको (स्वार्थनियतमनसः) आत्महित करनेकी मनशा रखनेवाले (मंत्रमुखराः) मंत्रोंके कहनेमें चतुर ऐसे (सुधियः) बुद्धिमान (महर्षयः) महान मुनिगण (प्रणमंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—यहां श्री नेमिनाथके चरणोंकी प्रशंसा की है कि वे अत्यन्त निर्मल हैं उनको इन्द्रादि देव सदा नमन करते हैं तथा उनके पादतल लाल वर्णके हैं व नाखूनोंकी ज्योति अंगुलियोंके शिखरोंको अति रमणीक कररही है। ऐसे चरणोंके भावोंकी शुद्धिमें निमित्त कारण जानकर बड़े२ ऋषिगण नित्य नमस्कार करते हैं।

छन्द त्रोटक।

तुम पाद कमल युग निर्मल हैं, पदतल द्वय रक्त कमल दल हैं।
नख चन्द्र किरण मंडल छाया, अति सुन्दर शिखरांगुलि भाया॥
इन्द्रादि मुकुट मणि किरण फिरै, तव चरण चुम्बकर पुण्य भरै।
निज हितकारी पंडित मुनिगण, मंत्रोच्चारी प्रणमैं भविगण॥

उत्थानिका—आपके चरणोंको अन्य भी नमन करते हैं ऐसा कहते हैं—

द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः।
नीलजलदजलराशिवपुः सहबन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः॥१२५॥
हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरां चरणारविंदयुगलं प्रणेमतुः॥१२६॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(गरुड़केतुः) गरुड़की ध्वजा रखनेवाले (ईश्वरः) नारायण श्री कृष्ण महाराज तीन खंडके घनी (द्युतिमद्रथांगरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डलः) जिनका शरीर-मण्डल क्रांतिमई सूर्यके बिम्ब समान उनके रथके पहियेकी किरणोंसे छाया हुआ है (नीलजलदजलराशिवपुः) व जिनका शरीर नील मेघके समान समुद्रवत् नील रंगका है (हलभृत च) वे और बल-देव (ते जनेश्वरौ) ये दोनों महाराज प्रजाके स्वामी (स्वजनभक्ति-मुदितहृदयौ) अपने ही कुटुम्बी श्री नेमिनाथकी भक्तिसे जिनका मन हर्षित हो रहा है (धर्मविनयरसिकौ) व जो धर्मकी विनयके प्रेमी हैं इन दोनों महा पुरुषोंने (सहबंधुभिः) अन्य बन्धुओंके साथ श्री नेमिनाथके समवसरणमें जाकर (चरणारविंदयुगलं) उनके दोनों चरणकमलोंको (सुतरां प्रणेमतुः) खूब ही भावोंसे नमन किया।

भावार्थ-यहां यह बताया है श्री नेमिनाथ भगवानके भतीजे श्रीकृष्ण नारायण व उनके बड़े भाई बलदेव उस समय प्रजाके स्वामी प्रसिद्ध नरनाथ थे। ये भी जिनभक्त थे। ये दोनों भाई अन्य बन्धुओंके साथ जाते हैं और समवसरणमें श्री नेमिनाथ भग-वानके चरणकमलोंको बड़े भावसे नमन करते हैं।

त्रोटक छन्द।

द्युतिमय रविसम रथचक्र किरण, करती व्यापक जिस अंग धरन।
है नील जलद सम तन नीलं, है केतु गरुड़ जिस कृष्ण हलं॥
दोनों भ्राता प्रभु भक्ति मुदित, वृषविनय रसिक जननाथ उदित।
सहबंधु नेमि जिन सभा गए, युग चरणकमल वह नमत भए।१२५-१२६

उत्थानिका-जिन पर्वतपर भी जाकर कृष्ण बलदेवने नेमिनाथके चरणोंको नमस्कार किया उस पर्वतका वर्णन करते हैं—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः।
मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा।१२७।
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च।
प्रीतिविततहृदयः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः१२८

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(ऊर्जयंत इति अचलः) ऊर्जयंत या गिरनार नामका पर्वत आपके मोक्ष होनेके कारण (भृशं विश्रुतः) अतिशय करके लोकमें प्रसिद्ध होगया। वह पर्वत कैसा है (भुवः ककुदं) जैसे बैलके कंधेका अग्र भाग शोभता है वैसे यह पर्वत पृथ्वीका उच्च अग्रभाग रूप शोभता है (खचरयोषित् उषितशिखरैः अलंकृतः) विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित शिखरोंसे यह पर्वत शोभायमान है (मेघपटलपरिवीततटः) जिस पर्वतके किनारोंको मेघोंने छा लिया है (वज्रिणा तव लक्षणानि लिखितानि वहति इति तीर्थं) इन्द्रने आपके मोक्षस्थलपर जो चिह्न उकेरे उनको रखनेवाला है इससे यह तीर्थ है (प्रीतिविततहृदयैः) आपकी तरफ प्रीति दिलमें रखनेवाले ऐसे (ऋषिभिः) साधुओंके द्वारा (अद्य च) आज भी (परितः) सर्व तरफसे (सततं अभिगम्यते) निरंतर सेवन किया जाता है ऐसा यह गिरनार पर्वत जगतमें तीर्थ माना गया है।

भावार्थ-यहां यह दिखलाया है कि श्री ऊर्जयन्त या गिरनार पर्वत श्री नेमिनाथका मोक्ष स्थल होनेसे जगतमें तीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। वहां इन्द्रने चरणके चिह्न उकेरे हैं उन चिन्होंको धारण

करता है, वह पर्वत बड़ा ऊँचा है जिसके तटोंपर मेघ घिरे रहते हैं। बड़े२ साधु बड़ी भक्तिसे आज भी पर्वतकी यात्रा करते हैं। विद्याधरोंकी स्त्रियां भी पूजनेको आती हैं और पर्वतके शिखरोंकी सेवा करती हुई बड़ी शोभा विस्तारती हैं। इन श्लोकोंसे यह बात स्वामीने झलका दी है कि जहांसे तीर्थंकरादि सिद्ध होते हैं उस जगहपर इन्द्र आता है और निर्वाण कल्याणककी पूजा करके वहां चिह्न उकेर देता है जिससे वह सिद्धक्षेत्र सदा माना जावे व भव्य जीव यात्रा करके परम पुण्यका लाभ करें।

त्रोटक छन्द।

शुचि कादि ककुद गिरनार अचल, विद्याधरणी सेवित स्वशिखर।
हैं मेघ पटल छाए जिस तट, तब चिन्ह उकेरे वज्र मुकुट॥
इम सिद्ध क्षेत्र धर तीर्थ भया, अब भी ऋषिगणसे पूज्य थया।
जो प्रीति हृदयधर आवत हैं, गिरनार प्रणम सुख पावत हैं॥१२७-१२८

उत्थानिका—कोई शंका करता है कि भगवानको हमारे समान इंद्रिय जनित ज्ञान है, उनको सर्वज्ञ क्यों कहते हैं? इसका समाधान करते हैं—

बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत्।
नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ॥१२९॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(नाथ) हे नेमिनाथ! (त्वम्) आपने (इदं अखिलं) इस संपूर्ण जगतको (युगपत्) एक ही साथ (तलामलकवत्) हाथमें स्फटिक मणिके समान (सदा) सदाके लिये (विवेदिथ) जान लिया। इस आपके ज्ञानको (बहिः अंतः अपि उभयथा च करणं अविघाति) बाहरी इंद्रियें व अंतरंग मन

ये दोनों ही किसी प्रकार रुकावट नहीं डालते हैं (न अर्थकृत्) ये इंद्रियें उस प्रत्यक्ष ज्ञानके लिये कुछ कार्यकारी नहीं हैं।

भावार्थ-श्री जिनेन्द्र भगवानको ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा नाश होनेसे पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान प्रकाश होनेसे पूर्ण प्रकाशित होता है। उसमें किसी इंद्रिय या मनकी सहायताकी जरूरत नहीं पड़ती है। वह ज्ञान एक ही समयमें सर्व जगतके द्रव्योंकी सर्व पर्यायोंको सदा काल जानता रहता है, वह आत्माका स्वाभाविक ज्ञान है। जैसे हथेलीपर स्फटिकमणि रक्खी हो तो हथेलीकी सब रेखाओंको एकदम झलकाता है। यर्थात् वह स्फटिकमणि स्वयं पूर्ण झलकता है। इसी तरह केवलज्ञान सर्वको एकदम जानता है। यद्यपि केवली भगवानके इंद्रियाँ व मन होते हैं परन्तु वे कुछ काम नहीं करते। मतिश्रुत ज्ञान ही इनके द्वारा काम करते हैं। वे ज्ञान अब प्रभुके नहीं रहे। न ये इंद्रियाँ केवलज्ञानके प्रकाशमें किसी तरह बाधक ही हैं। इस तरह भगवान सर्वज्ञ हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। आप्तस्वरूपमें आप्तका स्वरूप ही ऐसा बताया है—

निष्कलबोधविशुद्धसुदृष्टिः।
पश्यति लोकविभावस्वभावम् ॥
सूक्ष्मनिरंजनजीव पुनोऽसौ।
तं प्रणमामि सदा परमात्मान् ॥ ६३ ॥

अर्थात्-अरहंतके निर्मल ज्ञानकी शुद्ध दृष्टि प्रकाश होजाती है जिससे वे लोकके विभाव व स्वभाव सबको जानते हैं। उनका आत्मा सूक्ष्म व कर्म मैल रहित होजाता है ऐसे उत्कृष्ट आप्तको मैं वारवार नमन करता हूं।

त्रोटक छन्द।

जिननाथ जगत् सब तुम जाना, युगपत् जिम करतल अमलाना।
इंद्रिय वा मन नहिं घात करें, न सहाय करें इम ज्ञान धरें ॥१२९॥

अतएव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयं ॥१३०॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(अतएव) इन ऊपर लिखित कारणोंसे (बुधनुतस्य) गणधरदेवादिसे नमस्कार योग्य (ते) आपका (न्यायविहितम्) न्यायपूर्ण व आगममें कथित अनुष्ठान किया हुआ (अद्भुतोदयम्) व आश्चर्यकारी प्रतापको धरनेवाला (चरितगुणं) आपके चरित्रका महात्म्य (अवधार्य) हृदयमें धारण करके (जिने) हे जिनेन्द्र! (त्वयि) आपके अंदर (सुप्रसन्नमनसः) अत्यंत भक्तिसे मन लगानेवाले (वयम्) हम लोग (स्थिताः) हाथ जोड़े खड़े हैं।

भावार्थ-हे जिनेन्द्र! आपका महात्म्य जो केवली अवस्थामें प्रकट हुआ उसको जानकर अर्थात् यह देखकर कि आप सर्वज्ञ हैं आपका उपदेश परम हितकारी है, आपके भीतर क्षुधा आदि १८ दोष नहीं हैं, आपकी वाणी सब मानव देव व पशुको अपनी भाषामें समझमें आती है, आपको गणधरादि व नारायण बलदेव व इन्द्रादि सब ही नमन करते हैं, हम लोग आपकी भक्तिमें तल्लीन हुए आपको हाथ जोड़े नमन कर रहे हैं क्योंकि आप ही नमनके योग्य हैं।

छन्द त्रोटक।

यातैं हे जिन बुध नुत तव गुण, अद्भुत प्रभावधर न्याय सगुण।
चिंतनकर मन हम लीन भए, तुमरे प्रणमन तल्लीन भए ॥१३०॥

(२३) श्री पार्श्वनाथजिन स्तुतिः।

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥१३१

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(यो महामना) जो महान धीर श्री पार्श्वनाथ भगवान (वैरिवशैः) कमठके जीवरूपी वैरीसे (तमालनीलैः बलाहकैः) तमाल वृक्षके समान नील मेघोंके द्वारा (सधनुस्तडिद्गुणैः) बिजलीरूपी डोरीको रखनेवाले इन्द्र-धनुष द्वारा (प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः) भयंकर वज्रपात व मोटी हवा व भयंकर जलवृष्टि द्वारा (उपद्रुतः) उपसर्ग किये जानेपर भी (योगतः) परम ध्यानसे (न चचाल) चलायमान न होते हुए।

भावार्थ-श्री पार्श्वनाथका जीव जब मरुभूत ब्राह्मण था तब कमठ उसका बड़ा भाई था तबसे कमठके जीवमें पार्श्वनाथके जीवसे वैर बंध गया। यद्यपि मरुभूतके जीवमें वैर न था इसलिये इसने पार्श्वनाथजीके जीवको हर भवमें कष्ट दिया। जब पार्श्वनाथ तीर्थकर तप अवस्थामें ध्यान कर रहे थे तब कमठका जीव ज्योतिषी देव हुआ था। भगवानको ध्यान करते देखकर इसने घोर उपसर्ग किया। कालेर बादल दिखाए, बिजली चमकाई, पवन चलाई, जल वृष्टि कराई, बिजली गिराई आदि बहुत ही कष्ट दिये परन्तु धीरवीर प्रभु पार्श्वनाथने अपने ध्यानको छोड़कर जरा भी संक्लेश भाव नहीं किये।

पद्धरी छन्द।

जय पार्श्वनाथ अति धीर वीर, नीले बादल बिजली गंभीर।
अति उग्र वज्र जल पवन पात, वैरी उपद्रुत नहिं ध्यान जात ॥१३१॥

उत्थानिका—जब भगवानको उपसर्ग हुआ तब धर्णेंद्रने क्या किया—

बृहत्फणामण्डलमण्डेपन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूहनागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥

अन्वयार्थसह भाषा टीका-(धरणः नागः) धरणेन्द्र नामके नागकुमार इन्द्रने (यं उपसर्गिणं) जिन उपसर्गसे पीड़ित पार्श्वनाथको (स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचा) चमकती हुई विजलीके रंग समान पीतरंगधारी (बृहत्फणमण्डलमण्डपेन) बड़े फणोंके मण्डलरूपी मण्डपसे (जुगूह) वेष्ठित कर दिया (यथा) जिसतरह (विरागसंध्यातडिदंबुदः) लाली रहित काली संध्याके समय विजली सहित मेघ (धराधरं) पर्वतको वेढ़ लेते हैं ।

भावार्थ-यहांपर यह दृश्य दिखाया है कि जब पार्श्वनाथ भगवानपर उपसर्ग पड़ रहा था उस समय धरणेन्द्र सूर्यके रूपमें आता है और विजलीके समान चमकते हुए अपने फणोंका मण्डप प्रभुके ऊपर कर लेता है जिससे प्रभुकी रक्षा पवन जलादिसे हो जाती है उस समयका दृश्य ऐसा मालूम होता था मानों पर्वतको काली संध्याके समय विजलीसे चमकते हुए मेघोंने घेर लिया हो । उपसर्गके समान खूब अंधेरा था, बादल नीले छा रहे थे तब एक तरफ विजली चमकती थी, दूसरी तरफ धर्णेन्द्रके फण पीले चमकते थे जिससे ऐसा ही दृश्य दिखता था कि पर्वतको विजली सहित मेघोंने घेर लिया हो ।

पद्धरी छन्द ।

धरणेन्द्र नाग निज फण प्रधार, बिजली वत् पीत सुरंग धार ।
श्री पार्श्व उपद्रुत छाय लीन, जिम नग तडिदम्बुद सांझ कीन ॥१३२॥

उत्थानिका–उपसर्ग निवारण होनेपर प्रभुने क्या किया सो कहते हैं—

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम्॥१३३

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(यः) जिस पार्श्वनाथ भगवानने (स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया) अपने शुक्लध्यान रूपी खड्गकी तेज धारसे (दुर्जयमोहविद्विषं) अत्यन्त दुर्जय मोहरूपी शत्रुको (निशात्य) क्षय करके (त्रिलोकपूजातिशयास्पदं) तीन लोकके प्राणियोंसे पूजाके महात्म्यके स्थान व (अद्भुतं) आश्चर्यरूप (अचिंत्यम्) चिंतवनमें न आने योग्य (अर्हंत्यपदम्) अर्हंतपदको (अवापत) प्राप्त कर लिया।

भावार्थ–उपसर्गके हटते ही प्रभुने १० वें सूक्ष्म लोभ गुणस्थानके अंतमें मोहनीय कर्मको प्रथम शुक्लध्यानकी खड्गधारसे क्षय कर डाला, फिर बारहवें क्षीण मोह गुणस्थानमें एक अंतर्मुहूर्त ठहरकर दूसरे शुक्लध्यानकी तलवारसे एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय इन तीन घातीय कर्मोंका नाश किया व अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, व अनंतसुखको प्रकाश कर तेरहवें सयोग केवली गुणस्थानमें अर्हन्त पदको प्राप्तकिया जिसकी महिमा परम अद्भुत है, जो चिन्तवनमें ही नहीं आसक्ती है व जिस पदको तीन लोकके प्राणी पूजते हैं। आप्तस्वरूपमें अरहंतका स्वरूप कहा है—

अर्हन् प्रजापतिर्बुधः परमेष्ठी जिनोऽजितः।
लक्ष्मीभर्ता चतुर्वक्त्रो केवलज्ञानलोचनः॥ ४५॥

भावार्थ—अर्हंत भगवान सब प्रजाके स्वामी, परम बुद्ध, परम पदमें स्थित, कर्म विजयी, महावीर अजित, समवसरण लक्ष्मीके धर्ता, केवलज्ञान नेत्रके धारी व सभामें चारों तरफ सबको दिखनेवाले ऐसे होते भए।

पद्धरी छन्द।

प्रभु ध्यानमई असि तेजधार, कीना दुर्जय मोह प्रहार।
त्रैलोक्य पूज्य अदभुत अचिन्त्य, पाया अर्हंत् पद आत्मचिन्त्य ॥१३३॥

उत्थानिका—ऐसे प्रभावशाली श्री पार्श्वनाथको देखकर वनवासी तपसी अपने असत् मार्गको फल रहित जानकर भगवानके मार्गकी इच्छा करते भए ऐसा कहते हैं—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥१३४

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(यं विधूतकल्मषं ईश्वरं) जिन घाति कर्म रहित परमात्मा पार्श्वनाथके महात्म्यको (वीक्ष्य) देखकर (वनौकसः) वनमें रहनेवाली (तेऽपि तपोधनाः) एकांतमती तपस्वी भी (स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः) अपने मिथ्या तपसे फल न होता जानकर (तथा बुभूषवः) आपके समान होनेकी इच्छा करते हुये। (शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे) आपके शांतिमय उपदेशकी शरण आते हुए।

भावार्थ—आप केवलज्ञानीके उपदेशसे सरल परिणामी भव्य जीवोंने तो मोक्षमार्ग पाया ही परंतु बड़े२ कट्टर एकांतमती तपस्वी भी आपके अदभुत महात्म्यको देखकर अपने मिथ्या आत्मज्ञानरहित तपको असार जानकर आपकी शरणमें आते हुए तथा आपसे धर्मोपदेश लाभकर जैन साधुको अपना सच्चा हित करते भए।

पद्धरी छन्द।

प्रभु देख कर्मसे रहित नाथ, वनवासी तपसी आये साथ।
निजश्रम असार लख आप चाह, धरकर शरण ली मोक्षराह ॥१३४॥

उत्थानिका—ऐसे भगवानकी तरफ मेरा क्या कर्तव्य उसे आचार्य कहते हैं—

स सत्यविद्यातपसां प्रणायकः समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान्।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(सः पार्श्वजिनः) वह श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर (उग्रकुलांबुरांशुमान्) उग्रवंशरूपी आकाशमें चंद्रमाके समान प्रकाशमान (समग्रधीः) केवलज्ञानी (सत्यविद्यातपसां प्रणायकः) सत्यज्ञान व तपका साधन बतानेवाले (विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रमः) व जिन्होंने मिथ्या एकांत मार्गरूपी मतोंके भ्रमको अपने अनेकांत मतसे दूर कर दिया है ऐसे प्रभु (मया) मुझ समंतभद्र द्वारा (सदा प्रणम्यते) सदा प्रणाम किये जाते हैं।

भावार्थ—श्री समंतभद्राचार्य कहते हैं कि मैं श्री पार्श्वनाथ भगवानको सदा प्रणाम करता हूं क्योंकि प्रभुने अपने उग्रवंशको उज्वल किया, केवलज्ञानका लाभ किया, सत्य मार्ग जीवोंको बताया व एकांत मतके अन्धकारको अनेकांत मतके प्रकाशसे दूर हटाया।

पद्धरी छन्द।

श्रीपार्श्व उग्र कुल नभ सुचंद्र, मिथ्यातम हर सत् ज्ञानचन्द्र।
केवलज्ञानी सत मग प्रकाश, हूं नमत सदा रख मोक्ष आश ॥१३५॥



(२४) श्री महावीरजिन स्तुतिः।

कीर्त्या भुवि भासितया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुंदशोभासितया ॥१३६

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(वीर) हे वीर! (त्वं) आप (भासितया) उज्वल (गुणसमुत्थया) अपने आत्मीक गुणोंसे उत्पन्न (तया कीर्त्या) उस धवल यशसे (भुवि) पृथ्वीमें (भासि) शोभ रहे हो (व्योम्नि कुन्दशोभासितया उडुसभासितया भासा सोम इव) जिस तरह आकाशमें चंद्रमा कुन्द पुष्पकीसी सफेद शोभा रखनेवाले नक्षत्रोंकी सभासे विराजित शोभता है।

भावार्थ-जिस तरह आकाशमें चन्द्रमा सफेद नक्षत्रोंसे वेष्ठित शोभता है उस तरह हे महावीरस्वामी! आप अपने अनंतज्ञानादि गुणोंकी निर्मल कीर्तिसे जगतमें शोभते हुए।

त्रोटक छन्द।

तुम वीर धवल गुण कीर्ति धरे, जगमें शोभै गुण आत्म भरे।
जिम नभ शोभै शुचि चंद्रमहं, सित कुंद समं नक्षत्र ग्रहं ॥१३६॥

उत्थानिका-महावीर प्रभुके ऐसे कौनसे गुण हैं जिनसे उनकी कीर्ति जगमें फैली सो कहते हैं—

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः।
दोषकशासनविभवः स्तुवंति चैनं प्रभाकृशासनविभवः ॥१३७॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(जिन) हे जिनेन्द्र! (तव शासनविभवः) आपके मतका महात्म्य (गुणानुशासनविभवः) जो भव्य जीवोंके संसारका नाश करनेवाला है सो (कलौ अपि) इस पंचम-

कालमें भी (जयति) जयवंत होरहा है। अपनी सर्व उत्कृष्टता बता रहा है। (च) तथा (एनं) इस आपके शासनकी (दोषकशासनविभवः) दोषरूपी कोड़ोंको जो दूर करनेमें समर्थ हैं तथा (प्रभाकृशासनविभवः) जिन्होंने अपनी ज्ञानकी महिमासे लोकप्रसिद्ध हरिहरादिकके महात्म्यको क्षीण कर डाला है ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीके निकटवर्ती गणधरादि देव (स्तुवन्ति) स्तुति करते रहते हैं।

भावार्थ–आपकी कीर्ति इसी लिये जगतमें उज्वलरूप फैली है कि आपका बताया हुआ मोक्षका मार्ग परम उत्कृष्ट है। इस पंचमकालमें भी वह अपनी महिमासे मिथ्यामार्गको हटानेवाला है। जो भव्यजीव गुणप्रेमी इस आपके शासनका आश्रय लेते हैं उनके रागद्वेष मोहरूपी संसारका नाश होजाता है तथा आपके धर्मकी महिमा निरन्तर गणधरादि देव गाते हैं। जो रागादि दोषोंको दूर करनेमें समर्थ हैं व जो चारज्ञानके धारी हैं व जिनके ज्ञानके सामने लोकोंसे माने हुए हरिहरादिकी महिमा क्षीण हो गई है।

त्रोटक छन्द।

हे जिन तुम शासनकी महिमा, भविभवनाशक कलिमांहि रमा।
निज ज्ञान प्रभा अनक्षीण विभव, मलहर गणधर प्रणमैं मत तव ॥ १३७॥

उत्थानिका–वे गणधर देव किस तरह आपके शासनकी महिमा गाते हैं—

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः॥१३८॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(तव) आपका (स्याद्वादः) अनेकांत शासन (अनवद्यः) दोष रहित है, कारण यह है कि वह

(दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः) प्रत्यक्षादि प्रमाण व आगमसे विरोध न आवे इस तरह स्यात् या कथंचित् या किसी अपेक्षासे वस्तुके स्वभावोंको यथार्थ कहनेवाला है। (इतरः) इसके सिवाय जो एकांत मत है (स्याद्वादः न) वह प्रमाण भूत आगम नहीं है, क्योंकि (मुनीश्वर) हे मुनीश्वर ! (सः द्वितयविरोधात्) वह एकांत प्रत्यक्षादि प्रमाण व आपके सत्य आगमसे विरोधरूप है। इसलिये वह (अस्याद्वादः) स्याद्वाद रूप नहीं है अर्थात् भिन्न २ अपेक्षासे भिन्न२ स्वभावोंको सिद्ध करनेवाला नहीं है।

भावार्थ-हे मुनीश्वर ! आपका मत अनेकांत है। वस्तुमें नित्य अनित्य एक अनेक सत् असत् जो अनेक स्वभाव हैं उनको भिन्न२ अपेक्षासे बतानेवाला है तथा स्याद् शब्द उसका चिह्न है। तथा वह इस तरह वस्तुके यथार्थ स्वभावको दिखाता है कि उसमें प्रत्यक्षादि प्रमाण व जिन आगमसे कोई बाधा नहीं आती है। आपके सिवाय जो एकांत मत हैं, जो सर्वथा वस्तुको नित्य या अनित्य या सत् या असत् माननेवाले हैं वे दोष सहित हैं क्योंकि उनका खंडन प्रत्यक्षादि प्रमाण व जिन आगमसे होजाता है तथा उनमें स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं बनता है, इसलिये वे अस्याद्वाद हैं, दोषरूप हैं।

त्रोटक छन्द।

हे मुनि तुम मत स्याद्वाद अनघ, दृष्टेष्ट विरोध विना स्यात् वद।
तुमसे प्रतिपक्षी बाध सहित, नहिं स्याद्वाद हैं दोप सहित ॥ १३८ ॥

उत्थानिका-और भी भगवानके गुणोंको कहते हैं—

त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहितः ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-(त्वं) हे वीर! आप (सुरासुरमहतः) सुर असुर अर्थात् कल्पवासी भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी चार प्रकार देवोंसे पूजनीय हो (गृन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः) किंतु मिथ्यादृष्टि जीवोंके चित्तके प्रणामद्वारा आप पूज्यनीय नहीं हो अर्थात् मिथ्यात्वी जीव आपको पहिचानते ही नहीं हैं इसलिये उनकी मिथ्या आशयसे भरी स्तुतिद्वारा आपकी पूज्यता नहीं है अथवा जिस तरह रागी द्वेषी देवोंकी स्तुति होती है उस-तरह आपकी स्तुति यदि की जाय तो उससे आपकी पूज्यता नहीं है। (लोकत्रयपरमहितः) आप तीन लोकके प्राणियोंके परम हितकारी हैं (अनावरणज्योतिरुज्वलद्धामहितः) तथा केवलज्ञानमई ज्योतिसे प्रकाशमान मोक्षधाममें आप विराजित हैं।

भावार्थ-श्री वीरनाथ भगवानकी महिमा यहां यह बताई है कि प्रभुकी सम्यग्दृष्टी जीव ही स्तुति कर सकते हैं क्योंकि वे आपको पहिचानते हैं। मिथ्यत्वी रागी द्वेषी जीवके स्तुति योग्य आप नहीं हैं। आपको चार प्रकारके देव पूजते हैं। आपका उपदेश सब जगतके प्राणियोंका हितकर्ता है व आपने भाव मोक्ष प्राप्त करली है।

छन्द त्रोटक।

हे जिन सुर असुर तुम्हें पूजें, मिथ्यात्वी चित नहिं तुम पुजें।
तुम लोकत्रय हितके कर्ता, शुचि ज्ञानमई शिव घर धर्ता ॥१३९॥

उत्थानिका-और भी भगवानकी महिमा कहते हैं—

सभ्यानामभिरुचितं दधासि गुणभूषणं श्रिया चारुचितम्।
मग्नं स्वस्यां रुचिरं जयसि च मृगलांछनं स्वकान्त्या रुचितम् १४०

अन्वयार्थ सह भाषा टीका-हे जिन! आप (सभ्याना-

मभिरुचितम्) समवशरण स्थित भव्योंको प्रिय ऐसे (श्रिया चारुचितं) केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे अत्यन्त पुष्ट (गुण भूषणं) ऐसे अनेक गुणरूपी शोभाको (दधासि) धारण कर रहे हो तथा आप (स्वकान्त्या) अपने शरीरकी कांतिसे (स्वत्यां रुचि मग्नं) आपकी शरीरकी शोभामें डूबे (रुचितं) जगतको प्रिय (तं मृगलांछनं च) उस मृग लक्षणवाले चंद्रमाको भी (जयस्व) जीत लेते हो।

भावार्थ–आपके पास अंतरंग केवलज्ञानादि गुण व बाहर क्षुधादि दोष रहित परम शांत शरीर आदि गुण विद्यमान हैं जो सब भव्योंको अत्यन्त प्रिय हैं। तथा आपकी शरीरकी चमक ऐसी विशाल है कि उसमें चंद्रमा ऐसा डूब जाता है कि कहीं पता नहीं चलता अर्थात् आपने अपने शरीरकी शोभासे चंद्रमाको भी जीत लिया है।

छन्द त्रोटक।

हे प्रभु गुणभूषण धारधरें, श्री सहित सभा जन हर्ष करें।
तुम वपु कांती अति अनुपम है, जगप्रिय शशि जीते रुचितम है ॥१४०॥

उत्थानिका–और भी भगवानमें क्या२ गुण हैं सो कहते हैं–

त्वं जिन गतमदमायस्तव भावानां मुमुक्षुकामदमायाः।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमायः ॥१४१॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका–(जिन) हे जिनेन्द्र! (त्वं) आपमें (गतमदमायः) मान व माया नहीं है अथवा जो भव्यजीव आपका आराधन करते हैं वे मान व मायासे छूट जाते हैं (तव) आपका (भावानां मायः) जीवादि पदार्थोंका जो प्रमाण ज्ञान है वह (मुमुक्षुकामदः) मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंकी इच्छाको पूर्ण

करनेवाला है तथा वह (श्रेयान्) माया रहित परम हितकर है। (त्वया) आपने (श्री मदमायः) लक्ष्मीके मदके नाशका आगम जिससे हेयोपादेय तत्त्वका ज्ञान हो व स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति हो ऐसे कपट रहित तत्त्वका (समदमायः) व व्रत सहित इंद्रिय जयकी प्राप्तिका (समादेशि) उपदेश किया।

भावार्थ-यहां बताया है कि प्रभुने पूर्ण मार्दव व आर्जव धर्म है। जो प्रभुको पहचानते हैं वे भी मानमायाको त्याग देते हैं। प्रभुका केवलज्ञान जीवादि पदार्थोंको यथार्थ जाननेवाला है व उस ज्ञानका प्रकाश जो दिव्यध्वनिके द्वारा होता है उससे मुमुक्षु जीवोंको सच्चा मोक्षमार्ग मिल जाता है व वह बहुत परम कल्याणकारी है। आपने उपदेश ही ऐसा दिया है जिससे मायाशल्य-रहित भव्यजीव ऐसा चरित्र पालें जिससे लक्ष्मीका मद न रहे व वे स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति कर सकें व वे मुनि व श्रावकके व्रतोंको पालते हुए साक्षात् जिन व जितेन्द्रिय हो सकें।

छन्द त्रोटक।

हे जिन मायामद नाहिं धरो, तुम तत्त्व ज्ञानसे श्रेय करो।
मोक्षेच्छु कामकर वच तेरा, व्रत दमकर सुखकर मत वेरा ॥१४१॥

उत्थानिका-और भी भगवानकी स्तुति करते हैं—

गिरिभित्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः श्रवद्दानवतः।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवतः ॥१४२॥

अन्वयार्थ भाषा सह टीका-(तव गतम्) आपका पृथ्वीमें विहार (ऊर्जितम्) परम उदार व हितकारी हुआ (शमवादान् अवतः) आपने शांतिप्रद आगमकी रक्षाकी व (अपगतप्रमादान-

वतः) व सर्व प्राणियोंको अभयदान आपने दिया। आपके विहारसे किसी प्राणीको कष्ट न पहुंचा। आपका विहार (श्रीमतः दंतिनः इव) उत्तम भद्र जातिके हाथीके गमनके समान हुआ जो (श्रवद्-निवतः) अपने मदको वहानेवाला है व (गरिभित्त्यवदानवतः) जो पर्वतके किनारोंको खण्डन करता हुआ जारहा है।

भावार्थ—जैसे उत्तम हाथी विहार करता हुआ मंदमंद चालसे चलता हुआ मदको वहाता है व पर्वतके किनारोंको अपने दांतोंसे खण्डन करता है इस तरह हे प्रभु! आपका विहार पृथ्वीमें हुआ। आपने धर्मोपदेश रूपी अमृतका प्रवाह बहाया व अपने अनेकांत मतका खण्डन किया तथा आपने जिनागमका प्रचार किया व आपके विहारसे किसीको कष्ट नहीं पहुंचा।

छन्द त्रोटक।

हे प्रभु तव गमन महान हुआ, शममत रक्षक भय हान हुआ।
जिन वरहस्ती मद स्तवन करे, गिरि तटको खंडत गमन करे ॥१४२॥

उत्थानिका—अब बताते हैं कि आपके मतमें व परके मतमें क्या अन्तर है—

बहुगुणसंपदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम्।
नय भक्त्यवतंसकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥१४३॥

अन्वयार्थ सह भाषा टीका—(मधुरवचनविन्यासकलं अपि) मीठे २ वचनोंकी रचनासे भरपूर होनेपर भी (परमतं) आपसे भिन्न अन्य एकांतमत (बहुगुणसंपत असकलं) बहुत जो सर्वज्ञ वीतरागादि गुणोंकी प्राप्तिसे पूर्ण नहीं है अर्थात उनके सेवनसे आत्माका पूर्ण विकाश नहीं होसक्ता। आत्मा सर्वज्ञ वीतराग नहीं

होसक्ता। (देव) हे श्री वीर भगवान्! (तव मतं) आपका शासन (सकलं) समस्तपने (समंतभद्रं) सब तरह कल्याणकारी है तथा (नयभक्त्यवतंसकलं) आपका मत नैगमादिनय तथा उनके भंग स्यात् अस्ति आदि इन कर्ण भूषणोंसे परिपूर्ण है अर्थात् शोभायमान है।

भावार्थ-हे वीर भगवान्! आपका मत व शासन अनेक नयोंसे व भंगोंसे भलेप्रकार सिद्ध होसक्ता है व वह पूर्णपने जीवका हितकारी है। इस आत्माको सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा कर देनेवाला है इसलिये ग्रहण योग्य यथार्थ है। इसीने समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि मैंने उसे परम कल्याणकारी जानकर स्वीकार किया है। श्लोकमें समन्तभद्र शब्द रखनेसे कविने अपना नाम भी सूचित किया है तथा आपके अनेकांतमतसे विरुद्ध एकांतमत शब्द रचनामें देखे भी सुन्दर हों परन्तु वे आत्माको पूर्ण मोक्षमार्ग बतानेके लिये असमर्थ हैं, उनके सेवनसे यह जीव सर्वज्ञ वीतराग व परमात्मा नहीं होसक्ता है। धन्य हैं श्री महावीरस्वामी! आपका शासन इस समय भी हम जीवोंको यथार्थ हितकारी मार्ग बता रहा है।

त्रोटक छन्द।

परमत मृदुवचन रचित भी है, निज गुण संप्राप्ति रहित वह है।
तव मत नय भंग विभूषित है, सुसमन्तभद्र निर्दूषित है॥ १४३॥

पूर्ण किया—आश्विन वदी ८ वीर सं० २४५६ ता० १६-९-१९३०



स्वयंभूस्तोत्रका सार।

श्री समन्तभद्राचार्यने यह २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति रची है इसमें मुख्यतासे दोही बात बताई है जो मुमुक्षु जीवके लिये परम उपयोगी है। एक तो यह बताया है कि वस्तु अनेकान्त स्वरूप है। अनेक स्वभावमई वस्तुको माने विना वस्तुका ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। जो एकधर्मरूप मानते हैं उनके मतमें वस्तुका पूरा स्वभाव नहीं कहा जाता है। वस्तु अपनी अपेक्षा सत् है परकी अपेक्षा असत् है। द्रव्य व गुणोंके बने रहनेकी अपेक्षा नित्य है, पर्याय पलटनेकी अपेक्षा अनित्य है। गुण पर्यायोंका समुदाय होनेसे वस्तु एकरूप है। हरएक गुण व पर्यायरूप वस्तु भिन्न भिन्न स्वरूप है इससे अनेकरूप है। इस तरह आत्मा व पुद्गल द्रव्योंको माना जायगा तब ही भिन्न २ द्रव्य सत्रूप आदि सिद्ध होंगे व तब ही बंध व मोक्ष होना बनसकेगा। एकरूप ही माननेसे कुछ भी न बनेगा। दूसरी बात यह बताई है कि तृष्णा व विषयकी चाह कभी इन्द्रियोंके भोगोंसे शमन नहीं होसक्ती है। तृष्णा ही क्लेश है। यह क्लेश संसारकी मग्नतासे बढ़ता जाता है। इसलिये तृष्णाका नाश करना चाहिये। उसका उपाय अपने आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र है। अपने आत्माको निश्चयसे शुद्धज्ञानानन्दमई अनुभव करना चाहिये। इस स्वात्मानुभवके अभ्याससे आत्मिक सुखकी प्राप्ति होगी तब तृष्णा मिटती चली जायगी, वीतरागता बढ़ती चली जायगी। इसी आत्मानुभवके अभ्याससे चार घातियाकर्मोंका नाश होकर अर्हंत

पद होता है। फिर शुक्लध्यानसे अघातीय कर्म भी हटते हैं और यह जीव सिद्ध होजाता है। जहां अनंतज्ञानादि सुखमें मग्न होजाता है। स्वामीने जहां तहां संसारके नाशकी व मोक्ष प्राप्तिकी महिमा दिखाकर तीर्थंकरोंके जीवनको दर्शाकर यह उपदेश दिया है कि इस तृष्णामई सांसारिक क्लेशका नाश हरएक भव्य जीवको करना चाहिये। उसके लिये रत्नत्रयमई जिनधर्मका सेवन करना चाहिये। संसारसे वैराग्य भजना चाहिये। हरजगह स्तुतिका फल भावोंकी पवित्रता व संसारका नाश ही स्वामीने चाहा है। जिससे यह दिखलाया है कि हमें तीर्थंकरोंकी भक्ति उनके गुणोंको पहचानकर मात्र अपने भावोंकी शुद्धिके लिये तथा कर्म नाशके लिये करनी चाहिये, कोई इच्छा सांसारिक सम्पत्तिकी नहीं रखनी चाहिये। वास्तवमें ऐसी ही स्तुतियें नमूनेदार स्तुतियें हैं जिनसे सत्य पदार्थका बोध हो व आत्माका सच्चा हित हो। यह स्तोत्र वारवार मनन करनेयोग्य है—परमज्ञान प्रदायक है।



टीकाकारकी प्रशस्ति।

दोहा।

वासी लक्ष्मणपुर प्रवर, अग्रवाल कुल जैन।
मंगलसैन पिता महा, ज्ञानी आतम नयन ॥ १ ॥
मक्खनलाल पिता जु हैं, तृतीय पुत्र हूं नाम।
सीतल राम जन कहत हैं, प्रथम सन्त अभिराम ॥ २ ॥
सम्वत् उन्निस पैंतिसे, जन्म कार्तिक मास।
बत्तिस वय अनुमानमें, गृह तज वृष अभ्यास ॥ ३ ॥
सम्वत उन्निस सै विक्रम, वा सत्तासी जान।
अमरोहा वर्षा ऋतु, ठहरा थल शुभ मान ॥ ४ ॥
जिला मुरादाबादका, धार्मिक यह थल जान।
रहे विहारीलालजी, मास्टर गुण अमलान ॥ ५ ॥
तिनके धर्मुपदेशसे, धर्म प्रेम युत होय।
नरनारी साधत धरम, नर तन दुर्लभ जोय ॥ ६ ॥
वंश खण्डेला अग्रके, वीस भवन सब जान।
जिन मंदिर दो बन रहे, साधत वृष सुख मान ॥ ७ ॥
शाला बालक बालिका, औषधि शाला एक।
पण्डित श्री हरदेवजी, करत कार्य बहु नेक ॥ ८ ॥
वृष शाला भी एक है, आश्रय जन दातार।
रघुनन्दन परसाद हैं, धर्म ज्ञान शुभ धार ॥ ९ ॥

दास बनारस बुद्धिमय, मक्खनलाल अदीन।
लाल सिपाही प्रेममय, दुर्गादास प्रवीन ॥१०॥

गव्वी वांकेलालजी, ज्वाला सुन्दरलाल।
चांद विहारी भूषणं, शरण धर्मके लाल ॥११॥

मंत्री जैन सभा करें, बहुत धर्मकी सेव।
मूलचन्द जिनधर्म प्रिय, लखैं तत्त्व बहु भेव ॥१२॥

इत्यादी साधर्मि संग, काल धर्म मय जाय।
देवकीनन्दन लालका, उपवन बहु सुखदाय ॥१३॥

तहां ठहर वृष भावना, हेतु कार्य यह कीन।
समन्तभद्र सूरी कृत, स्तोत्र स्वयंभू लीन ॥१४॥

ताकी हिन्दी वृत्ति रच, हुआ परम हित आत्म।
स्याद्वाद चिन्तवन भया, पाया अनुभव आत्म ॥१५॥

आश्विन कृष्णा अष्टमी, चौविस छप्पन वीर।
ग्रन्थ पूर्ण शुभ यह भया, हैं प्रताप अति वीर ॥१६॥

